# हिन्दी-काव्य-मंथन

दुर्गाशंकर मिश्र

रामा प्रकाशन
नजीराबाद, लखनऊ

मूल्य—पंद्रह रुपया।
प्रथम संस्करण, नवरात्रारम्भ संवत् २०१८ वि०
अक्टूबर, १९६१

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या
अल्पश्च कालो बहुविघ्नताच।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात॥

—चाणक्य

"शास्त्र अनंत हैं, विद्या का पारावार नहीं है, समय बहुत थोड़ा विघ्न अनेक हैं; ऐसी दशा में जो सारभूत है उसे वैसे ही उपासनीय है जैसे हंस पानी से दूध निकाल लेता है।"

प्रकाशक—रामा प्रकाशन, नजीराबाद, लखनऊ।
मुद्रक—बनारसी दास मेहरोत्रा, रामा प्रेस, लखनऊ।

# वक्तव्य

काव्य साहित्य की आत्मा है और उसकी उपयोगिता व व्यापकता तो सामान्यत: इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि देश-विदेश के सभी साहित्यकारों ने काव्य के सम्बन्ध में ही अपने विचार अधिक मात्रा में व्यक्त किए हैं और इसीलिए कविता-सम्बन्धी समीक्षात्मक कृतियों की ही संख्या प्रचुर परिमाण में दीख पड़ती है। हमारे साहित्य में भी काव्यालोचन सम्बन्धी रचनाओं की ही अधिकता है और इन पंक्तियों के लेखक ने भी अपने लगभग पंद्रह वर्षों के लेखनकाल में कविता के सम्बन्ध में ही अधिक लिखा है अत: उसकी बहुत दिनों से यह अभिलाषा थी कि वह अपनी एक ऐसी समीक्षात्मक कृति प्रस्तुत करे जो कि उसके हिन्दी-काव्य-सम्बन्धी विचारों का प्रतिनिधित्व करने के साथ-साथ हिन्दी कविता की कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं पर अध्ययनपूर्ण प्रकाश भी डालती हो। इसी उद्देश्य से लेखक ने पहले अपनी 'हिन्दी कविता : कुछ विचार' नामक पुस्तक प्रस्तुत की थी पर वह अपने प्रणयन-काल के उपरांत प्रेस में दिए जाने के लगभग बाइस माह पश्चात अपूर्ण व अव्यवस्थित रूप में प्रकाशित हुई अत: लेखक की उससे तुष्टि न हो सकी और उसे प्रस्तुत कृति का प्रकाशन आवश्यक प्रतीत हुआ।

जहाँ तक हिन्दी काव्य-मंथन का प्रश्न है यह हिन्दी कविता के विकास-क्रम की कथा या हिन्दी काव्य प्रवृत्तियों का इतिहास नहीं है अपितु सन् १९४८ से अगस्त १९६१ तक समय-समय पर विभिन्न रूपों में प्रस्तुत लेखक के कविता सम्बन्धी विचारों का चारु-चयन है। इस प्रकार पुस्तक में सोलह अध्याय है और उनमें

एक ओर तो हिन्दी कविता के कई महत्वपूर्ण विषयों का शोधमूलक अध्ययनपूर्ण विवेचन है तथा दूसरी ओर लेखक के प्रतिनिधि विचारों का संचयन भी है। लेखक यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझता है कि पुस्तक में कई समस्याओं को उठाया ही नहीं गया और बहुत से विषय समीक्षा की परिधि में नहीं आए हैं पर इसका यह अर्थ नहीं है कि लेखक उन विषयों को उपेक्षणीय समझता है और जब कि वह पहले ही कह चुका है कि यह कृति हिन्दी कविता का इतिहास नहीं है अतः पुस्तक की यह न्यूनता किसी भी टीका-टिप्पणी का विषय न होनी चाहिए। आत्मालोचन की प्रवृत्ति का अभाव होने से लेखक अपनी किसी भी कृति का परिचयात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करनेवाली एक विस्तृत भूमिका प्रस्तुत करने के पक्ष में कभी भी नहीं रहा पर सुपरिचित कवि और लेखक सुहृदवर प्रो० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', डॉ० भगीरथ मिश्र तथा डॉ० रामचरण महेन्द्र ने लेखक से अपनी समीक्षा-शैली पर लिखने का संकेत कई बार किया है अतः पहले लेखक का विचार अपनी आलोचना प्रणाली पर कुछ लिखने का था पर अब यह कार्य उसकी इसी माह प्रकाशित होने वाली 'साहित्य-साधना के सोपान' में ही संभव हो सकेगा।

अंत में लेखक उन सभी शुभचिन्तकों, स्नेही मित्रों, परिचितों, सहयोगियों व आत्मीय जनों की दीर्घ तालिका देकर इस वक्तव्य की कलेवर वृद्धि नहीं करना चाहता क्योंकि वह तो 'आभार स्वीकृति' को हृदय की वस्तु मानता है; प्रदर्शन की नहीं और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में वह भी यही कहना उचित समझता है कि "न आज तक मैंने उन्हें किसी बात के लिए धन्यवाद दिया है, न अब देने की हिम्मत कर सकता हूँ। धन्यवाद को वे आजकल की एक बदमाशी समझते हैं।"

लखनऊ;<br>
१ अक्टूबर १९६१

# विषय-सूची

विषय पृष्ठांक

रस की स्वतंत्र रूप में अभिव्यंजना का अभाव—हास्य रस की कमी—वात्सल्य रस का समावेश—रस वर्णन की विशिष्टता ।



एच० एच० परखूरष्ट की दृष्टि में कला का प्रमुख लक्ष्य—कैरिट व थोरो का मत - प्लेटो ने सौन्दर्य को सरल व मंगल की वृद्धि करने वाला माना है—सौन्दर्य की पवित्रता का कारण बोसांके का मत—वाह्य सौन्दर्य के साथ मानसिक सौन्दर्य का महत्व- रूप-सौन्दर्य व प्रकृति-सौन्दर्य का वाह्य सौन्दर्य के अन्तर्गत स्थान—काव्य में प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण की परंपरा—सूर-काव्य में प्रकृति—सूर के प्रकृति चित्रण की मूल विशेषता सूर का प्रकृति-पर्यवेक्षण सम्बन्धी दृष्टिकोण—प्रकृति की कोमल वृत्तियों की प्रतिस्थापना प्रकृति वर्णन में आनन्द तत्व की अधिकता—प्रकृति-चित्रण की विभिन्न प्रणालियाँ और सूर-काव्य—उद्दीपन रूप में प्रकृति वर्णन की प्रधानता आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण - परम्परानुगत प्रथा के अनुरूप बारहमासे का चित्रण—अलंकारों के रूप में प्रकृति वर्णन की अधिकता --प्राकृतिक दृश्यों का आलंकारिक शैली में चित्रण—कृष्ण के क्रिया-कलापों की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का यथातथ्य वर्णन—प्रकृति में मानव रूप, मानव गुण, मानव क्रिया या मानव भावना का आरोप रूप चित्रण की दृष्टि से सूर काव्य की समीक्षा रूप सौन्दर्य की अद्वितीय सृष्टि—कृष्ण के रूप वर्णन का सजीव व विस्तृत चित्रण - बाल्यकाल से लेकर किशोरावस्था तक दिन दिन बढ़ते हुए कृष्ण की अगणित अवस्थाओं, परिस्थितियों व भाँति भाँति के मनोहर प्रसंगों की कल्पना कर रूप-सौन्दर्य के अनेक मधुर चित्र प्रस्तुत करना —पालने में झूलने, हँसने, माता यशोदा द्वारा सुलाये जाने, किलकने, घुटनों के बल चलने, माता-पिता का हाथ पकड़कर चलने—तुतला कर बोलने— मक्खन दूध के लिए मचलने, चंदमा के लिए हठ करने, ग्वाल बालों के साथ खेलने, गोचारण के निमित्त वन जाने, मक्खन चुराने, ऊखल से बाँधे जाने पर रोने-चिल्लाने आदि अनेक परिस्थितियों में कृष्ण की छवि का अंकन—गोपियों के भाव से चित्रित किए गए कृष्ण के असंख्य रूप-चित्र कृष्ण के रूप में मानव सौन्दर्य की श्रेष्ठ कल्पना—कृष्ण के अंग प्रत्यंग का विस्तृत चित्रण--नेत्र वर्णन में नूतन उद्भावनाएँ वस्त्राभूषणों का वर्णन—सूर की सौंदर्य भावना की व्यापकता - नारी-सौन्दर्य-चित्रण—राधा सौन्दर्य वर्णन में अनिवर्चनीयता व अलौकिकता—मानवीय रूप चित्रण की काव्यगत विशिष्टताएँ—श्री द्विजेन्द्रलाल राय का सौन्दर्य सम्बन्धी दृष्टि-कोण—अंतर्जगत के सौन्दर्य वर्णन की अनिवार्यता—भाव और रस का पारस्परिक सम्बन्ध—सूर की मानसिक प्रक्रिया का आधार उनकी भक्तिभावना

ही है—संसार की क्षण-भंगुरता से उत्पन्न निर्वेद का भाव—सूर के मानस का सर्वाधिक गहरा व आधार रूप भाव है—नूतन मनोदशाओं की अभिव्यक्ति—शृंगार का रस-राजत्व—वात्सल्य भावनाओं का मर्मस्पर्शी वर्णन—बाल हृदय के साथ साथ मातृ-हृदय का कलात्मक चित्रण—शृंगार वर्णन में अद्वितीय सफलता—शृंगार के संयोग व वियोग दोनों ही पक्षों की व्यापक और सजीव अभिव्यंजना—कुंज-बिहार, यमुना-स्नान, जल-क्रीड़ा, हिंडोला-विहार तथा रास-लीला आदि का वर्णन—नग्न शृंगार के चित्रों की अवतारणा—नायिका भेद—वचन-विदग्धा, क्रिया-विदग्धा, वासक-सज्जा, खंडिता, मानवती, उत्कंठिता, प्रोषित-पतिका, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, धीरा, अधीरा, अन्य संभोग दुःखिता आदि नायिकाओं का सुन्दर चित्रण—नायकों का स्वरूप वर्णन—शृंगार के अंतर्गत वीर रस की सफल योजना - विप्रलंभ शृंगार में व्यापकता व गंभीरता—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण आदि अंतर्दशाओं का स्वाभाविक चित्रण—कुछ नूतन दशाओं की भी योजना--हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत व वीररस की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति--उपसंहार ।



हिन्दी काव्य जगत की श्रेष्ठतम कवयित्री के रूप में मीरा—मीराबाई के नाम पर प्रचलित ग्रंथों की प्रामाणिकता—नरसी जी रो मोहरो अथवा नरसी जी का माहरा या मायरा, गीत गोविन्द की टीका, राग गोविंद और राग सोरठ आदि की प्रामाणिकता पर विचार--मीरा का गुजराती साहित्य में स्थान--क्या मीरा गुजराती भाषा की कवियित्री हैं- मीरा पदावली का महत्व--मीरा के नाम पर प्रचलित सभी पदों की रचयिता मीरा ही हैं या अन्य कोई तत्कालीन संत महात्मा या परवर्ती भक्त--हिन्दी में प्रकाशित मीरा के पदों के संग्रह—मीराबाई की पदावली का मुख्य विषय--भक्तिभावना का आधिक्य—मीरा पर निर्गुण काव्यधारा का प्रभाव--मीरा के पदों में हठयोग व रहस्यानुभूति का उल्लेख—मीरा की भक्तिसाधना का आलम्बन—माधुर्य भाव की भक्ति—मीरा राधा का अवतार हैं—मीरा की सगुण-साधना—इष्टदेव के स्वरूप का चित्रण—मीरा की माधुर्योपासना का काम-वासना से रहित होना—कृष्ण के विविध रूपों का चित्रण—विनय सम्बन्धी पद—मीरा की काव्यगत विशिष्टताएँ - भाव पक्ष की प्रधानता—इष्टदेव के प्रति पूर्वानुराग की भावना—शृंगार रस की प्रधानता—विद्यापति व मीरा की शृंगार-भावना में अंतर—विरह-भावनाओं का स्वाभाविक चित्रण—प्राकृतिक दृश्यों की अभिव्यक्ति—मानसिक भावनाओं का निरूपण—वस्तु वर्णन और ऋतु वर्णन—घटनाद्योतक पदों की बहुलता—बाल

के केन्द्र बिन्दु श्रीकृष्ण—चरित्र-चित्रण में कई नवीनताएँ—शील और शक्ति की साकार प्रतिमा कृष्ण—कृष्ण की मनोहर आकृति के साथ-साथ गुणों का भी उल्लेख—लोकसेवी और परोपकारी कृष्ण—कृष्ण के देश व समाज हित के कार्य—प्रेम और कर्त्तव्य में कर्त्तव्य को प्रधानता देना—व्यक्तिगत ऐश्वर्य के स्थान पर कर्त्तव्य परायणता के कंटकाकीर्ण शून्य पथ को अपनाना—कृष्ण का शुद्ध मानव रूप और विश्व-कल्याण में रत एक जन नेता के रूप में चित्रण—अलौकिक कृत्यों का मानवीकरण—तृणावर्त व बकासुर दैत्यों को झंझावात व भयानक पशु के रूप में चित्रण—गोवर्द्धन धारण की कथा में परिवर्तन—कवि का रासलीला सम्बन्धी सर्वथा नवीन मत—कतिपय आक्षेपों का तर्कसंगत निराकरण—बुद्धिवाद की कसौटी पर कृष्ण के चरित्र-चित्रण की समीक्षा व विशिष्टता—प्रियप्रवास में राधा का महत्व—प्रियप्रवास की राधा हिंदी साहित्य के लिए सर्वथा एक नूतन देन है—पूर्ववर्ती कवियों की तुलना में प्रियप्रवास की राधा की श्रेष्ठता—लोक सेविका राधा का सर्वथा अभिनव व मौलिक चरित्रांकन—सहृदय मृदुभाषिणी, मृगदृगी व माधुर्य की सन्मूर्ति राधा के गुणों का उल्लेख—प्रारंभ ही से समाज सेवा के भावों से युक्त होना—राधा के शैशवकालीन चित्रों का अभाव—राधा और कृष्ण के मध्य प्रस्फुटित होने वाली प्रणय भावना का चित्रण—शृंगार मूलक प्रेम लीलाओं का सर्वथा अभाव—कृष्ण वियोग में राधा की दशा का वर्णन—अन्य कवियों की तुलना में राधा के आदर्श चरित्र की प्रतिस्थापना—वियोग में गंभीरता—राधा के वेदना और कसक से पूर्ण उद्‌गार—राधा की प्रेम-उत्कंठा—पवन संदेश—बुद्धि और विवेक की सजल प्रतिमा—विषाद के क्षणों में धीरता—राधा के प्रेम का उदात्तीकरण—सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में प्रियतम श्याम की मनोहर झाँकी देखना—राधा के चरित्र-चित्रण सम्बन्धी आक्षेपों का तर्क-संगत खंडन—विरहिणी राधा का कृष्ण को लोक-कल्याण के कार्यों में संलग्न देख प्रसन्न होना—लोक सेवा के पुण्य मार्ग का अवलम्बन करने का निश्चय—स्वमानस की आकांक्षाओं को सात्विकी वृत्तियों में रंग लेना—विश्व सेवा को ही परम प्रभु की सेवा समझना—कर्तव्य व सेवा का पथ ग्रहण कर स्थूल भक्ति की अपेक्षा सूक्ष्म भक्ति को महत्व देना—नवधा भक्ति की नूतन परिभाषा—ब्रजदेवी राधा—आधुनिक महाकाव्यों की नायिकाओं की तुलना में प्रियप्रवास की राधा के चरित्र चित्रण में श्रेष्ठता—प्रियप्रवास की यशोदा—ममतामयी यशोदा का करुणापूर्ण चित्रण—कृष्ण के वियोग में यशोदा की दशा—परिस्थितियों की गंभीरता को स्वीकार करना—कृष्ण की धाई कहलाने में ही संतोष—कृष्ण-दर्शन की अभिलाषिणी यशोदा—श्रेष्ठ और उच्चतम पद प्राप्त करने की अधिकारिणी यशोदा।

# हिन्दी-काव्य-मंथन

# विद्यापति और उनकी पदावली

*Even when the sun of Hindu-religion is set, when belief and faith in Krishna and in that medicine of 'disease of existence' the hymns of Krishna's love, is extinct, still the love borne for songs of Vidyapati in which he tells of Krishna and Radha never be diminished.*

—Grierson

बंगभाषा और साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान श्री त्रैलोक्यनाथ भट्टाचार्य ने एक स्थल पर कहा है "विद्यापति और चण्डीदास की अतुलनीय प्रतिभा से समस्त-बंग साहित्य उज्जवल और सजीव हुआ है। वैष्णव गोविन्ददास से लेकर हिन्दू बंकिमचन्द्र और ब्राह्म रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक सभी उन लोगों की आभा से आलोकित हैं और उन लोगों का अनुकरण करके काव्यसृजन में व्यस्त रहते हैं। कहा जाता है स्वयं प्रसिद्ध बंगाली कवि चण्डीदास[1] विद्यापति की

१ विद्यावाचस्पति श्री व्रजनंदन सहाय 'व्रजवल्लभ' ने चंडीदास का परिचय संक्षेप में इस प्रकार दिया है—

"ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी के शेष भाग में जिस वीरभूमि जिला के केन्दुबिल्व (केन्दुली) गाँव में बंगदेश के सर्वश्रेष्ठ कवि श्री जयदेव ने जन्म ग्रहण करके स्वरचित 'गीतगोविन्द' की सरस कविता के मोहनमंत्र से आज तक सभ्यजगत को मोहित कर रखा है, उसी वीरभूमि के साकुल्लीपुर थाना के अधीनस्थ नान्नूर गाँव में अनुमानत: १३८० ई० में, श्रीचण्डीदास का राढ़ी-ब्राह्मण-कुल में जन्म हुआ। यह नान्नूर सिउड़ी से १२ कोस पूर्व है। नान्नूर में प्राचीनकाल से आज तक विशालाक्षी चतुर्भुजी देवी श्रीचण्डी का एक मंदिर विराजमान है। इस देवी का नाम बाशुलीदेवी है। चण्डीदास के पिता इसी मंदिर के पुजारी थे और श्रीदेवी के प्रसाद से पुत्ररत्न लाभ होने के कारण उन्होंने इनका नाम चण्डीदास रखा था। बचपन में ही इनके पिता इन्हें असहाय छोड़कर इस संसार से चल बसे थे। अतएव गाँव के स्वजातीय विप्रों ने इनका पालन-पोषण किया और सयाने होने पर गाँववालों ने इन्हें उसी मंदिर का पुजारी बनाया। यह मंदिर में ही रहने लगे। इसी समय एक अनाथ तथा निराश्रय राममनी नाम्नी रजक-कन्या मंदिर में झाड़-बुहार का काम करती थी और वह भी वहीं रहती थी।

**काव्य-माधुरी पर मुग्ध थे और उन्होंने कविता-सम्बन्धी विषयों पर वार्तालाप करने के लिए विद्यापति से साक्षात्कार भी किया था[1] तथा इस भेंट से सम्बंधित चार कविताएँ 'वैष्णव पदकल्पतरु' के पृष्ठ २७० में दृष्टिगोचर भी**

ये लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। बांशुलीदेवी में इनकी दृढ़ भक्ति थी। कहते हैं, देवी के आदेश से ही ये श्रीराधाकृष्ण के उपासक होकर दम्पति-लीला-सम्बंधी पद्यावली की रचना करने लगे। कालक्रमानुसार इन्हें राममनी (तारा धोबिन) के साथ प्रीति हुई। दोनों सहाग-हीन दुःखी और एक ही मंदिर के निवासी थे। राधाकृष्ण की लीला-संबंधी जिन गीतों की वह रचना करते थे, उन्हें वह तालसुर के साथ गाती फिरती थी। यह देखकर गाँव के ब्राह्मणों ने इन्हें कुचाली समझकर पहले तो इनके साथ बहुत कुछ अत्याचार किया, परन्तु जब लोगों को विश्वास हो गया कि ये देवानुगृहीत कवि ईश्वर, प्रेम के गायक तथा साधक हैं, तब लोगों का रंग बदला। उनकी अश्रद्धा जाती रही। जो हो, कवि ने बांशुली देवी के समान राममनी को भी अपनी कविता द्वारा अमर कर दिया है। कहते हैं, ये दोनों किसी गाँव में कीर्तन करने गये थे। फिरते समय अन्धड़ पानी का भारी झोंका आया। ये दोनों सतीपुर में एक घर में जा ठहरे। वायुवेग से घर गिर पड़ा और दोनों उसी के नीचे दबकर परस्पर दृढ़ालिंगन किए हुए मर गये। श्रीत्रैलोक्यनाथ भट्टाचार्य ने इस कथा को भ्रम-मूलक बताकर चण्डीदास तथा रजकी की मृत्यु सं० १४८० ई० में वृन्दावन में बतायी है।

यथार्थ मे चण्डीदास ही वंगभाषा के आदि कवि माने जायेंगे। इनकी भाषा और कविता बहुत मधुर, सरस और हृदयस्पर्शी है। इनकी कविता के श्रवण-मात्र से मन मुग्ध हो जाता है। इन्हीं की कविता का प्रभाव है कि वंग-निवासियों की दृष्टि मे नान्नूर द्वितीय वृन्दावन के समान हो रहा है।

इन्होंने 'कृष्णकीर्तन' नामक ग्रंथ बनाया था जो अद्यापि प्रकाशित नहीं हुआ है। किन्तु 'पदकल्पतरु', 'पदकल्पलतिका', 'पदामृतसमुद्र', 'पदसमुद्र' और 'गीतचन्द्रोदय' नामक संग्रह में उनकी कविताएँ पायी जाती हैं। १४०३ ई० मे इनकी कविता सर्वत्र प्रचारित हो गयी थी।"

—मैथिल-कोकिल विद्यापति : नागरी प्रचारिणी सभा, आरा

(भूमिका; पृष्ठ ६७–६९)

1 History of Bengali Language and Literature—Dr. D.C. Sen (page 136)

होती हैं। ग्रियर्सन ने इनमें से दो का रचयिता विद्यापति को माना है[1] और दो के सम्बंध में उनका मत है कि इन्हें विद्यापति के अनुगामी किसी बंगाली कवि ने लिखा होगा।

साथ ही विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी विद्यापति के कवित्व की अत्यधिक प्रशंसा की है[2] और कतिपय विचारकों की तो यह भी धारणा है कि विद्यापति की लोकप्रियता चैतन्य महाप्रभु के कारण ही बढ़ी है[3] क्योंकि अपने

---

१ देखिए—

चंडीदास विद्यापति दुहुँ जन पीरिति, प्रेम मुरतिमय कांति;
जो कएल दुहुँ जन लीलागुन बरनन निसिदिन नव नव भांति।
दुहुँ गुन सुनि चित दुहुँ उतकंठित दुहुँ दुहुँ दरसन लागि;
दुहुँक रसिकपन सुनि सुनि दुहुँ जन दुहुँ हिय दुहुँ रहु जागि।
निज निज गीत लीखि बहु भेजल, ताहि अति आरति भेल;
राधा कान्हुक प्रेम रस कउतक ताहि मगन भए गेल।
निज निज सहचर रसिक भगत वर, ता संग करत विचार;
ताहि निति नवीन परमसुख पाओत, आनन्द प्रेम अपार।
रूपनारायण विजयनारायण, वैद्यनाथ सिवसिंह;
सीतन भावि दुहुँक करु बरनन, तासु पद कमल भिंगि।
और भी—
चंडिदास सुनि विद्यापति गुन, दरसन भेल अनुराग;
विद्यापति तब चंडिदास गुन, दरसन भेल अनुराग।
.... दुहुँ उत्कंठित भेल;
संगहि रूपनारायण केवल, विद्यापति चलि गेल।
चंडिदास तव रहइ न पारइ, चललहि दरसन लागि;
पन्थहि दुहुँ जन दुहुँ गुन गाओल, दुहुँ हिय दुहुँ रहु जागि।
दैवहि दुहुँ दुहुँ दरसन पाओल, लखइ न पारइ कोइ;
दुहुँ दुहुँ नाम स्रवने तहि जानल, रूपनरायन गोइ।

2 Vidyapati is a poet whom I had loved since my childhood's days. Though strictly a Mathili poet, Vidyapati has long been loved in Bengal as one of our own. His poems and songs were one of the earliest de'ighis that stirred my youthful imagination and I even, had the previlage of setting one of them to music.

३ "विद्यापति के प्रचार का सबसे बड़ा कारण चैतन्य महाप्रभु हुए। बंगाल में वैष्णव सम्प्रदाय के ये सबसे बड़े नेता हुए। इन पर लोगों की इतनी

मिथिलाप्रवास में विद्यापति के कुछ सुन्दर पदों को सुनकर वे मंत्रमुग्ध से हो गए और फिर स्वयं ही उनके पदों को गाने लगे।[१] कहा जाता है इस प्रकार उनकी शिष्य-परम्परा में विद्यापति के पदों को गाए जाने की प्रथा दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली गई और इस प्रकार सैकड़ों वर्षों तक विद्यापति के पदों का बंगालियों द्वारा प्रचार होने के फलस्वरूप स्वयं विद्यापति ही बंगला के कवि माने जाने लगे तथा बंगाली विद्वान यह विस्मृत कर कि "विद्यापति बंगाली नहीं मैथिल हैं" उन्हें अपनी भाषा का ही कवि मानते रहे और बंग-समाज में सर्वदा उनकी प्रशंसा की जाती रही। श्री नरेन्द्रनाथदास विद्यालंकार के शब्दों में "विद्यापति की शृंगारी कविताएँ आज भी बंगाल के समाज में श्रीमद्भागवत एवं गीतगोविन्द की भाँति आदरणीय हैं"[२] परन्तु जब सर्वप्रथम श्री राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने संवत् १२८२ में 'बंगदर्शन' नामक पत्र में यह प्रकाशित किया कि विद्यापति बंगाली नहीं मैथिल थे[३] और अपने मत के प्रमाण स्वरूप उन्होंने ताम्रपत्र[४] आदि प्रस्तुत किये तब समस्त बंगाल

---

श्रद्धा थी कि वे विष्णु के अवतार समझे जाते थे। विद्यापति के ललित और पवित्र भावनाओं से पूर्ण पदों को गाकर ये इस प्रकार तन्मय हो जाते थे कि इन्हें मूर्छा सी आ जाती थी। इनके हाथों विद्यापति के पदों की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण लोगों में विद्यापति के प्रति आदर का भाव बहुत बढ़ गया। इसीलिए बंगाल में विद्यापति का आश्चर्यजनक प्रचार हुआ।"

—विद्यापतिः डा० जनार्दन मिश्र ( पृष्ठ ३२ )

१ 'चैतन्य चरितामृत में' एक स्थल पर चंडीदास के साथ विद्यापति का भी उल्लेख हुआ है; देखिए—

चंडीदास विद्यापति रायेर नाटक गीति वर्णानिट श्रीगीतगोविन्द।
स्वरूप रामानंद सने महाप्रभु रात्रि दिने गाय शने परम आनंद ।।

—चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, परि० २, पृष्ठ १०६

२ विद्यापति काव्यालोक—श्री नरेन्द्रनाथदास विद्यालंकार (पृष्ठ ५४)

३ बंगदर्शन—भाग ४; ज्येष्ठ १८७५ ई०

४ उक्त ताम्रपत्र का कुछ उल्लेखनीय अंश देखिए--

स्वस्तिश्रीगजरथपुरात् समस्तप्रक्रियाविराजमानश्रीमद्रामेश्वरी वरलब्धप्रसादभवतिभवभक्तिभावनापरायणरूपनारायण महाराजाधिराज श्री मच्छिवसिंहदेवपादस्समरविजजिनो जरैल तप्पायां 'बिसपी' ग्रामवास्तव्य सकललोकात् भूकषवकांश्च सभादिशन्ति ज्ञातुमस्तु भवताम । ग्रामोऽयमस्माभिः सप्रक्रियाभिर्नवजयदेवमहाराजपंडित ठाक्कुर–श्री विद्यापतिभ्यः शासनी कृत्य प्रदत्तोऽतोऽयमेतेषां वचनकरी भूकर्षणादि कर्म्मकरिष्यथेति

में हलचल सी मच गयी क्योंकि विद्यापति को वहाँ इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी कि उन्हें अन्यदेशीय कवि माना जाना बंगालियों को रुचिकर न लगता था अतः विद्यापति को बंगाली सिद्ध करने के लिए कई तर्क प्रस्तुत किए गए। बाबू कैलाशचन्द्र घोष ने 'बंगला साहित्य' नामक ग्रंथ में यह अभिप्राय प्रगट किया कि "विद्यापति न मैथिल थे और न मिथिला में इनका जन्मस्थान था। मैथिल होते तो बंगला भाषा पर इनका इतना अधिकार नहीं होता। पहले बंगदेशीय छात्र पढ़ने के लिए मिथिला जाया करते थे। यह भी इसी हेतु मिथिला गये होंगे और वहीं शिवसिंह के सभासद हुए होंगे। इसीसे मिथिला भाषा सीखने का भी इन्हें अवसर मिला होगा। स्काटलैंड के कवि बर्नस आदि के समान इन्होंने जातीय भाषा एवम् संस्कृत में भी कविता की है। जिस समय प्राकृत से वंग भाषा पृथक हो रही थी उसी समय विद्यापति का जन्म हुआ था। इसी से इन्होंने हिन्दी मिश्रित कविता की है।"[१] परन्तु डॉक्टर ग्रियर्सन ने अपने प्रबल तर्कों के साथ यह सिद्ध कर दिया है कि विद्यापति बंगला के नहीं अपितु मैथिली भाषा के ही कवि हैं और महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, जस्टिस शारदाचरण मित्र, बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त जैसे बंगसाहित्य के प्रसिद्ध विचारकों ने भी उन्हें मैथिली भाषा का ही कवि माना है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि मैथिली भाषा को अपनाते हुए भी विद्यापति हिन्दी के ही कवि कहे जाते हैं और उनकी पदावली को हिन्दी की उल्लेखनीय कृति माना जाता है[२]

---

१ बंगला साहित्य (पृष्ठ ३१-३३)

२ "....विद्यापति बंगाली कवि नहीं थे वरन् मैथिल थे और उनकी कविता की भाषा, जो अब तक बंगाली का एक रूप समझी जाती थी, वस्तुतः बंगाली न होकर मैथिली है।

मैथिली, बंगाली का एक रूप नहीं है वरन् बिहारी भाषा के अन्तर्गत गंगा के उत्तर में दरभंगा के आस-पास बोली जानेवाली एक बोली है। बिहारी भाषा भी मागधी अपभ्रंश से उसी प्रकार निकली है जैसे बंगाली, आसामी और उड़िया। अतः यह पश्चिमी हिन्दी, जो शौरसेनी अपभ्रंश से निकली है और पूर्वी हिन्दी जो अर्द्धमागधी अपभ्रंश से निसृत है, दोनों से, उत्पत्ति की दृष्टि से, भिन्न है। डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में 'यद्यपि राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बिहार का सम्बन्ध संयुक्त प्रान्त से रहा है किन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से यहाँ की भाषा बंगाली की बहिन है।' उक्त बात की पुष्टि हिन्दी, मैथिली और बंगाली आदि के व्याकरण और उनकी

क्योंकि स्वयं मैथिली भाषा ही पूर्वी हिन्दी का अन्यतम रूप है और फिर पदावली में तो हिन्दी शब्दों का प्रयोग प्रचुरता के साथ किया गया है अतः हमें विद्यापति को हिन्दी का ही कवि मानना चाहिए। इतना ही नहीं हिन्दी साहित्य में कृष्णकाव्य के जन्मदाता भी वही कहे जाते हैं।[1]

विद्यापति का जन्म मिथिला के विसपी ग्राम में हुआ था और उनके पिता का नाम गणपति ठाकुर, पितामह का जयदत्त ठाकुर तथा प्रपितामह का धीरेश्वर ठाकुर था। विद्यापति के पूर्वज बड़े ही विद्वान और संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे अतः उन्हें कवित्व शक्ति पैतृक ही प्राप्त थी। उन्हें राजाश्रित कवि कहा जाता है और कहते हैं शिवसिंह उनके प्रमुख आश्रयदाता थे तथा उनकी पदावली में कई ऐसे पद दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें राजा शिवसिंह और रानी लखिमा देवी का उल्लेख हुआ है। स्मरण रहे शृंगार रस का जहाँ कहीं भी वर्णन किया गया है वहाँ कवि ने यही लिखा है कि इस रस को राजा शिवसिंह

---

प्रवृत्तियों पर ध्यान देने से हो जाती है। हम देखते हैं, हिन्दी सर्वथा वियोगात्मक अवस्था (analytic stage) में है, पर बंगाली और मैथिली दोनों ही अभी संयोगावस्था (agglutionative stage) की भाषाएँ है क्योंकि षष्ठी विभक्ति के लिए हम आज भी बंगला में हिन्दी की भाँति 'राम का' न लिखकर 'रामेर' और मैथिली में भी 'रामर' लिखते हैं।

फिर भी विद्यापति को जो हम हिन्दी कवियों की श्रेणी में लाकर बिठाते है, उसके कारण हैं। आरम्भ से ही बिहार का सम्बन्ध संयुक्त प्रान्त से सांस्कृतिक रूप से रहा है अतः भावों के परस्पर आदान-प्रदान के कारण मैथिली और हिन्दी में अनेक समानताएँ आ गई हैं। यह उनके वर्णविन्यास, शब्द शैली और वाक्य-रचना-प्रणाली तक में परिलक्षित है। इसीलिए विद्यापति की पदावली को जितनी आसानी से बंगाली समझ सकते हैं उससे अधिक सुगमतापूर्वक हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त के लोग समझेंगे। और भी, मैथिली उस प्रांत की भाषा है, जहाँ हिन्दी ही साहित्यिक भाषा के रूप में अधिष्ठित है, बंगला नहीं। बिहार प्रान्त में शिक्षा का माध्यम भी तो हिन्दी ही है। अतः विद्यापति की पदावली हिन्दी-संसार की ही अमूल्य निधि है।"

- हिन्दी साहित्य : प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ—डॉ० शिवनन्दन प्रसाद (पृष्ठ ४८-४९)

१ "हिन्दी साहित्य में कृष्ण-काव्य के जन्मदाता विद्यापति हैं।"
—हिन्दी गीति-काव्य : श्री ओमप्रकाश अग्रवाल (पृष्ठ ४८)

और रानी लखिमा देवी ही जानते हैं[1] अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा शिवसिंह कवि का बहुत अधिक सम्मान करते थे। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विश्व के अन्य कई श्रेष्ठ कवियों की भाँति विद्यापति के सम्बन्ध में भी यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि रानी लखिमा से विद्यापति का प्रेम-सम्बन्ध था। इसमें कोई संदेह नहीं कि लखिमा देवी अत्यन्त रूपवती थीं और साथ ही उच्चकोटि की कवयित्री व काव्यमर्मज्ञा भी थीं। लखिमा ठकुरानी के नाम से संस्कृत के कुछ श्लोक उपलब्ध भी हुए हैं और जार्ज ग्रियर्सन ने 'लखिमा ठकुरानी के विरह गीत' शीर्षक से एक बड़ा ही सुन्दर संस्कृत श्लोक[2] इण्डियन एँटिक्वेरी में प्रकाशित कराया था जिसमें विरहव्यथा की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना की गयी है। साथ ही सहजिया सम्प्रदाय के वैष्णव भक्त विद्यापति को अपने सात श्रेष्ठ भक्तों में एक मानते हैं और उन सातों में प्रथम विल्व-मंगल हैं जिन्होंने यौवनारंभ में चिन्तामणि वेश्या से प्रेम किया था पर बाद में विरक्त होकर बहुत बड़े भक्त हुए। इसी प्रकार इस सम्प्रदाय के भक्त यह विश्वास करते हैं कि विद्यापति का राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमा से गुप्त प्रेम था[3] और बंगाली कवि नरहरिदास ने तो अपने एक पद में यही कहा है कि लखिमा राधा की प्रतिमा है तथा जब वह नेत्रों के सम्मुख होती है तब कविता शत धाराओं में फूट पड़ती है।[4] अतः ठीक-ठीक यह नहीं कहा जा सकता कि यह कहानी सत्य ही है या इसे केवल जनश्रुति वा कपोल-कल्पना समझा जाय पर इतना तो सत्य है कि विद्यापति-पदावली के श्रेष्ठतम गीत रानी लखिमा देवी व उनके पति शिवसिंह को ही समर्पित हैं और संयोग

१ उदाहरणार्थ—

राजा सिवसिंह रूप नरायन।
लखिमापति रस जान॥

और भी—

भन कवि विद्यापति काम रमनि रति कौतुक बुझ रसमन्त।
सिव सिवसिंघ राउ पुरुष सुकृत पाउ लखिमा देह रानि कन्त॥

२ वह श्लोक इस प्रकार है—

भुक्त्व भोक्तुं न भुङ्क्ते कुटिल विपलता कोटिमिन्दोवितर्का,
तारा करात्तृपार्तः पिवति न पयसां विप्रुषः पत्रसंस्थाः।
छायाम्भोरुहाणामलिकुल शवलां वीक्ष्य सन्ध्यामसन्ध्या,
कान्ताविश्लेष—भीरुदिनमपि रजनी मन्यते चक्रवाकः॥

३ कीर्तिलता—बंगला संस्करण (भूमिका, पृष्ठ १८)

४ देखिए—

लछिमा रूपिनि राधा इष्ट वस्तु जाव।
जबे देखि कविता स्फरय शत धार॥

शृंगार के अनेक मधुर गीतों में कवि लखिमा देवी को ही साक्षी रूप में प्रस्तुत करता है। श्री विमानविहारी मजूमदार का कहना है कि "पदावली के १६८ पदों में शिवसिंह लखिमा का नाम आता है। लखिमा का नाम बहुत से पदों में शिवसिंह के साथ आया है, कुछ में केवल शिवसिंह का।"[१] कई पद ऐसे हैं जिनसे यही आभास होता है कि कवि उन्हें राजा शिवसिंह और लखिमा देवी के सामने पढ़ रहा है तथा कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि मानों उन्हें शिवसिंह गा रहे हों।[२] इन पदों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति का राजा शिवसिंह व रानी लखिमा देवी के साथ सख्य भाव का सम्बन्ध था अन्यथा इस प्रकार की शृंगारिक बातों का इतना स्वच्छ चित्रण संभव न होता कारण कि कवि ने प्रायः प्रत्येक पद में यही लिखा है कि इस रस को राजा शिवसिंह और लखिमा जानते हैं या लखिमा के साथ रमण करनेवाले राजा शिवसिंह जानते हैं।

वस्तुतः विद्यापति को जो भी लोकप्रियता और प्रसिद्धि प्राप्त हुई है तथा हिन्दी गीतिकाव्य में उन्हें उल्लेखनीय स्थान दिया जाता है[३] वह उनकी मैथिली भाषा में लिखी पदावली के कारण ही, पर साथ ही उन्होंने भू परिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, शैव सर्वस्वसार, प्रमाण भूत संग्रह, गंगावाक्यावली, विभागसार, दानवाक्यावली, दुर्गाभक्ति तरंगिणी, वर्षकृत्य, गयापत्तलक, पांडव विजय नामक कृतियाँ संस्कृत में और कीतिलता व कीर्तिपताका नामक रचनाएँ अवहट्ठ में लिखी हैं। साथ ही यह भी कहा जाता है कि उर्दू में भी उन्होंने कुछ कविताएँ लिखी थीं और इस प्रकार की एक दंत कथा भी प्रचलित है कि जब उनके आश्रयदाता शिवसिंह दिल्ली के बंदीगृह में बन्द थे तब वे उन्हें मुक्त कराने के लिए दिल्ली पहुँचे और वहाँ जोबराज ने जो कि युवराज या यवनराज का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है या किसी दरबारी कवि का नाम जान पड़ता है उनसे अपनी कविता सुनाने का अनुरोध किया—

---

१ विद्यापति-संपादक श्री खगेन्द्रनाथ मित्र और डॉ० विमानबिहारी मजूमदार (पृष्ठ १८)

२ देखिए—

राजा शिवसिंह गाओलएन<br>
लखिमा देवी उदार

३ "हिन्दी के सर्वप्रथम गीतिकाव्य-लेखक विद्यापति हैं।....विद्यापति के गीतों का प्रभाव सारे पूर्वी प्रदेश पर पड़ा। बंगाल के कवियों ने, चंडीदास तक ने, इन गीतों को आदर्श रूप में ग्रहण किया और उनकी भाषा तक को स्वीकार किया।"

—विद्यापति : डॉ० शिवप्रसाद सिंह (पृष्ठ २०३-२०४)

कहे जोबराज आनी सुघर बहुत नगर कवि दलमल्यो।
गप्प सप्प तुम छोड़ि देह बदन निहारो आपनो॥

इस प्रकार जोबराज के कहने पर उन्होंने तुरन्त एक कविता सुनाई[1] जो कि उर्दू-फारसी मिश्रित भाषा में थी और इसे सुनकर बादशाह ने अत्यंत प्रसन्न होकर राजा शिवसिंह को मुक्त कर दिया तथा विद्यापति से आतिथ्य-ग्रहण करने की प्रार्थना भी की। यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि यह कविता अब मूलरूप में प्राप्त नहीं होती और उसका वर्तमान स्वरूप निश्चय ही बहुत कुछ विकृत हो गया है तथा निश्चित प्रमाणों के अभाव में यह भी ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह कविता विद्यापति की ही लिखी हुई है। साथ ही, इसी प्रकार की एक कथा और भी प्रचलित है जिसके अनुसार जब राजा शिवसिंह अपनी उद्दंडता या स्वाभिमान के कारण बंदी दशा में दिल्ली पहुँच गए थे तब जिस प्रकार चंद बरदाई पृथ्वीराज को मुक्त कराने गजनी गए थे उसी प्रकार विद्यापति भी शिवसिंह को मुक्त कराने दिल्ली पहुँचे परन्तु उन्होंने चंद की युक्ति से काम नहीं लिया। उनसे कहा गया कि यदि तुम वास्तव में कवि हो तो एक ऐसी कामिनी का वर्णन करो जो स्नान कर रही हो लेकिन जिसे तुम देख नहीं सकते हो तब उन्होंने उसी समय एक पद[2]

---

१. देखिए—

शेर फरक शमशीर फरक हौजे दरियओ अस्त
ऐन फरक आफताब फरक आसमान जा अस्त
हींग फरक काफूर फरक बिसियार बिसी अस्त
फरश्ता जरे तावताजी उभे खर अस्त
बदकस जादा दे सिलाव बप्तर चूमी सिवाय
जोबराज सोझे दिगर मुलूक पयामे ते कुली

२. वह पद इस प्रकार है—

कामिनि करए सनामे।
हेरितहि हृदय हनए पंच बाने॥
चिकुर गरए जलधारा।
जानि मुख-ससि उर रोअए अँधारा॥
कुच जुग चारु चकेवा।
निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा॥
ते संका भुजपासे।
बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे॥

रचकर सुनाया और उसे सुनकर बादशाह ने राजा शिवसिंह को तुरन्त मुक्त कर दिया, अतः इस प्रकार एक ही ढंग की इन दोनों घटनाओं में से किसे सत्य माना जाय यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है ?

कवि के जीवनवृत्त से सम्बंधित समस्याओं को छोड़ जब हम उसके कृतित्व पर विचार करते हैं तो यही देखते हैं कि उसे जो प्रसिद्धि आज प्राप्त है वह उसकी अन्य कृतियों के कारण नहीं अपितु पदावली के कारण ही है और श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने कहा भी है "इनकी पदावली अपना खास स्वरूप, अपना खास रंग-ढंग रखती है। वह कहीं भी रहे, आप उसे कितनों की कविताओं में छिपाकर रखिये, वह स्वयं चिल्ला उठेगी—मैं हिन्दी कोकिल की काकली हूँ। जिस प्रकार हजारों पक्षियों के कलरव को चीरती हुई कोकिल की काकली आकाश-पाताल को रसप्लावित और अपना स्वतंत्र अस्तित्व प्रकट करती है, उसी प्रकार इनकी कविता भी अपना परिचय आप देती है।"[१] इसमें कोई सदेह नहीं कि काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से विद्यापति की पदावली में वे सभी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कि एक श्रेष्ठतम कृति के लिए अपेक्षित हैं तथा उसकी प्रशंसा भी मुक्तकंठ से की जाती है[२] अतः हम पदावली की काव्यसुषमा पर यहाँ विस्तार के साथ विचार करेंगे।

वस्तुतः हमारी अनुभूतियों का विकास भाषा द्वारा ही होता है और उसी के माध्यम से हम अपना राग, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि दूसरों पर व्यक्त करते हैं अतः यह कहना अत्युक्ति न होगी कि विश्व के समस्त साहित्य की सुरक्षा का श्रेय भाषा को ही है और साहित्य में भावों की दीप्ति तथा उनका प्रसार भी उसी की शक्ति पर ही निर्भर है अतएव स्वाभाविक ही कुशल कलाकार इस दिशा में विशेष सतर्क रहता है। फारसी के एक कवि ने लिखा

---

तितल बमन तनु लागू।
मुनिहु क मानस मनमथ जागू॥
भनइ विद्यापति गावे।
गुनिमन धनि पुनमत जन पावे॥

१ विद्यापति की पदावली—संकलयिता, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी (परिचय; पृष्ठ ३७)

२ "विद्यापतिर जे रूप अनुकरण हइआछिल, बोध हय कोन देशे कोन कविर तद्रूप हय नाई। ताँहारइ भाषा भंगिया, चूरिया, गड़िया, गाठिया, रूपरस, छंदोबंध, भावभंगी, शब्द, उत्प्रेक्षा, उपमा, ताँहारइ पदावली हइते लइया लोक मनोमोहन वैष्णव काव्य समूह सृजित हइल।"

—श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त

भी है कि जब पक्षी और मछलियाँ सोती रहती हैं तब भी केवल एक उचित शब्द के प्रयोग की चिन्ता में ही कलाकार सारी रात जागता रहता है[1] अतः विद्यापति-पदावली के काव्य-सौन्दर्य पर प्रकाश डालते समय सर्वप्रथम उसके भाषा-सौन्दर्य पर ही विचार करना चाहिए और इसमें कोई संदेह नहीं कि पदावली की भाषा सुमधुर व सरस है।[2] यद्यपि पदावली में कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम शब्द भी विद्यमान हैं पर कवि ने सर्वत्र ही भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया है और आश्चर्य तो इस बात पर है कि मैथिली भाषा उस समय नई-नई थी लेकिन विद्यापति पदावली में उस समय भी उसमें प्रौढ़ता विद्यमान थी। सर्वत्र ही अत्यंत सुघर शब्द योजना दीख पड़ती है तथा कोमल-कांत पदावली ही पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है[3], अतः जैसा कि श्री

---

१ बाए पाकिए लफ्जे शरे बरोज आरूद।
कि मुर्ग माही व वाशन्द खुफ्तः ओ बेदाद॥

२ एक उदाहरण देखिए—

सैसव जौवन दरसन भेल।
दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल॥

मदन क भाव पहिल परचार।
भिन जन देल भिन्न अधिकार॥

कटि क गौरव पाओल नितम्ब।
एक क खीन अओक अवलम्ब॥

प्रगट हास अब गोपत भेल।
उरज प्रगट अब तन्हिक लेल॥

चरन चपल गति लोचन पाब।
लोचन क धैरज पदतल जाब॥

नव कवि सेखर कि कहइत पार।
भिन भिन राज भिन्न बेवहार॥

३ "विद्यापति की कोमलकांत पदावली प्रसिद्ध ही है। उनका एक एक पद मधुप्रवाही नद है जो प्रबलवेग से रस का संचार करता है। मंजुल, मृदुल, पेशल एव स्निग्ध शब्दों की योजना, संगीत की तरल ध्वनि, नवीन से नवीन उत्प्रेक्षाओं की उद्भावना जैसी इस पदावली में मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ ही है।"

—हिन्दी साहित्य-रत्नाकर : डॉ० विमलकुमार जैन (पृष्ठ १९)

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का कहना है "गीतगोविन्दकार वीणापाणि के वरपुत्र जयदेवजी की मधुर पदावली पढ़कर जैसा अनुभव होता है वैसा ही विद्यापति की पदावलियों को पढ़कर। अपनी कोकिलकंठता के कारण ही वे मैथिल कोकिल कहलाते हैं।"[१]

यद्यपि रस को काव्य की आत्मा कहा जाता है किन्तु अलंकार विहीन कविता में तो काव्यगत सुषमा का निरा अभाव ही रहता है और 'चन्द्रालोक' के रचयिता 'जयदेव' की दृष्टि में जो विद्वान अलंकार विहीन शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को भी उष्णता रहित क्यों नहीं मानते[२] तथा दंडी ने 'काव्यादर्श' में काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले धर्मों—विशिष्ट गुणों— को अलकार कहा है। दंडी का कहना है कि जिस प्रकार हारकुंडल आदि आभूषण शरीर-शोभा की वृद्धि करते हैं उसी प्रकार अनुप्रास, उपमा आदि काव्य के शरीरभूत शब्द अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं।[३] कहा जाता है कि विद्यापति की कवित्व-शक्ति ईश्वर प्रदत्त ही थी और भारती उनकी पति-परायणा पत्नी की भाँति थी जो उनके साथ दर्भांकुरन्यस्त भूमि पर व मृदूत्तर-च्छदवती शय्या पर समान रूप से विहार करती थी[४] अतः पदावली में अलंकारों का स्वभाविक ही प्रयोग हुआ है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यही प्रतीत होता है कि अलंकारों में उत्प्रेक्षा ही कवि को अधिक प्रिय थी क्योंकि पग-पग पर हमें एक से एक सुन्दर व चित्ताकर्षक उत्पेक्षाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे—

---

१ हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—श्री. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पृष्ठ १५०)

२ अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थवनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

३ काव्यशोभाकरात् धर्मालंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि कस्नान् कात्स्न्र्येन वक्ष्यति॥

४ विद्यापति ने सरस्वती-प्रार्थना में निम्नांकित श्लोक लिखा है, जिससे उनके मन के इस भाव की पुष्टि होती है—

द्वा सर्वार्थसमागमस्य रसनारंगस्थली नर्तकी
तत्वालोकन—कज्जल ध्वजशिखा वैदग्ध्याविश्र मभूः
शृंगारादिरसप्रसाद-लहरी स्वर्ल्लोक—कल्लोलिनी
कल्पान्तस्थिर कीर्तिसंभ्रम-सखी सा भारती पातु वः

सुन्दर बदन चारु लोचन
काजररंजित भेला।
कनकर कमल मांझ काल-भुजंगिनी
स्रीयुत खंजन खेला।।
नाभि विवर सयँ लोम-लतावलि
भुजनि निसास-पियासा।
नासा खगपति-चंचु भरम-भय
कुच-गिरि-संधि-निवासा।।

अर्थात् चंद्रमुखी बाला के सुन्दर मुख में काजलयुक्त ललित लोचन ऐसे प्रतीत होते हैं मानों कि स्वर्णकमल में कालसर्पिणी शोभा प्रद खंजन की भाँति क्रीड़ा कर रही हो। नाभि विवर से निकली रोमराशि ऐसी जान पड़ती है मानो कि सुवासित श्वासवायु का पान करने हेतु सर्पिणी ऊपर की ओर बढ़ी हो लेकिन नुकीली नासिका को गरुड़ की चोंच समझ कर भयवश कुचरूपी दो पर्वतों के मध्य मिलन स्थान में आ छिपी हो। इसी प्रकार एक स्थल में कवि ने नायिका की त्रिबली को कामदेव को आबद्ध करनेवाली पाशलता मानकर यह उत्प्रेक्षा की है कि पीन नितम्बों के भार से नायिका चलने में असमर्थ है और उसके उदर पर पड़ी हुई त्रिबली ऐसी प्रतीत होती है मानों कि वह रतिराज को उलझाकर भागने से रोक रही हो।[1] साथ ही अज्ञातयौवना बाला के सुन्दर मुख पर अरुण अधर कवि को ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानों कि सरोरुह के साथ मधुर पुष्प विकसित हुआ हो और उस सुन्दरी के दोनों ललित लोचन मुख कमल पर इस प्रकार दीख पड़ते हैं मानों कि भ्रमर मधुपान कर उड़ने में असमर्थ हो वहीं रुक गए हों।[2] कवि यह भी कहता है कि नायिका के खुले हुए केश उरोजों पर छिटके हुए हैं और उनके मध्य हार के श्वेत मोती इस प्रकार चमक रहे हैं मानों कि सुमेरु पर्वत पर चन्द्रमा को पीछे छोड़कर सभी तारे उदय हुए हों।[3] उत्प्रेक्षा की भाँति कवि ने उपमालंकार

---

१ गुरु नितम्ब भरे चलए न पारए
माझ खानि खीनि निमाई।
भगि जाइत मनसिज धरि राखलि
त्रिबलि लता अरुझाई।।

२ मुख मनोहर अधर रंगे। फूललि मधुरी कमल संगे।।
लोचन जुगल भृंग अकारे। मधुप मातल उड़ए न पारे।।

३ कुच जुग परसि चिकुर कुजि पसरल ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल चाँद बिहिनु सब तारा।।

का भी सफलता के साथ वर्णन किया है और पदावली में तो नायिका के ललित लोचनों का वर्णन ही प्रायः उपमाओं की सहायता से किया गया है ; जैसे—

नीर निरंजन लोचन राता।
सिन्दुर मंडित जनि पंकज पाता॥

अर्थात् जल में स्नान करने के फलस्वरूप नेत्र अंजनहीन और अरुण हो गये हैं मानों कमल के पत्ते सिन्दूर के रंग में रंग दिए गए हों।

उत्प्रेक्षा व उपमा के अतिरिक्त कवि ने अन्य अलंकारों का भी प्रयोग किया है और विद्यापति-पदावली में अनुप्रास[1], यमक[2], श्लेष[3], अतिशयोक्ति[4], व्यतिरेक[5] मीलित[6], पर्यायोक्ति[7], तद्गुण[8] अर्थान्तरन्यास[9], परिकर[10],

---

१ मधु रितु मधुकर पाँति। मधुर कुसुम माति।
मधुर वृन्दावन मांझ। मधुर मधुर रसराज॥

२ सारँग नयन बयन पुनि सारंग। सारँग तसु समधाने।
सारँग ऊपर उगल दस सारँग केलि करथि मधुपाने॥

३ अतय चलहु सखि भीतर कुंज।
जहँ रह हरि महाबल पुंज॥

४ कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने।

५ अधर विम्ब अध आई
भौंह भमर नासापुट सुन्दर
से देखि कीर लजाई॥

६ देह जोति सारी किरन समाइल
के विभिनावए पार।

७ मरमक वेदन मरमहि जान
आनक दुख आन नहि जान।

८ अनखुन माधव माधव रटइत
सुन्दर भेलि मधाई।

९ कहहु विसनु मत अवगुन सजनी
तनि मम मोहि नहि आन।
कतेक जतनमँ मेटिय सजनी
मेटय न रेख परवान।

१० तुहु रस आगर नागर ढीठ।
हल न बुझिअ रस तीत को मीठ॥

असंगति[1] और अपन्हुति[2] नामक अलंकारों का भी सफलता के साथ प्रयोग किया है तथा कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें कि कई अलंकारों का संकर या संसृष्टि भी पाई जाती है, जैसा कि निम्नांकित उदराहण में उपमा, रूपक और विरोधाभास का संकर है—

चिकुर निकर तम सम
पुनु आनन पुनिम ससी।
नयन पंकज के पति आओत
एक ठाम रह बसी ॥

साथ ही विद्यापति पदावली में लोकोक्तियों, मुहावरों और कहावतों की भी अधिकता है तथा उनकी भाषा सर्वत्र प्रवाहमयी है और उसमें माधुर्य व प्रसाद गुणों की अधिकता सी है। कहीं कहीं उनकी भाषा में लाक्षणिकता व ध्वन्यात्मकता भी दृष्टिगोचर होती है और इस प्रकार विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि ने जो अपनी भाषा पर गर्व करते हुए कीर्तिलता में यह गर्वोक्ति की थी कि बालचन्द्रमा और विद्यापति की भाषा इन दोनों को दुर्जनों की हँसी कलंकित नहीं कर सकती, वह उचित ही है।[3]

---

१ दाठ अपराध पुरान पय पीड़ा
मे तुअ कौन विवेक ?

२ अतन बेदन मोहि देस मदना।
हर नहि बाला मोहि जुवति जना।
बिभूति भूषन नहिं चानन क रेनू।
बाघ छाल नहि मोरा नेतक बसनू।
नहि मोर जटा भार चिकुर क बेनी।
सिर सुरसरि नहि कुसुम क सेनी ॥
चाँदन क बिन्दु मोर नहि इंदु छोटा।
ललाट पावक नहिं सिन्दुर क फोटा ॥
कंठ गरल नहि मृगमद चारू।
फनिपति नहिं मोरा मुकुता हारू।
भनइ विद्यापति सुनु देब कामा।
एक भए दूखन नाम मोर बामा ॥

३ बालचंद बिज्जावइ भाषा।
दुहु नहि लग्गई दुज्जन हासा ॥
ओ परमेसर हर शिर सोहई।
ई णि नाअर मन मोहई ॥

विद्यापति-पदावली के पद प्रधानतः तीन श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं—शृंगार-सम्बन्धी, भक्ति-सम्बन्धी और विविध। विविध के अंतर्गत उन पदों को लिया जाता है जिनमें राजा शिवसिंह के राज्याभिषेक का वर्णन है तथा प्रहेलिका और कूट भी इसी श्रेणी के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। भक्ति-सम्बंधी पदों में शिव की नचारियाँ, गंगा, दुर्गा और गौरी की प्रार्थनाएँ आती हैं तथा शृंगार-सम्बन्धी पदों में राधा-कृष्ण के सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण करने वाले पदों की गणना की जाती है। स्मरण रहे, जिस प्रकार जयदेव ने गीतगोविन्द में राधाकृष्ण के सौन्दर्य और प्रेम से परिपूर्ण चित्रों को अंकित किया है उसी प्रकार पदावली में भी राधाकृष्ण के सौन्दर्य और प्रेम-सम्बन्धी प्रसंगों की ही अधिकता है।[१] विद्यापति रचित भक्ति-सम्बन्धी पदों के विषय में कहा जाता है कि उनकी शिव विषयक नचारियाँ तो अभी भी मंदिरों में गाई जाती हैं और श्री कृपानाथ मिश्र का मत है कि बंगाल में तो इन प्रणय-विषयक गीतों को किसी भी भाँति धार्मिक स्तवों से कम

---

१. देखिए—

"विद्यापति ने अपनी पदावली का सृजन जयदेव के 'गीतगोविन्द' की शैली का अनुकरण करते हुए किया है। संस्कृत-गीति-काव्य के क्षेत्र में जयदेव की इस कृति को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है और यही कारण है कि विद्यापति ने इसे आदर्श के रूप में ग्रहण करते हुए रम्य-मधुर पद-विन्यास को विशेष महत्व प्रदान किया है। अभिव्यक्ति के इस उपकरण के साथ-साथ उन्होंने विषय-प्रतिपादन करते समय भी अपने आदर्श का अनुकरण किया है और यही कारण है कि साहित्य मनीषियों ने उन्हें सहज ही 'अभिनव जयदेव' की सम्मान्य संज्ञा प्रदान की है।"

—हिन्दी-काव्य-दर्शन : डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त (पृष्ठ ३२)

और भी—

"विद्यापति की कविता में शृंगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है। भाव, आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का दिग्दर्शन उनकी पदावली में सुन्दर रीति से मिल सकता है। उनके सामने विश्व के शृंगार में राधा और कृष्ण की ही मूर्तियाँ हैं। स्थायी भाव रति तो पदावली में आदि से अन्त तक है ही। आलम्बन विभाव में नायक कृष्ण और नायिका राधा का मनोहर चित्र खींचा गया है। उनके बीच में ईश्वरीय अनुभूति की भावना नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक हैं और दूसरी ओर यौवन और सौन्दर्य की सम्पत्ति लिये राधा नायिका।"

—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; डॉ० रामकुमार वर्मा (पृष्ठ ५०७)

नहीं समझा जाता ।[1] श्री सुशीलकुमार चक्रवर्ती ने भी अपने ग्रंथ 'वैष्णव साहित्य' में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि विद्यापति के अनेक अश्लील पदों को वैष्णव समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है[2] और डॉक्टर ग्रियर्सन ने भी यही कहा है कि "इंद्रिय जनित कलुषित भाव से रहित हो हिन्दू भक्त विद्यापति के सुन्दर पदों का पाठ उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार सालोमन के गीतों का अंग्रेज पादरी गान करते हैं ।"[3] इस प्रकार विद्यापति के पदों का भक्तिपरक महत्व भी स्वीकार किया जाता है अतः अब यहाँ यह भी विचार करना होगा कि विद्यापति को शृंगारी कवि माना जाय या भक्त ?

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने विद्यापति के पदों को शृंगारी ही कहा है और उनकी दृष्टि में पदावली के राधा व कृष्ण काल्पनिक ही हैं तथा उनका कहना है कि उस समय कवियों में यह प्रथा-सी थी कि कृष्ण और राधा को नायक-नायिका मानकर शृंगार रस पूर्ण चित्र अंकित किए जायें

---

१ कविता कौमुदी (बंगला)—सातवाँ भाग (पृष्ठ ५१)

२ श्री चैतन्य स्वयं कांतभावे भजन करितेन बलियाइ, जयदेव, चंडीदास ओ विद्यापतिर पदावली ते अमन मुग्ध हइया पड़ितेन । एइ सकल पदे याहा इह सर्वस्व अंतदृष्टि शून्य खोसा भक्षण कारीर निकट रूप वर्णना ओ नायक नायिकार शारीरिक सम्बन्धेर चित्रांकन ताहा श्रीचैतन्य ओ ताँहार साधन पथावलंबी दिगेर विकट मधुर रसेर प्रेम साधनार भजन गीति ओ परम प्रियतमेर निकट आत्मनिवेदनेर मधुर झंकार ।"

और भी—

'ए विषयेर आर आलोचना करिते गेले अनाधिकार चर्चा हइया पड़िवे । कारण अनेक भक्त वैष्णव एइ अश्लीलता दोष पदागुली गाहिप्ते गाहिप्ते पुलकाश्रुपूर्ण लोचने भावे विह्वल हइया यान, अनेक वृद्ध वैष्णव निशीथे नितान्त अंतरंग संगे एइ सकल पदेर आलोचना करिया, अविरल अश्रुमोचन करिया थाकेन । साधारण पाटकेर निकट याहा निंदनीय, भोग विलासरे संभोगेर विस्तृत निपूण वर्णना सेइ पदइ भक्त वैष्णवर निकट ये मधुर तत्वेर द्वारा उद्घाटन करियादेय ताहा बुझिसार साध्य आमादेर नाई ।"

—वैष्णव साहित्य : श्री सुशीलकुमार चक्रवर्ती (पृष्ठ १३९-२८४)

3 The glowing stanzas of Vidyapati are read by the devout Hindu with a little of the best part of human sensousness as the songs of Solomon by the Christian priests."

—J. A. S. Bengal Extra No. to part 1. for 1882, p.36,

अतः यही प्रणाली विद्यापति ने भी अपनाई है। शास्त्री जी का यह भी कहना है कि विद्यापति ने ये पद अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए लिखे हैं और उनकी संस्कृत कृतियों में कहीं भी राधाकृष्ण का उल्लेख नहीं है अतः उन्हें शृंगारी कवि कहना ही उचित है। इसी प्रकार एक अन्य विचारक ने भी राधा और कृष्ण को शृंगारिक नायक-नायिका ही माना है[1] तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[2] और श्री शुकदेवबिहारी मिश्र[3] भी विद्यापति को शृंगारी कवि ही मानते हैं। इसी प्रकार डॉ० बाबूराम सक्सेना ने भी कीर्त्तिलता की भूमिका में स्पष्ट रूप से यही कहा है कि "विद्यापति के पदों के अध्ययन से पता चलता है कि वे बड़े शृंगारी कवि थे....। इन पदों को राधाकृष्ण की भक्ति पर आरोपित करना पद-पदार्थ के प्रति अन्याय है।" साथ ही डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "विद्यापति ने राधाकृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्यदेव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्यभाव से जो उपासना की गई है उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली नायिका की भाँति हैं। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है।"[4] डॉ० विनयमोहन शर्मा का भी यही मत है कि "कवि ने राधाकृष्ण के सच्चे प्रेम को, जिसे भक्ति कहते हैं, कहीं नहीं दिखाया है और वह उसका उद्देश्य भी नहीं था। उन दिनों मिथिला में भक्ति की विशेष चर्चा भी नहीं थी जैसी कि चैतन्यदेव के समय बंगाल में

---

1. "To him Krishna was just a Knight-errant and Radha his la-belle."

—A History of Hindi Literature By K. B. Jindal (p. 99)

२ विद्यापति के पद अधिकतर शृंगार के ही हैं, नायिका और नायक राधाकृष्ण हैं।....इन्होंने इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्ण-भक्तों की परम्परा में न समझना चाहिए।"

—हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं रामचन्द्र शुक्ल (पृष्ठ ५७)

३ "आपकी कृष्ण-भक्ति सम्बंधिनी रचना में लौकिक शृंगार की ध्वनि बहुत देख पड़ती है, यहाँ तक कि अश्लीलता की मात्रा कुछ प्राचुर्य के साथ आ गई है।"

—हिन्दी साहित्य और इतिहास : श्री शुकदेवबिहारी मिश्र (पृष्ठ १२४)

४ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृष्ठ ७२६)

थी। विद्यापति किसी विरक्त समाज के नहीं थे जिससे कि उनके हृदय में भक्ति का स्त्रोत उमड़ता अतः हम उन्हें विशुद्ध शृंगारिक कवि ही मानते हैं।"[१] साथ ही डॉ० उमेश मिश्र ने भी लिखा है "जितनी कविताएँ राधा कृष्ण को लेकर कवि ने बनाईं प्रायः सभी शृंगारिक हैं और कवि ने संसार के स्त्री-पुरुष को राधा-कृष्ण के नाम से अन्योक्ति रूप में मिथिलादेशीय सब प्रकार के मनुष्यों के उचित आचार-विचार तथा व्यवहार के अनुकूल शृंगारिक मात्र सभी बातों का संग्रह अपने पदों में किया है। राधा-कृष्ण के नाममात्र से यह न समझना चाहिए कि लेखक केवल भक्ति रस की पराकाष्ठा पर पहुँच-कर जीवब्रह्म के ऐक्य ही को शृंगारिक शब्दों में कह रहा है।"[२] इधर विचारकों का यह भी मत है कि मिथिला में राधा और कृष्ण के गीतों को धार्मिक महत्व दिया ही नहीं गया तथा डॉ० सुभद्र झा ने The songs of Vidyapati की भूमिका में भी यही विचार व्यक्त किया है[3] अतः हम देखते हैं कि विद्यापति को शृंगारी कवि माननेवाले विद्वानों की संख्या अधिक है परन्तु कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो उन्हें केवल भक्तरूप में देखते हैं। स्वयं डॉ० उमेश मिश्र की दृष्टि में विद्यापति प्रारम्भ में शृंगारी कवि ही थे परन्तु "जीवन का अन्त आने के पहले कुछ दिन पूर्व इस संसार से विरक्त हो गए और उन्होंने अवशिष्ट समय में केवल शिव की नचारी तथा कृष्ण-कीर्तन के ही पद बनाए" [४] लेकिन यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्व० श्री शिवनंदन ठाकुर ने इस बात का खंडन किया है कि विद्यापति ने इन पदों की रचना कृष्ण-कीर्तन के लिए की थी।[५] इतना होते हुए भी विद्यापति को भक्त कवि माननेवाले समीक्षकों की संख्या कुछ कम नहीं है और सहजिया सम्प्रदाय में

---

१ दृष्टिकोण—डॉ० विनयमोहन शर्मा (पृष्ठ १२७)

२ विद्यापति ठाकुर--डॉ० उमेश मिश्र (पृष्ठ ५४)

3 It may here be marked that in Mithila, the Radha Krishna songs never became religious. As they were replete with expressions of love they passed into the category of ordinary erotic songs, along the side of those that had nothing of Radha-Krishna in them. All the erotic songs began to be employed for similar purposes particularly on the occasion of marriages."

—The songs of Vidyapati—Dr. Subhadra Jha (Intro. p. 96)

४ विद्यापति ठाकुर—डॉ० उमेश मिश्र (पृष्ठ ५४)

५ "विद्यापति के पद कीर्तन के लिए नहीं बनाए गए थे। नगेन्द्र बाबू ने बड़ा अन्याय किया कि कीर्त्तन के अनुरोध से विद्यापति के पदों का

तो उन्हें सात रसिक भक्तों में चुना गया है। डॉ० श्यामसुन्दरदास भी उन्हें भक्त कवि ही मानते हैं और उनकी दृष्टि में तो "विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीला का जो विशद वर्णन किया है उस पर विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क मतों का प्रत्यक्ष प्रभाव है।"[1] साथ ही पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के शब्दों में "मैं सोचता हूँ कि उस समय पौराणिक धर्म विशेषकर श्रीमद्भागवत जैसे वैष्णव ग्रंथों के प्रभाव से वैष्णव धर्म का जो उत्थान देश में नाना रूपों में हो रहा था उसी के प्रभाव से बंगाल प्रान्त में चंडीदास की और बिहार भूमि में विद्यापति की रचनायें प्रभावित हैं।"[2] परन्तु पदावली में स्पष्ट रूप से शृंगारिक पदों की ही बहुलता के कारण और कहीं-कहीं अश्लीलता की अधिकता के फलस्वरूप[3] कुछ विचारकों ने विद्यापति

---

थे उसी क्रम से प्रकाशित करना उचित था। विद्यापति राजकवि और राजसभासद थे। उन्हें जिस तरह का गाना बनाने की फरमाइश मिलती थी, उसी तरह का गाना बनाते थे और राजा को प्रसन्न रखने के लिए राजा और राजपरिवार के नाम भी उसमें जोड़ दिये जाते थे। अनेक समय विद्यापति ने फरमाइश करने वाले राजा को श्याम और उनकी प्रिय पत्नी को राधा मानकर गाना गाया है।....विद्यापति ने स्वयं जिन पदों की रचना की है वे सबके सब शृंगार रस के पद हैं--राधाकृष्ण के पद या वैष्णवों के पद नहीं हैं।"

--महाकवि विद्यापति : श्री शिवनन्दन ठाकुर

१ हिन्दी साहित्य डॉ० श्यामसुन्दरदास (पृष्ठ २१४)

२ हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास--पं अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पृष्ठ ११९)

३ उदाहरणार्थ--

निबि बंधन हरि किए कर दूर।
एहो पए तोहर मनोरथ पूर॥
हेरते कओन सुख बुझ न बिचारि।
बड़ तुहु ढीठ बुझल बनमारि॥
हमर सपथ जौं हेरह मुरारि।
लहु लहु तब हम पारब गारि॥
बिहर से रहसि हेरने कौन काम।
से नहि सहबहि हमर परान॥
कहि नहिं सुनिए एहन परकार।
करए बिलास दीप लए जार॥
परिजन सुनि सुनि तेजब निसास।
लहु लहु रमह सखीजन पास॥
भनइ विद्यापति एहो रस जान।
नृप सिबसिंघ लखिमा बिरमान॥

को रहस्यवादी कवि मानते हुए उनके शृंगार रस पूर्ण पदों में रहस्यवादी भावना भी आरोपित करने की चेष्टा की है। इन समीक्षकों का कहना है कि इन पदों में कृष्ण का अर्थ है परमात्मा और राधा का अर्थ है जीवात्मा तथा दूती का अर्थ है मार्गप्रदर्शक गुरु अतः इसका अभिप्राय यह है कि गुरु की सहायता से ही जीवात्मा व परमात्मा का मिलन होता है; इसलिये भक्त ईश्वर को पति और अपने को पत्नी समझकर ईश्वरोपासना करता है तथा उसकी यह उपासना माधुर्योपासना कहलाती है और भक्ति शृंगारपरक दाम्पत्य भाव को स्वीकार करती हुई चलती है। यों तो उपनिषदों में भी इसी प्रकार की शृंगारिक भावनायें दीख पड़ती हैं[1] और स्वयं जयदेव ने भी शृंगार के आधार पर ही भक्ति-भाव को स्वीकार करना उचित समझा है।[2] डॉ० ग्रियर्सन ने तो विद्यापति के पदों को रूपक मानते हुए यही कहा है "The people of a colder western climate, have contented themselvels with comparing the inafiabla love of God to that of a father to his children, which the wormer climates of tropics have led to the seekers after truth to compare the love of the worshipper for the worshipped to that of supreme mistress Radha for her supreme Lord Krishna."[3] डॉ० ग्रियसन के विचारों के अनुरूप ही डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने भी विद्यापति की कविता को ईश्वरोन्मुखी माना है और उनकी

---

१ तद्यथा प्रियया स्त्रियाँ संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरे।
एव मेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचवेदन् नांतरम ॥

जायया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेदनान्तरम्।
निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्तम् मन्यते विधिम ॥

२ यदि हरि स्मरणे सरसं मनो,
यदि बिलासकलासुकूतहलम्।
मधुर कोमलकांत पदावली,
श्रणु तदाजयदेवसरस्वतीम्।

3 Introduction to a Christomathy of the Maithili Language, Pt. 36 (Extra Number to Journal Asiatic Society Bengal, Part 7, 1882)

दृष्टि में पदावली में रहस्यवाद की अनुपम छटा है। उनका स्पष्टतया यही मत है कि विद्यापति का काव्य गुलाब है, चारों ओर से केवल गुलाब। वह आनन्द निकुंज है। वहाँ हमें उ. स्वर्ग का दर्शन होता है--वृन्दावन की कृष्ण लीला शाश्वत है। वृन्दावन मानव का हृदय देश है। यमुना का किनारा इ । संसार का प्रतीक है जो राधा व कृष्ण अर्थात् जीव और ईश्वर की लीलाभूमि है। बाँसुरी की ध्वनि अवश्य सत्ता की ध्वनि है जो जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आह्वान है।[१] इसी प्रकार बाबू नगेन्द्र-नाथ गुप्त ने भी २ फरवरी सन् १९३५ को पटना सिनेट हाल में दिए गये अपने भाषण में यही सिद्ध करना चाहा है कि विद्यापति पदावली के शृंगारिक पदों का यही अभिप्राय है कि जीवात्मा परमात्मा को खोज रही है और उनसे एकांत मिलन के हेतु लालायित है। डॉ० ग्रियर्सन, डॉ० आनन्दकुमार स्वामी और श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त के विचारों का समर्थन करते हुए डॉ० जनार्दन मिश्र ने भी यही कहा है "विद्यापति के समय में रहस्यवाद का मत जोरों पर था। उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अवलम्ब करना उन्हें शायद अभीष्ट न था, अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति उनमें न थी। इसीलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की धारा जो उमड़ रही थी उसमें उन्होंने अपने को बहा दिया।"[२]

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो विद्यापति को रहस्यवादी सिद्ध करना उचित नहीं है क्योंकि रहस्यपरक रूपक-विधान कदाचित ही उनके किसी पद में दृष्टिगोचर होता हो और यदि अशिखापादांत परिश्रम करने पर हम उनके किसी एकाध पद में रूपक का संगति-निर्वाह कर भी लें तो भी विद्यापति पदावली में अनेक ऐसे पद हैं जिन्हें किसी भी प्रकार रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वयः संधि, सद्यः स्नाता और नखशिख सम्बन्धी पदों में तो रूपक विधान का निर्वाह किसी भी प्रकार से नहीं होता। डॉ० सुभद्र झा ने

---

1 Vidyapati is roses, roses all the way, is a Bower of Bliss there we have the early paradise as it were of an Indian willium morris—Jamuna bank in Vaishnava literature stands for this world regarded the constant meeting place of Radha and Krishna where amidst the affairs of daily life the soul is arrested, beguiled to her undoing in the flute of Krishna there is call of Infinite.

२ विद्यापति —डॉ जनार्दन मिश्र (पृष्ठ ४७)

स्पष्ट रूप से यही कहा है कि विद्यापति के पदों में प्रतीकात्मता नहीं है[1] और डॉ० विनयकुमार सरकार तो "But the earthly element, the physical beauty, the pleasures of sense are too many to be ignored." नामक उक्ति द्वारा शृंगारिक वर्णनों को रूपक का स्वरूप देकर रहस्यवादी सिद्ध करने के प्रयास को शृंगार की हीनता सिद्ध करना समझते हैं तथा वे किसी भी प्रकार विद्यापति को रहस्यवादी कवि मानने के पक्ष में नहीं हैं।[2] वस्तुतः जायसी और कबीर आदि की सूक्तियों की भाँति विद्यापति के पदों में किसी भी प्रकार का न तो रहस्योद्घाटन ही होता है और न उनमें मतावलंबियों की भाँति रहस्य-भावना ही दृष्टिगोचर होती है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह के शब्दों में विद्यापति पर रहस्यवाद का प्रभाव, खास तौर से सिद्ध सूफी रहस्यवाद का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि सिद्ध और सूफी दोनों ही जिन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं, वे विद्यापति में नहीं पाये जाते। विद्यापति में न तो सिद्धों की सहज समाधि है, न षटचक्र, न कुंडलिनी, न हठयोग और न तो मन के भीतर ही साधना द्वारा आत्मलय होने की प्रक्रिया। विद्यापति न माया की बात करते हैं, न ब्रह्म की और न तो किसी सद्‌गुरु की शरण में जाने का उपदेश देते हैं। उन्हें 'सबद' की चोट नही लगती और न तो अनाहत नाद का आकर्षण खींचता है। वे किसी अखण्ड नाद को जो जगत् के अन्तकाल में निरन्तर गूँजता रहता है, सुनने के लिये कभी दौड़े नहीं। न उसकी चर्चा की, न तो क्रिया विशेष से सुषुम्ना के पथ को उन्होंने उन्मुक्त किया और न तो, कुन्डलिनी जगाकर ब्रह्मरंध्र में पहुँचाने का प्रयत्न ही किया, न तो उपाधि रहित शब्द के प्रणव तत्व की बात करते हैं। न तो अखण्ड सत्तारूप ब्रह्म के वाचक स्फोट की चर्चा करते हैं। उसी प्रकार उनके यहाँ 'महासुह' वर्णन नहीं है। न माया का तरुवर है और न पंच विडाल। विद्यापति पर सूफी रहस्यवाद के प्रभाव की बात उठाना भी व्यर्थ है। सूफी धर्म का प्रचार शुरू हो गया था इसमें कोई शक नहीं, पर मिथिला की तरफ १४वीं शताब्दी में उसके प्रचार के संकेत-प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। होते भी हैं तो विद्यापति के काव्य में इसका प्रभाव ढूँढना अनुचित है। सूफी रहस्यवाद का प्रभाव यदि विद्यापति पर होता तो शक्ति, विष्णु, माधव,

---

1 The Songs of Vidyapati—Dr. Subhadra Jha (Intro. p. 183)

2 Love in Hindu Literature—Dr. B. K. Sarkar (P. 47-48)

राधा, शिव और बुद्धदेवों की स्तुति वे नहीं गाते क्योंकि सूफी धर्म मूलतः एकेश्वरवादी है। सूफी मत बहुत सी बातों में भारतीय अद्वैत मत से मिलता-जुलता है। यह सत्य है कि सूफी साहित्य में भी प्रेम-साधना पर ही जोर दिया गया है। कुछेक विद्वान इसीलिए कभी-कभी रागानुगा कृष्णभक्ति को सूफी रहस्यवादी काव्य की प्रेम-पीर वाली प्रवृत्ति का प्रभाव भी मानने लगते हैं। किन्तु विद्यापति के राधा-कृष्ण-प्रेम में सूफी प्रेम-पद्धति से लेश-मात्र भी साम्य नहीं है। विद्यापति जैसे ब्राह्मण के संस्कारी चित्त में इस विदेशी पद्धति का प्रभाव पड़ना कठिन था भी। यदि राधाकृष्ण के प्रेम में सूफी मत का प्रभाव ढूँढा जा सकता है तो जयदेव के गीतगोविन्द में तथा अन्य संस्कृत-प्रेम काव्यों में भी इसके प्रभाव का अनुमान बिठलाया जा सकता है। राधाकृष्ण का प्रेम सौ-फीसदी भारतीय है। यह प्रेम रहस्यवादी नहीं है, क्योंकि इसमें न तो गुह्य उपासना है और न तो प्रतीकवाद। राधा जीव का प्रतीक हो सकती है, किन्तु कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक नहीं, वे साक्षात ईश्वर हैं—इसलिए रत्नसेन और पद्मावती वाली प्रतीक पद्धति भी यहाँ बैठती नजर नहीं आती।"[1]

साथ ही कवि ने स्वयं ही अपनी कीर्तिपताका में लिखा है कि सीता की विरहवेदना सहन करने के कारण राम को काम-कला चतुर अनेक स्त्रियों के साथ रहने की उत्कट इच्छा हुई इसलिए उन्होंने कृष्णावतार लेकर गोपियों के साथ विभिन्न प्रकार से काम-क्रीड़ा की अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं कवि की दृष्टि में कृष्ण और राधा शृंगार रस के नायक-नायिका ही थे अतएव उसके शृंगार वर्णन में तनिक भी दार्शनिक गूढ़रहस्य नहीं है। साथ ही सूर, तुलसी और मीरा की सी भक्त-भावना की तरह भी विद्या-पति की पदावली में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती और यद्यपि डॉ० गुलाब-राय ने नखशिख व लीला वर्णन की दृष्टि से सूर और विद्यापति को एक ही श्रेणी में रखा है पर सूर की कविता में तो भक्ति-भावना युक्त पदों की संख्या कम नहीं है तथा सूर का शृंगार-वर्णन भी विद्यापति की भाँति असंतु-लित नहीं है। स्मरण रहे सूर का संयोग शृंगार-वर्णन उतना अश्लील नहीं है जितना कि विद्यापति का और हम सूरसागर में न केवल नवधा भक्ति की ही सम्पूर्ण झाँकी देखते हैं अपितु उनकी भक्तिभावना में मौलिकता की झलक भी पाते हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि वात्सल्य भाव की भक्ति सर्वप्रथम सूर ने ही कुशलता के साथ अंकित की है। ठीक इसके विपरीत जैसा कि डॉ०

१ विद्यापति—डॉ० शिवप्रसाद सिंह (पृष्ठ ६९-७०)

रामकुमार वर्मा का मत है "विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है"[1] अतः हम भक्तिभावना की दृष्टि से सूर के समकक्ष विद्यापति को रखना उचित नहीं समझते। यों तो आए दिन विचारकों द्वारा उन्हें भक्त कवि सिद्ध करने के प्रयत्न होते रहते हैं और कभी तो उनकी महेश-बावनी तथा शिव की नचारियों को लेकर उन्हें भक्तों की परम्परा में भी स्थान दे दिया जाता है और कभी वज्रयान सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया प्रसूत सहजयान सम्प्रदाय से लेकर आई हुई तथा वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में गृहीत राधाकृष्ण-सम्बंधी लीलाभावना पर प्रकाश डालते हुए उनके पदों को शृंगार, भक्ति और रहस्य की त्रिवेणी कह दिया जाता है तथा श्री गुलाबराय जैसे विचारक भी हिन्दी साहित्य में विद्यापति का स्थान निर्धारित करते हुए यह निर्णय दे देते हैं कि "विद्यापति में भक्ति के संस्कार थे। उन पर कभी-कभी उनकी शृंगारिकता विजय पा जाती थी। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह रीतिकालीन कवियों की भाँति केवल कला प्रदर्शन के लिए नहीं लिखा। वे रसिक भक्तों में से थे, कभी भक्ति-भावना प्रबल हो जाती थी और कभी रसिकता का पल्ला भारी हो जाता था।"[2] पर पदावली का सम्यक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति को भक्त कवि सिद्ध करने का अशिखापादांत परिश्रम करना उचित नहीं है और वे मूलतः शृंगारी कवि ही थे। हो सकता है उनकी शृंगारिकता और रीतिकालीन कवियों की शृंगार-भावना में भिन्नता हो परन्तु उनकी भक्ति-भावना भी भक्तिकालीन कवियों के सदृश्य नहीं है और न उनकी पदावली के पदों को पढ़कर हृदय पर भक्ति-भावना की वह छाप ही पड़ती है तथा न वैसी भक्ति-भावना ही उद्‌भूत होती है जैसी कि सूर आदि कवियों की कृतियों से होती और भक्तिभावना की अपेक्षा पांडित्य ही उनकी पदावली में विशेष रूप से झलकता है। साथ ही सूर आादि कवियों ने राज्याश्रय के प्रति स्पष्ट ही उपेक्षा और तिरस्कार प्रदर्शित किया है पर विद्यापति तो पग-पग पर शिवसिंह रूपनरायण, लखिमादेइ आदि का उल्लेख करते हैं। इतना ही नहीं उन्होंने तो भक्ति में भी शृंगार को ही प्रधानता दी है तथा पयोधरों को स्पर्श करती हुई मोतियों की माला उन्हें ऐसी प्रतीत होती है मानों शंकर के शीश पर सुरसरि की धारा प्रवाहित हो रही हो--

गिरिवर गरुअ पयोधर परसित
गिय गज मौक्तिक हारा

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृष्ठ ५०९)

२ हिन्दी-काव्य-विमर्श—डॉ० गुलाबराय (पृष्ठ ७६)

काम कम्बु भरि कनक संभुपरि
ढारत सुरसरि धारा

इस प्रकार विद्यापति शृंगार के ही अत्यधिक प्रेमी प्रतीत होते हैं तथा उनकी मनोभावनाएँ मूलतः शृंगारिक ही थीं और उनकी भावनाओं से 'दम्पत्ति' को तो विलग किया ही नहीं जा सकता क्योंकि उन्होंने तो दोनों के मूल को ही रस का मूल मानते हुए कहा भी है—

ई रसराभिक विनोदक विंदक।
कवि विद्यापति गावे॥
काम प्रेम दुहु एक मन भए रहु।
करवने की न करावे॥

और भी--

मधुर नटनगति भंग, मधुर नटिनी संग।
मधुर मधुर रस गान, मधुर विद्यापति भान

अतएव जैसा कि श्री चंद्रबली पाण्डे ने लिखा है "विद्यापति की कविता मधुर रस की कविता है। वह माधुर्य की वाणी है और है यौवन की रंग-स्थली।"[1] साथ ही डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "विद्यापति शृंगार रस के सिद्धवाक् कवि थे। उनकी पदावली में राधा और कृष्ण की जिस प्रेम-लीला का चित्रण है वह अपूर्व है। इस वर्णन में प्रेम के शरीरपक्ष की प्रधानता अवश्य है पर भावों की सान्द्रता और अभिव्यक्ति की प्रेषणीयता गुणिता के कारण वह बहुत ही आकर्षक हो सका है।"[2] स्मरण रहे कि जयदेव के गीत-गोविंद का अनुसरण करते हुए भी विद्यापति ने अपनी पदावली में कई मौलिक प्रसंगों का उद्भावनायें की हैं और अभिसार, कौतुक, प्रबोधन, मिलन, मान, मानभंग, विरह, स्वप्न आदि विषयों का वर्णन तो निश्चय ही सर्वथा नवीन ढंग से किया गया है। कथानक का प्रारम्भ वयः-संधि से करने के कारण उन्हें सद्यःस्नाता तथा यौवन सुलभ अनुरक्ति की उद्भावना आदि नूतन प्रसंगों की अवतारणा का अवसर भी मिल सका। साथ ही श्रीमद्भागवत से भी उन्होंने बहुत ही कम सामग्री ग्रहण की है और राधा को स्वकीया मान कर उसे मुग्धा, अभिसारिका खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा एवम् प्रोषितपतिका, के रूप में अंकित कर विशेष महत्व प्रदान किया है जबकि भागवत में राधा का उल्लेख तक नहीं है। यों तो विद्यापति सौन्दर्य और प्रेम के ही कवि हैं लेकिन उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य चित्रण के

१ हिन्दी कवि चर्चा—पं० चंद्रबली पांडे (पृ० ३९)
२ हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १६८-१६९)

प्रति उदासीनता ही व्यक्त की है तथा ऋतुओं का वर्णन केवल उद्दीपन की दृष्टि से ही किया है; हाँ वसन्त का जन्मोत्सव अवश्य साँग रूपक की सहायता से कुशलता के साथ अंकित किया गया है। कवि को मानवीय सौन्दर्य के चित्रण में अवश्य सफलता मिली है और जैसा कि डॉ० रघुवंश ने लिखा है "विद्यापति ने सौन्दर्य के साथ यौवन की स्फुरणशील स्थिति का संकेत प्रकृति के माध्यम से दिया है। सौन्दर्योपासक प्रकृतिवादी प्रकृति के दृश्यात्मक रूप में यौवन की व्यंजना के साथ आकर्षित होता है, उसी के समानान्तर विद्यापति मानवीय सौन्दर्य के उल्लासमय यौवन से आकर्षित होकर प्रकृति रूप योजना के माध्यम से उसे व्यक्त करते हैं।"[1] वस्तुतः विद्यापति ने सौन्दर्य की सृष्टि सी की है तथा नारी के समस्त अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करने की ओर भी उनकी दृष्टि गई है लेकिन उनके सौन्दर्य-वर्णन में तुलसी की सी आध्यात्मिकता का अभाव है और भौतिकता तथा ऐन्द्रियता की मात्रा विशेष रूप से पाई जाती है। नारी की सुकुमारता का चित्रण भी कवि ने किया है[2] और उसकी भाव-मूर्ति विषयिनी कल्पना पग पग पर झलक उठती

१ प्रकृति और हिन्दी काव्य—डॉ० रघुवंश (पृ० ३८१)

२ सहज प्रसन मुख, दरस हृदय सुख
लोचन तरल तरंग।
अकास पताल वस, सेओ कैसे भेल अस
चाँद सरोरुह मंग॥
बिहि निरम रामा, दोसर लछि रामा
भल तुलाएल निरवान।
कुच मंडल सिरि हेरि कनक-गिरि
लाजे दिगनार गेल॥
केओ अइसन कह, सेओ न जुगुति सह
अचल सचल कैरो भेल।
माझ-खोनि तनु भरे भाँगि जाय जनु
बिधि अनुसए भल साजि॥
नील पटोर आनि, आनि से सुदृढ़ जानि
जतनु सिरिजु रोम राजि।
भन कवि विद्यापति, काम रमनि रति
कौतुक बुझ रसमन्त।
सिर सिबसिंघ राउ, पुरुब सुकृत पाउ
लखिमा देइ रानि कन्त॥

है ।[1] डॉ० प्रभाकर माचवे के शब्दों में "विद्यापति में बॉयरन की भाँति कविता में सजीव रक्त तत्व (ब्लड एलीमेंट) बहुत थोड़े शब्दों में चित्र खड़ा कर देने की क्षमता है ।"[2]

चूँकि सौन्दर्य प्रेम का सहायक है और वही वास्तव में प्रेम की उत्पत्ति भी करता है अतः सौन्दर्य-वर्णन में निष्णात कवि विद्यापति ने स्वाभाविक ही प्रेम-वर्णन में पूर्ण सफलता भी प्राप्त की है परन्तु उनकी प्रेम-भावना में ऐन्द्रियता ही अधिक है और चाहे वे प्रत्यक्ष रूप से केलि को महत्व न देते हो परन्तु उनकी उक्तियों में अश्लीलता की मात्रा कुछ कम नहीं है। श्री परशुराम चतुर्वेदी की दृष्टि में "विद्यापति ने प्रेमभाव के आकस्मिक उदय, उसके स्वरूप, उसकी तीव्रता, व्यापकता और उसके महत्व आदि का वर्णन इतनी सूक्ष्मता और सफलता के साथ किया है कि उसके वास्तविक रहस्य की झलक मिले बिना नहीं रह पाती।"[3] वस्तुतः पदावली में नायिका की संयोगावस्था और वियोगवस्था दोनों का ही चित्रण हृदयस्पर्शी है तथा कहीं-कहीं कवि ने नायिका की हृदगत् भावनाओं को इतनी कुशलता के साथ अंकित किया है कि उसकी भाव-प्रवणता की निपुणता देखते ही बनती है। विरह-व्यथित नायिका की मनोभावनाओं को अंकित करते समय वियोग की समस्त अंतर्दशाओं का भी कुशलता के साथ चित्रण किया गया है तथा कवि

---

१ कनक लता अरविन्दा ।
दमना माँझ उगल जनि चंदा ।।
केहु कहै सैबल छपला ।
केहु बोले नहि नहि मेघ झपला ।।
केहु कहे भयए भमरा ।
केहु कहे नहि नहि चरए चकोरा ।।
संसय परल सब देखी ।
केहु बोले ताहि जुगुति बिसेखी ।।
भनइ विद्यापति गावे ।
बड पुन गुनमति पुनमत पावे ।।

२ व्यक्ति और वाङ्मय—डॉ प्रभाकर माचवे (पृ० ४२)

३ हिन्दी काव्यधारा मे प्रेमप्रवाह—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ० ४०)

विप्रलंभ शृगार के संचारी भावों की अभिव्यजना में भी निपुण है।[1] श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के शब्दों में "विद्यापति का विरह-वर्णन प्रेमिका के हृदय की तस्वीर है—उसमें वेदना है, व्याकुलता है, प्रियतमा की प्रियतम के प्रति तल्लीनता है, कोरी हाय-हाय वहाँ नहीं है।"[2] वास्तव में विद्यापति का विरह वर्णन ऊहात्मक नहीं है अपितु उसमें स्वाभाविकता भी है और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पदावली का कलापक्ष ही सुघर नहीं है अपितु उसका भाव जगत भी विस्तृत है तथा रस-व्यंजना, भावाभिव्यक्ति, भाव-सुधरता आदि उत्तम काव्य के समस्त गुण उनकी पदावली में दृष्टिगोचर होते है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विद्यापति का हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है तथा उन्हें आशातीत लोकप्रियता भी प्राप्त हुई है और उनकी काव्य-माधुरी तथा सुललित भाषा पर मुग्ध होकर अभिनव जयदेव, सुकवि कंठहार, कविशेखर और कविरंजन जैसी उपाधियाँ भी दी गयी हैं। राजाश्रित कवि होते हुए भी उन्होंने लोकजीवन को अपनाया है और उनकी इसी प्रवृत्ति के फल-स्वरूप उनके पद लोकगीतों के रूप में प्रचलित हो गए हैं तथा मिथिला में कदाचित ही कोई ऐसी स्त्री हो जिसे विद्यापति के पद कंठस्थ न हों। प्रेमप्रधान पदावली को मिथिला में 'तिरहुति' और अभिसार भावभरी कृतियों को 'बटग-मनी' कहा जाता है तथा वैवाहिक प्रसंगों पर उनका गान अवश्य होता है। साथ ही वे पद जिनमें कि नायक के वशीभूत कराने वाले भावों का चित्रण होता है 'जोग' और नायिका के अनुनय तथा विनय से पूर्ण पद 'उचिती' कहलाते हैं अतः हम देखते हैं कि विद्यापति-पदावली को न केवल साहित्यज्ञों में अपितु जनसाधारण में भी आदरणीय स्थान प्राप्त है। डॉ० सूर्यकांत शास्त्री ने

१ सखि हे कतहु न देख मधाई।
काँप शरीर धीर नहि मानस
अवधि नियर मेलि आई।
मृगमद चानन परिमल कुंकुम
के गेल सीतल चंदा।
पिया विसलेल अनल सों जीखये
विपति चिन्हिए भल मंदा।
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति
चित जनु झंखह आजे।
पिय विसलेस कलेस मेटाएत
बालम विलसि समाजे।

२ विद्यापति पदावली—श्री रामबृक्ष बेनीपुरी (परिचय, पृष्ठ ४०)

उचित ही लिखा है, "उपमा और उत्प्रेक्षा की स्वच्छता में, प्रकण्ठ भावनाओं की ऊँची उड़ानों में और प्रतिभा ऐन्द्रिय नृत्य में वह हिन्दी कवियों के सिर-मौर हैं। उनकी भाषा, उनका पद-विन्यास, उनकी रचना-चातुरी अपनी जैसी आप ही है। उनकी कविता में सरलता, सौम्यता, धार्मिक ऐन्द्रियता सबकी सब विराजमान है। संस्कृत साहित्य को मथ इन्होंने उत्कृष्ट उत्प्रेक्षा और चुभती उपमाएँ इकट्ठी कर दी हैं। संस्कृत साहित्य की ऐन्द्रियता को निचोड़ कर कूजे में बंद कर दिया है। अलंकारों के मोती तो कविता के हार में ऐसे सजाए हैं कि देखते ही बनता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि विद्यापति के गीत सौन्दर्य के सार हैं और ऐन्द्रिय प्रेम के ललित प्रसून हैं।"[1] स्वयं विद्यापति के शब्दों में—

माधुर्य प्रभवस्थली गुरु यशो विस्तार शिक्षा सखी।
यावत् विश्वमिदं च शेखर विद्यापते भारती॥

१ हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डॉ सूर्यकांत शास्त्री (पृष्ठ १३८)

# कबीर की काव्यकला

"संतवाणी किसी भी राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ पूंजी है। वह वाणी का विलास नहीं, किन्तु जीवन का निचोड़ है, इसीलिए वह जीवित और अमर होती है। संतवाणी वही स्वर्गीय गंगा है, जिसमें स्नान-पान करने से लोक-जीवन पवित्र, समृद्ध, समर्थ और स्वतन्त्र हो जाता है।"

—आचार्य काका कालेलकर

डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ"[1] और इसमें कोई संदेह नहीं कि युग की श्रेष्ठतम विभूतियाँ काल-प्रसूत ही होती हैं तथा कबीर के संबंध में तो यह बात पूर्ण रूप से सत्य प्रतिपादित होती है। स्मरण रहे कि मध्ययुग में रूढ़िवादी, सामंजस्यवादी, और स्वतन्त्र नामक तीन श्रेणियों के विचारक दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु इनमें से तृतीय श्रेणी के उदारवृत्ति वाले चिन्तकों को ही विशेष महत्व दिया जाता है क्योंकि उनका लक्ष्य सर्वतोन्मुखी सुधार द्वारा रूढ़िवादी विचारधारा का खंडन करना था। इस प्रकार वे शास्त्रीय विधि-विधान व वर्णाश्रम धर्म तथा प्रामाण्यवाद में विश्वास नहीं करते थे और साथ ही उन्हें अन्धानुसरण तथा अंधविश्वास से भी विशेष घृणा थी। यद्यपि भारत में स्वतन्त्र चिन्ता का स्रोत अनादिकाल से ही प्रवाहित हो रहा है और वैदिक काल से लेकर मध्ययुग तक कुछ-न-कुछ ऐसे विचारक अवश्य थे जिन्होंने कि अपनी स्वतन्त्र विचारधारा के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं परन्तु स्वामी शंकराचार्य के प्रभाव से जब बौद्धधर्म पतनोन्मुख हो महायान, हीनयान, वज्रयान सहजयान, नाथपंथ और विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में विभाजित हो गया तो धर्मक्षेत्र में भी अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। इधर भारत में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने पर अपेक्षाकृत मारकाट और संघर्ष भी कम होता गया तथा हिन्दू और मुसलमान दोनों में एक-दूसरे को समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। अतः इन स्वतंत्र चिन्तकों ने धार्मिक क्षेत्र की विशृंखलताओं को दूर करते हुए सबको मर्यादित कर न केवल एक सात्विक और स्वतंत्र विचारधारा को जन्म दिया अपितु सबल तर्कों सहित हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की आवश्यकता

---

१ कबीर—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृष्ठ २१७)

को श्रेयस्कर समझते हुए समता भाव का महत्व प्रतिपादित किया। भारतीय साहित्य में सन्त कवियों को इस विचारधारा को जन्म देने का श्रेय दिया जाता है और यह तो सर्वविदित ही है कि हिन्दी-सन्त साहित्य में कबीर का अपना विशिष्ट स्थान है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों में "सत्य के इस अपरूप उपासक में श्रेष्ठ दार्शनिक बुद्धि-वादिता और चिन्तना, कट्टर क्रान्तिकारी क्रान्ति और कठोरता, अनन्य भक्ति की विनम्रता और प्रेमानुभूति, सच्चे आलोचक की स्पष्टवादिता, सच्चे साधू की आचरणप्रियता, आदर्श पुरुष की कर्त्तव्य-परायणता, योगियों की अक्खड़ता तथा पक्के फकीर कबीर की अक्खड़ता थी।"[1]

स्मरण रहे कि गार्सां द तासी की दृष्टि में "उनका नाम 'कबीर' केवल एक उपाधि है जिसका अर्थ सबसे बड़ा है। लोग उन्हें ज्ञानी नाम से भी पुकारते हैं"[2] साथ ही उनके नाम के सम्बन्ध में बहुत सी जनश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं और इस प्रकार एक ओर जहाँ यह कहा जाता है कि चूँकि कबीर का जन्म हाथ के अंगूठे से हुआ था अतः उन्हें करबीर या कबीर कहा जाने लगा वहाँ दूसरी ओर यह किम्वदन्ती भी प्रचलित है कि कबीर के नामकरण के अवसर पर जब काजी ने उनका नाम निश्चित करने के लिए कुरान देखी तो उसे सर्व प्रथम कबीर शब्द ही दृष्टिगोचर हुआ अतएव उसने उनका नाम कबीर रख दिया। अरबी भाषा में कबीर का अर्थ महान होता है तथा इस शब्द का प्रयोग प्रायः ईश्वर के विशेषण के रूप में भी किया जाता है और यदि हम कबीर-साहित्य का अवलोकन करें तो हमें यही प्रतीत होता है कि कबीर ने प्रायः जहाँ कहीं अपने नाम का प्रयोग किया है वहाँ वस्तुतः उनका अभिप्राय महान से ही है[3] कबीर के जीवनवृत के विषय में तो विभिन्न मत प्रचलित हैं तथा विचारक अभी तक किसी भी उचित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं और यहाँ हमारा उद्देश्य उनके जीवन-वृतान्त पर प्रकाश डालना भी नहीं है अतः हम यहाँ कबीर के कृतित्व का ही मूल्यांकन करेंगे। यों तो संत-साहित्य में कबीर का अपना विशिष्ट स्थान है और उन्होंने अत्यंत सफलता के साथ स्पष्ट रूप में

---

१—कबीर की विचारधारा—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत (पृष्ठ ७९)

२—हिन्दुई साहित्य का इतिहास—गार्सां द तासी—हि० अनु० डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (पृष्ठ २१)

३ एक उदाहरण देखिए—

कबीरा तू ही कबीरु तू तोरो नाम कबीर।
राम रतन सब पाइऐ जउ पहिलै लगहि सरीर॥

धार्मिक पाखण्डों का विरोध करते हुए सत्यानुमोदन ही किया है लेकिन साथ ही उनका साहित्यिक कृतित्व भी कुछ कम महत्व नहीं रखता। यद्यपि एक विचारक ने यह लिखकर कि "कबीरदास जैसा लिखा जा चुका है केवल एक योगी या संत थे और उन्हें अपने एक पंथ (मत) विशेष का उपदेश एवं प्रचार करना ही इष्ट था। वे कुछ पढ़े लिखे और अधीत न थे, उनमें काव्य-शास्त्रादि का ज्ञान शून्य ही था?"[1] कबीर का साहित्यिक महत्व स्वीकार नहीं किया है लेकिन अंत में वह स्वयं ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "कल्पना, भाव (विचार) और भावनाओं के विचार से आपका काव्य अवश्य सत्काव्य कहा जा सकता है। आप ही सबसे प्रथम महात्मा हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रभाव से हिन्दी का अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय हित किया है।"[2]

वस्तुतः यह धारणा कि कबीर एक सत्कवि नहीं थे उपयुक्त नहीं है क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उनकी कविता में काव्यगत विशिष्टताओं का अभाव नहीं है और उसमें अपनी निजी काव्य-सुषमा भी विद्यमान है।[3] श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "कबीर साहित्य उन रंग-बिरंगे पुष्पों में नहीं जो सजे-सजाये उद्यानों की क्यारियों में किसी क्रम विशेष के अनुसार उगाए गए रहते हैं और जिनकी छटा और सौंदर्य का अधिकांश योग्य मालियों के कलाकौशल पर भी आश्रित रहा करता है। यह एक वन्य कुसुम है जो अपने स्थल पर अपने आप उगा है और जिसका विकास केवल प्राकृतिक नियमों पर ही निर्भर रहा है। उसके

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास--डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (पृ० १७०)

२ वही (पृ० १७२)

३ "हम यह मानते हैं कि कबीर के काव्य में रोचकता का ह्रास है, उनकी भाषा अक्खड़ है, उसमें दार्शनिक पदों का ही बाहुल्य है और वह पद भी अधिकतर पिंगल शास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं हैं परन्तु कबीर में महान कवि के सब लक्षण विद्यमान हैं। उनमें प्रतिभा है, मौलिकता है, ओज है, गांभीर्य है। उनके काव्य में उनका हृदय प्रतिबिम्बित है, अपनी निजी कल्पना का जीता जागता चित्र है, अपना निजी संदेश है।"
—कबीर: सिद्धान्त और रहस्यवाद—डॉ सोमनाथ गुप्त (परिषद निबंधावली, द्वितीय भाग, पृ० १५५)

आकार-प्रकार अथवा रूप-रंग पर कभी भी किसी कृत्रिम वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ा और न उसका पौधा तक कभी किसी निश्चित क्रम वा काट-छाँट का अभ्यस्त रहा। इसका अपना निजी माधुर्य है और इसकी विशेषताओं का सादृश्य केवल उन्हीं अन्य कुसुमों में मिल सकता है जिनका विकास भी वन्य जीवन में हुआ हो।"[1]

यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर एक धर्म गुरु थे और उनकी वाणियों में आध्यात्मिकता का स्रोत ही प्रवाहित हो रहा है तथा उनका उद्देश्य भी काव्यसृजन न होकर उपदेश देना मात्र था लेकिन भक्ति-साधना में रत कबीर के मानस से जो उद्गार निकले हैं वे ही उनकी काव्य-कला-कुशलता के परिचायक कहे जा सकते हैं और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तो उन्हें सत्कवि मानकर उनके बहुत से पदों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। स्मरण रहे कि कबीर के नाम पर जो रचनाएँ कही जाती हैं उनका कुछ हिसाब ही नहीं है और कबीर-पंथियों का तो यह भी कहना है कि सद्गुरु अर्थात् कबीर की वाणी अनन्त है परन्तु चूँकि स्वयं कबीरदास जी यह कहते हैं कि वे साक्षर नहीं थे तथा प्रायः सभी विचारकों ने यह स्वीकार कर लिया है कि उनकी वाणियों का संग्रह दूसरों ने ही किया है अतः यह कहना सहज नहीं है कि कौन-सी रचना उनकी स्वयं की है और कौन-सी परवर्ती अन्य सन्तों की है क्योंकि यह तो निर्विवाद सत्य है कि उनकी कृतियों में अधिकांश स्वयं उन्हीं के द्वारा रचित नहीं है। स्व० रामदास गौड़ ने उनकी ७१ पुस्तकों की एक लम्बी सूची दी है[2] और डॉ० रामकुमार वर्मा ने खोज-रिपोर्टों के आधार पर ५१ पुस्तकों की एक तालिका प्रस्तुत की है[3] तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर द्वारा रचित कहे जाने वाले लगभग ४३ मुद्रित ग्रंथों के नाम दिये हैं।[4] बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस ने भी 'बोध सागर' नाम से ११ जिल्दों में कबीर के ग्रन्थों का संग्रह छापा है परन्तु इन समस्त ग्रन्थों में प्रामाणिक कितने हैं यह कहना सहज नहीं है। साथ ही कबीर की कृतियाँ पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी से तो प्रभावित जान पड़ती ही हैं लेकिन कभी-कभी ऐसी रचनाएँ भी

---

१ कबीर साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी (प्रस्तावना, पृ० ३)

२ हिन्दुत्व—स्व० रामदास गौड़ (पृ० ७३४)

३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा (पृ० ३५८-६७)

४ हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १२१-१२२)

उपलब्ध होती हैं जिन पर मराठी एवं गुजराती भाषा का भी प्रभाव पड़ा है और इस प्रकार के पद्य पूना से प्रकाशित 'संतगाथा' तथा गुजरात से उपलब्ध एकाध संग्रहों में मिलते भी हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने तो संवत् १५६१ की लिखी हुई एक हस्तलिखित पुरानी पोथी को प्रामाणिक मानते हुए उसे 'कबीर ग्रंथावली के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित भी करवाया है परन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी उक्त प्रति को काफी प्राचीन मानते हुए भी उसे सं० १५६१ के पश्चात् की लिखी मानते हैं[1] लेकिन श्री परशराम चतुर्वेदी और श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव की दृष्टि में उसका प्रतिलिपि काल संवत १५६१ ही है।[2] डॉ० रामकुमार वर्मा ने तो 'गुरुग्रंथ साहिब' में अवतरित कबीर के वचनों को ही प्रामाणिक माना है और 'संत कबीर' नामक एक संग्रह भी प्रकाशित करवाया है परन्तु पं० चन्द्रबली पांडे की दृष्टि में उसमें भी कबीर के काव्य का शुद्ध रूप दृष्टिगोचर नहीं होता[3] लेकिन श्री परशुराम चतुर्वेदी ने आदि ग्रंथ के पाठ को प्रामाणिक ही माना है।[4] कबीर के नाम पर प्रकाशित कृतियों में 'कबीर बीजक' को विशेष महत्व दिया जाता है तथा कबीर-पंथ के अनुयायी उसे परम आदरणीय एव पूजनीय धर्म ग्रंथ समझते हैं और सर जार्ज ग्रियर्सन बीजक का अर्थ The chart of secret treasure मानते हैं तथा Key की दृष्टि में उसका अर्थ a document by which a hidden treasure can be located है लेकिन बीजक के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसे लेकर भगवानदास नामक शिष्य भाग गया था और उसने उसे विकृत भी कर डाला था अतः ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि उसका कितना अंश प्रामाणिक है। कबीर की वाणी को बीजक, शब्द, साखी और रमैनी नामक चार भागों में विभाजित किया जाता है जिनमें से बीजक में कबीर की शिक्षाओं के संग्रह के साथ-साथ स्वमत प्रतिपादन को महत्व देते हुए परमत खण्डन पर जोर दिया गया है तथा कबीर के पदों को शब्द कहा जाता है और दोहों को साखी जिनमें कि धर्म एवं नीति-सम्बन्धी अनेकानेक शिक्षाएँ हैं

---

१ कबीर—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १९-२०)

२ कबीर साहित्य की परख– श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ० ७४-७६) और कबीर साहित्य का अध्ययन--श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव (पृ० ७३-७८)

३ हिन्दी कवि चर्चा—पं० चन्द्रबली पांडे (६३-७३)

४ कबीर साहित्य की परख--श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ० ७७-७८)

तथा रमैनी के अन्तर्गत जिसमें अनेक कूट पद भी सम्मिलित हैं उन्होंने अपने निजी सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है। यद्यपि कबीर ने विशेष रूप से दोहों में ही अपनी अधिकतर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और नीति सम्बन्धी उनकी साखियाँ तो सर्वसाधारण में विशेष रूप से प्रचलित भी हैं परन्तु साथ ही उन्होंने पदों को भी अपनाया है और इस प्रकार हिन्दी गीति-काव्य को अलंकृत करने का श्रेय भी उन्हें मिलना चाहिए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि "कबीर 'क्रान्तदर्शी' आत्मज्ञानी संत"[१] तथा एक सच्चे भक्त थे और भगवत् साधना ही उनका ध्येय था लेकिन विचारकों में उनकी साधना और सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पारस्परिक मतभेद सा पाया जाता है तथा कभी-कभी उनकी साधना-पद्धति को अभारतीय भी समझ लिया जाता है।[२] कबीर की कृतियों का अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी भी सिद्धान्त को निर्भ्रान्त रूप से सर्वमान्य मानकर चलना अनुपयुक्त ही समझते हैं और साथ ही आधार स्वरूप किसी भी धर्म-ग्रंथ की प्रामाणिकता भी स्वीकार नहीं करते बल्कि उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ समन्वयवादी ही है तथा अण्डरहिल ने तो उनकी ब्रह्मविषयक अनुभूति को ही समन्वयात्मक कहा है।[3] आचार्य क्षिति-मोहन सेन ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि "कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती, इसलिए वह ग्रहणशील है, वर्जनशील नहीं। इसीलिए उन्होंने हिन्दू मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड़ रक्खा है।"[४] परन्तु स्मरण रहे कि कबीर के समन्वयवाद को किसी विशिष्ट वाद की संज्ञा देना भी उचित नहीं है और न उसे किसी प्रकार का समझौता या विभिन्न वादों से संगृहीत उत्तम विचारों का संकलन ही समझना चाहिए बल्कि जैसा कि श्री परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है "कबीर साहब के समन्वयवाद की आधार-शिला परमतत्व के केवल, नित्य तथा एकरस होने, उस पर आश्रित बहुरूपिणी सृष्टि के अस्थिर होने और उसके विविध अंगों के उनकी मौलिक एकता के कारण एक समान सिद्ध होने पर स्थित है।"[५] यह तो

---

१ संत साहित्य—श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' (पृ० १४)

2 "Yet the Bhakti movement to which he (Kabir) was undoubetdly under obligation to christian ideas."
—Kabir and his followers F.E. Keay (chap. XI)

३ हंड्रेड पोयम्स आफ कबीर—रवीन्द्रनाथ टैगोर (इंट्रोडक्शन, पृ० २२)

४ कबीर का योग—श्री क्षितिमोहन सेन (कल्याण, योगांक पृ० २९९)

५ कबीर साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ० १२०)

स्पष्ट ही है कि कबीर का प्रादुर्भाव इस प्रकार की युग-सन्धि में हुआ था जबकि धर्म-साधनाओं और मानवीय मनोभावनाओं में विविधता सी दीख पड़ती थी तथा हिन्दू और मुसलमानों में पारस्परिक सौहार्द्रता को बढ़ाना भी अत्यन्त आवश्यक था अतः कबीर का समन्वयवादी दृष्टिकोण यहाँ भी सहायक हुआ है और जैसा कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना उसी प्रशस्त चौराहे पर वह खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग किया।"[१] कहा जाता है कि कबीर की कृतियों में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें उन्होंने अवतारवाद का समर्थन किया है परन्तु सम्भवतः इस प्रकार के प्रसंग प्रक्षिप्त ही होंगे क्योंकि उनकी रचनाओं में तो उसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं जिनमें कि प्रतिमा-पूजन, तीर्थ-व्रत, वेदाध्ययन, अवतारवाद इत्यादि सभी बाह्याचारों का खण्डन किया गया है।[२] यद्यपि कबीर ने रामानन्द जी के प्रधान उपदेश अनन्य भक्ति को स्वीकार कर लिया था और वे राम के अनन्य भक्त भी हो गए थे परन्तु राम नाम की महिमा का वर्णन करते हुए वे अवतारवाद को नहीं मानते हैं और उनके राम

१ हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १२०-१२१)

२ कुछ उदाहरण देखिए—

चारि वेद चहुँ मत का विचार। इहि भ्रम भूलि परयो संसार।
सुरति सुमृति दोऊ को बिसवास। बाझि परयो सब आसापास।

★ ★ ★ ★

पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तू राम जपहि अभागी।
बेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं अंति परै मुखि छारा॥

★ ★ ★ ★

योग यज्ञ जप संयमा तीरथ व्रतदाना।
नवधा वेद किताब है झूठ का बाना।

★ ★ ★

ब्रह्मा बिस्नु महेसर कहिये इन सिर लागी
इनहि भरोसे मत कोऊ रहियो उनहूँ मुक्ति

पुराणों में वर्णित राम नहीं हैं अपितु निर्गुण ही है और सर्वत्र व्याप्त हैं।[१] डॉ० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "कबीर के निर्गुण राम परम-तत्व के रूप में ही हैं। हम उन्हें किसी मूर्ति में सीमित नहीं कर सकते। वे घट-घट में, जड़-चेतन में, लोक-लोक में, व्याप्त हैं।"[२] स्मरण रहे कि कबीर की विचार-धारा पर शंकराचार्य और उनके अद्वैतवाद का भी विशेष प्रभाव पड़ा है तथा वे 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' नामक सिद्धान्त के अनुयायी ही प्रतीत होते हैं। कबीर जीव और ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते ही हैं[३] तथा साथ ही शंकराचार्य की भाँति अवतारादि को माया का ही विकार समझते हैं।[४] इस प्रकार कबीर ब्रह्म को निर्गुण और गिराज्ञानगोतीत ही माना है तथा उसे सर्वत्र ही व्यापक और आत्मा में अन्तर्हित मानते हुए साधक को उसकी खोज स्वयं करने के लिए कहा है। गार्सां द तासी ने भी स्पष्ट रूप में लिखा है कि "कबीर की सभी रचनाओं में ईश्वर की एकता में दृढ़ विश्वास और मूर्ति पूजा के प्रति घृणा भाव व्याप्त है।"[५] वस्तुतः कबीर का ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों से ही परे है तथा उन्होंने शून्य और सहज को भी माना है परन्तु कदाचित

१ राम नाम ते पिंड ब्रह्मांड सब राम का नाम सुनी भरम मानी।
निरगुन निरंकार के पार परब्रह्म है, तासु को नाम रंकार जानी।।
और भी—
निर्गुन राम जपहु रे भाई। अविगति की गति लखी न जाई।।
चारि वेद जाके सुमृत पुराना। नौ व्याकरना मरम न जाना।।

२ अध्ययन—डॉ० भगीरथ मिश्र (पृ० ८५)

३ जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहरि भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कह्यो गियानी।।

४ संतो आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहि वाके ना कहुँ गया न आया।।
वे कर्ता न वराह कहावै धरणि धरै नहि भारा।
ई सब काम साहेब के नाहीं झूठ कहे संसारा।।
सिरजनहार न ब्याही सीता जल परवान नहि बंधा।
वे रघुनाथ एक हैं कै सुमिरै जो सुमिरे सो अंधा।।
दस अवतार ईश्वर की माया, कर्ता कै जिन पूजा।
कहै कबीर सुनो हो संतों, उपजै खपै सो दूजा।।

५ हिन्दुई साहित्य का इतिहास—गार्सां द तासी—अनु० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (पृ० २१)

उन्होंने इन शब्दों को बौद्ध धर्म और सहजयान सम्प्रदाय से ग्रहण नहीं किया क्योंकि उनकी शून्य-भावना और सहज साधना का दूसरा ही अर्थ निकलता है। कबीर की कविता में हठयोग का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर हुआ है और उनके पदों में बंकनालि, सुषुम्ना, मेरुदण्ड, षटदल कमल तथा कुंडलिनी को जागृत करने की क्रियाओं का भी वर्णन है। स्मरण रहे कि कबीर साहित्य में योग-सम्बन्धी दो विचारधाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं जिनमें से प्रथम में तो योगसम्प्रदाय के सिद्धान्तों को स्वीकार कर योग-परक रूपकों से आध्यात्मिक साधना को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है और साथ ही सिद्धों तथा नाथपंथियों की भाँति अनेक संकेतार्थी शब्द भी उलटबाँसियों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। संभवतः कबीर ने कदाचित योगपंथ की साधना को प्रारम्भिक अवस्था में ही ग्रहण किया है क्योंकि बाद में तो वे सहज समाधि का ही महत्व अंकित करते हैं तथा योग की कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए अवधू को मुद्रा, आसन, षटकर्म आदि त्यागने का भी उपदेश देते हैं। स्मरण रहे कि कबीर के काव्य में रहस्यवादी भाव-धारा भी दृष्टिगोचर होती है और विचारकों ने तो उनकी भाव-भूमि पर प्रकाश डालते हुए उन्हें रहस्यवादी कवि भी माना है।[1]

---

1 "The poetry of mysticism might be expressed as a temperamental reaction to the vision of reality and also as a form of prophecy. As it is the special vocation of the mystical consciousness to mediate between the temporal and the spiritual world, so the artistic expression of this consciousness has also -to double character. It is love poetry, but love poetry which is often written with a missionary intention. Kabir's songs are of this kind: outburst of rapture and of charity. As they have been written in popular Hindi, they were addressed to the people rather than to the professionally religious class. A constant employment in them of the imagery drawn from the common life makes these songs universal in their appeal. It is by the simplest metaphors, by appeals to needs, passions, relations, which all men understand and that he drives home his intense conviction in the mystical experience of life. The bridegroom and bride, the "guru" and disciple, the pilgrim the former the migrant bird link the 'natural' and 'supernatural' worlds. When the mystic has achieved the theophanic state, all aspects of the universe are equal, sacramental declarations of the ultimate reality. Kabir 'melts and merges' in to a unity by ascending to a height of spiritual institution where there is no room for incompatable concepts either of religion or of philosophy."

—Tagore's Introduction to 100 poems of Kabir

डॉ रामकुमार वर्मा की दृष्टि में तो "कबीर का रहस्यवाद अपनी विशेषता लिए हुए है। वह एक ओर तो हिन्दुओं के अद्वैतवाद की गोद में खिलता है और दूसरी ओर मुसलमानों के सूफी सिद्धान्तों को स्पर्श करता है। इसका विशेष कारण यही था कि कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रकार के सन्तों के सत्संग में रहे और वे आरम्भ से ही यह चाहते थे कि दोनों धर्म-वाले आपस में दूध-पानी की तरह मिल जांय। इसी विचार के वशीभूत होकर उन्होंने दोनों मतों से सम्बन्ध रखते हुए अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया। रहस्यवाद में भी उन्होंने अद्वैतवाद और सूफीमत की गंगा-जमुनी साथ ही बहा दी है।"[1] सांसारिक दृष्टि से अद्वैतमतावलम्बी और निर्गुणवादी कबीर ने माधुर्य भाव से भी उपासना की है तथा सूफी सन्तों के साथ सम्पर्क रहने के कारण सूफियों की ही भाँति प्रेम को ही ईश्वर की प्राप्ति का साधन समझा है। परन्तु सूफियों की प्रेम-साधना और कबीर की प्रेम भावना में विभिन्नता होने के कारण उनकी रहस्यवादी भावनाओं में भी अन्तर है। स्मरण रहे कबीर ने तो अपने आपको राम की बहुरिया कहकर ईश्वर के साथ अपना आध्यात्मिक विवाह भी कराया है अर्थात वे भारतीय परम्परा का निर्वाह करते हुए अपने आपको स्त्री मानकर ही ईश्वर के प्रति प्रेम प्रकट करते हैं लेकिन सूफियों ने तो ठीक इसके विपरीत साधक को पुरुष माना है तथा ईश्वर को स्त्री या प्रेमपात्र और इस प्रकार सूफी-सन्त परमात्मा को तो नारी और साधक को पुरुष मानते हैं जबकि कबीर ने साधक को स्त्री या प्रेमिका और ईश्वर को पुरुष या प्रियतम कहा है। इस प्रकार कबीर के पदों में कहीं तो 'दुलहिन का मधुर उल्लास' दृष्टिगोचर होता है और कहीं 'विरह व्यथित विरहिणी की पुकार' तथा प्रेम की तन्मयता भी उनके पदों में फूट-फूट कर भरी हुई है। कबीर के रहस्यवाद का क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत है और उसे किसी विशिष्ट प्रकार की कोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता तथा वह एकांतिक नहीं है अपितु प्रवृत्यात्मक है और उसमें एकात्मानुभूति के साथ-साथ प्रेमतत्व को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के शब्दों में "कबीर साहब हिन्दी संसार में रहस्यवाद के प्रधान स्तम्भ हैं।"[2] कबीर की साधना पद्धति की मूल विशेषता यह है कि उन्होने राम और रहीम दोनों को ही एक माना है तथा हिन्दुओं के अन्ध-

---

१ कबीर का रहस्यवाद—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृ० २८)

२ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पृ० १७८)

विश्वासों पर व्यंग्य करने के साथ-साथ मुसलमानों की क्रूरता और हिंसा का भी उपहास किया है और कबीर-पंथ में तो हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे। कबीर के सिद्धान्तों में तो आचार विचार को भी अत्यन्त महत्व दिया गया है और उन्होंने आत्मदर्शन के हेतु आचार-विचारों की शुद्धता अनिवार्य समझी है तथा आत्मज्ञानी में संयम, सन्तोष सुशीलता, निर्विकारता, गम्भीरमति, धैर्य, दया, निर्वैर, समता, कोमलता सेवा, परस्वार्थ, निष्काम कर्म आदि गुण आवश्यक माने हैं। डॉ० इन्द्रनाथ मदान की दृष्टि में उन्होंने योगियों का हठयोग, सूफियों का प्रेम, ब्राह्मणों का अद्वैतवाद और मुसलमानों का एकेश्वरवाद लेकर उसको ऐसा रूप दिया कि उसमें मानवता की काया निखर उठी और साधक और भक्तों को अपने अनुकूल वस्तु मिल गई।"[१]

स्मरण रहे कि विद्यापति ने जहाँ एक ओर काव्य को ईश्वरदत्त प्रतिभा और एक विशेष कला माना है वहाँ ठीक इसके विपरीत दूसरी ओर कबीरदास कविता को निःसार वस्तु समझते हैं तथा उनकी दृष्टि में ग्रन्थ-सृजन और काव्य-लेखन एक प्रकार से व्यर्थ का परिश्रम ही है[२] परन्तु वास्तव में वे "साधना के क्षेत्र में युग-गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के सृष्टा"[3] अतः एक सफल साधक के साथ-साथ उन्हें कुशल कवि भी मानना चाहिए। वस्तुतः कला का मूल-तत्व शुद्ध अनुभूति ही है जो कि हमारे राग-प्रधान जीवन में ही नहीं विचारप्रधान जीवन भी सम्भव है तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि विज्ञान और दर्शन के सत्य को भी हम अपने आनन्द का विषय

१ हिन्दी कलाकार---डॉ इन्द्रनाथ मदान (पृ० ७)

२ "कबीर के विचार से कवि और विद्वान कोई सम्मान्य व्यक्ति नहीं थे। वे दोनों ही मरे हुए व्यक्ति थे—क्योंकि अमर आत्मा की ज्योति जगाकर इन्होंने अपने को सजीव नहीं किया था उनका कथन है—

कवि कवी ने कविता मुए।

तथा

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोई

(साखी)

इससे यही अर्थ निकलता है कि कविता के विषय में उनकी एक अपनी धारणा थी।

—अध्ययन: डॉ० भगीरथ मिश्र (खण्ड २१ पृ० २१)

३ हिन्दी साहित्य की भूमिका - डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० ९८)

मान सकते हैं।[1] इस प्रकार कबीर की कविता को कवित्वहीन कहना अनुपयुक्त ही है। वस्तुतः उनके मानस में सचाई थी तथा आत्मा में असीम साहस अतः स्वाभाविक ही उनकी वाणी में शक्ति आ गई और जैसा कि डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है "अनुभूति की गहराई कबीर में इतनी है कि वे सीधे हृदय पर चोट करते है। +++ यद्यपि कबीर प्रतिज्ञा करके कविता लिखने नहीं बैठते तथापि यदि कोई कविता की मार्मिक अनुभूति ढूँढना चाहे तो उसे निराश नहीं होना पड़ेगा। वे अपनी इस अनुभूति के बल पर सहज ही महाकवि कहे जा सकते हैं। उनकी कविता में छन्द और अलंकार गौण हैं; सन्देश प्रधान है। वह संदेश इतना प्रधान है कि उनकी कविता में अलंकारादि का चमत्कार न होने पर भी रस की कमी नहीं है। इसी संदेश के बल पर वे महान कवि हैं। +++ उनका काव्य जीवन के अत्यन्त निकट है जो रहस्यवाद की अनुभूति से आच्छादित होते हुए भी स्फटिक की भाँति स्वच्छ और काँच की भाँति पारदर्शी है।"[2] यों तो उनकी कविता में शान्त रस की ही अधिकता है परन्तु साथ ही शृंगाररस पूर्ण स्थलों की भी कुछ कमी नहीं है तथा प्रेम वर्णन में तो उन्हें अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। वस्तुतः "कबीर की कविता भावयोग का उत्कृष्ट नमूना है"[3] और उसमें संयोग तथा वियोग के सरस उदाहरणों का अभाव नहीं है। हो सकता है कबीर के विरह-वर्णन में सूर की सी सरसता न हो परन्तु कई ऐसे प्रसंग हैं जहाँ कि विरह-व्यथित मानस की झाँकी प्रस्तुत करने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है और उनकी विरहिणी आत्मा की पुकार तो निःसन्देह हिन्दी-काव्य-जगत में अद्वितीय है। कई ऐसे प्रसंग हैं जहाँ कि कबीर की सौन्दर्यानुभूति भी झलक उठती है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी सौन्दर्य-भावना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है परन्तु उन्होंने किसी भौतिक पदार्थ या किसी विशिष्ट रूपरेखा की परिधि में आने वाली वस्तु का आधार लेकर उसे सीमित नहीं कर दिया है। कहीं-कहीं उनकी कृतियों में इब्नेसिना के सौन्दर्यवाद की छाया भी दृष्टिगोचर होती है और कुछ स्थलों में तो

---

1 The matter of literature is pure experience which is possible not only in emotionl life but also in intellectual life. Truth of Science and philosophy may also be enjoyed.

—Principles of Literary criticism—L. Abercrombie.

२ हिन्दी कलाकार—डॉ० इन्द्रनाथ मदान (पृ० ३२-३३)

३ हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री (पृष्ठ ८८)

ब्रह्म का वर्णन बहुत कुछ अंशों में अनिर्वचनीय सौन्दर्यवाद से प्रभावित-सा जान पड़ता है।

कबीर की कविता के कलापक्ष पर विचार करते समय सर्वप्रथम कठिनाई हमारे सामने यह आती है कि वास्तव में कबीर की काव्यभाषा किस प्रकार की थी क्योंकि उनकी भाषा का एक निश्चित स्वरूप नहीं है और उसमें अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण है। रेवरेंड अहमदशाह ने तो उनकी काव्यभाषा भोजपुरी या उससे किसी मिलती-जुलती बोली को माना है और जार्ज ग्रियर्सन पुरानी अवधी को जो कि पश्चिमी मिर्जापुर, इलाहाबाद और अवध की लोक भाषा है उनकी भाषा मानते हैं तथा साथ ही कबीर की अवधी को तुलसी की अवधी से भिन्न कहते हैं। स्मरण रहे कि स्वयं कबीर ने अपनी बोली को पूर्वी कहा है[1] परन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी उनकी इस साखी का आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करना ही उचित समझते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० गुलाबराय ने उनकी भाषा को सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा कहना ही उपयुक्त समझा है परन्तु श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव उसे खड़ी दक्खिनी का पूर्वरूप मानते हैं। कबीर की कृतियों का सम्यक अनुशीलन करने पर तो उनकी भाषा के पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी नामक तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं लेकिन उनकी भाषा के पंजाबीपन को प्रान्त विशेष के भक्तों और कतिपय लिपिकारों का ही प्रसाद समझना चाहिए। यद्यपि पूर्वी बोली का प्रभाव भी उनकी समस्त कृतियों पर पड़ा है पर उनके गीति काव्य की भाषा ब्रज ही है और इसमें कोई संदेह नहीं कि सूर के सदृश्य सुमधुर ब्रजभाषा में पद रचना करने में वे पूर्ण सफल रहे हैं तथा उनकी कृतियों में ब्रजभाषा-माधुर्य से परिप्लावित उदाहरणों की अधिकता ही है। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से उनके कई पद न केवल सूर के पदों से टक्कर लेने की क्षमता रखते हैं अपितु 'करमगति टारे नाहि टरे' जैसे कुछ पद तो कबीर और सूर दोनों की कृतियों में समान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तव में उन्हें सूर ने कबीर से ग्रहण किया या कबीरपंथियों ने ही उन्हें कबीर की कृतियों में सम्मिलित कर लिया। पूर्वी प्रयोगों, देहाती शब्दावली, पंजाबीपन, सामासिक पदावली, संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता के साथ-साथ अजब, फहम, वाकिफ, गुल, चमन और दीदार जैसे शब्दों की भी उनकी भाषा में न्यूनता नहीं है तथा कहीं-कहीं उनका फक्कड़पन अश्लीलता की चरम-

---

१ बोली हमरी पूरब की, हमै लखा नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै धुर पूरब का होय॥

सीमा तक आ पहुँचता है और उलटबाँसियों एवं सांकेतिक शब्दयोजना के कारण रसग्रहण में भी कठिनाई आ जाती है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके भाषा-सौन्दर्य में सर्वत्र कमी ही दृष्टिगोचर होती है। न्यून पदत्व और अधिक पदत्व के भी थोड़े से उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं तथा सर्वत्र ही उनकी भाषा प्रसाद गुण पूर्ण ही है और ओज तथा माधुर्य का भी अभाव नहीं है। साथ ही कबीर भारतीय कविता के कवि समयों और प्रतीकों आदि से भी पूर्ण परिचित थे तथा चाहे वे संस्कृत से विज्ञ हों या न हों परन्तु उनके पदों में कई स्थलों पर सस्कृत के श्लोकों के भाव तदनुरूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। जैसा कि जी० डी० एच० कोल का मत है "The arrangement of beautiful but meaningless words does not make a poem" कबीर ने भी सार्थक शब्दयोजना पर पूर्ण ध्यान दिया है और उनकी वाणी में अलंकार घुलमिल से गए हैं तथा शब्दालंकारों और अर्थालंकारों दोनों का ही स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। डाक्टर फ्रड की दृष्टि में आत्मा की भाषा रूपकों में ही प्रकट होती है और विचारपूर्वक देखा जाय तो कबीर की कविता में रूपकों का ही सर्वाधिक प्रयोग हुआ है परन्तु डॉ० रामकुमार वर्मा की दृष्टि में "कबीर के रूपक स्वाभाविक होने पर भी जटिल हैं। यद्यपि उनके रूपक पुष्प की भाँति उत्पन्न होते हैं और उन्हीं की भाँति विकसित भी, पर उनमें दुरूहता के काँटे अवश्य होते हैं।"[१] रूपक के साथ-साथ उन्होंने अनुप्रास[२], विभावना[३], अन्योक्ति[४], उपमा

---

१ कबीर का रहस्यवाद—डॉ रामकुमार वर्मा (पृ० ४६)

२ उदाहरणार्थ—

(क) गगन घटा गहरानी साधो मन घटा घहरानी।

(ख) बाबा बंदहि बंद मिला, बंदहि बंद बिछुरन पावा।

(ग) माया मोह मद मैं पीया, मुगध कहै यहु मेरी रे।

(घ) फूँका बिन फूँका फल होई ता फल फंक लहै जो कोई।

३ तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा बिन फूला फल लागा।
साखा पत्र कछु नहि वाके, अष्ट गगन मुख बागा।
पैर बिन निरत करा बिन बाजै जिभ्या हींणो गावै।
गावणहारे कै रूप न रेखा, सतगुरु होइ लजावै।।

४ काहे री नलिनी तू कुम्हलानी तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में वास जल में नलिनी तोर निवास।।
ना जल तपत न ऊपर आग तोर हेतु कछु कासन लाग।
कहत कबीर जो उदक समान, ते नहि मुए हमारी जान।।

उत्प्रेक्षा, उदाहरण, श्लेष और समासोक्ति का भी प्रयोग किया है तथा लोकोक्तियों, मुहावरों व कहावतों की भी कमी नहीं है। मिश्रबन्धुओं का तो यही कहना है कि "इन्होंने ऐसी विलक्षण रचना की है कि इनके सैकड़ों पद कहावतों के रूप में आज सब छोटे-बड़ों की जिह्वा पर है।"[1] साथ ही व्यंग्य के सरस-सुमधुर उदाहरण भी उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं और पंडितों व मौलवियों को जो उन्होंने खरी-खरी बातें सुनाई हैं उनमें व्यंग्य की छटा देखते ही बनती है। स्मरण रहे कि व्याकरण की दृष्टि से कबीर की कविता पर विकृत शब्दों का प्रयोग तथा कारक चिह्नों की अशुद्धियाँ इत्यादि दोषों का जो आरोप लगाया जाता है और पिंगल की दृष्टि से उसमें जो छंदोभंग आदि के उदाहरण मिलते हैं उन सबका बहुत कुछ उत्तरदायित्व प्रतिलिपिकारों पर ही है।

साथ ही कबीर के पद पूर्णतः गेय हैं तथा उनका उपयोग तो भजनों के रूप में किया भी जाता है और स्वयं कबीर की उक्तियों से यह प्रकट होता है कि उस समय ये पद गाये जाते थे।[2] यों तो कबीर को रूपमाला, तोटंक विष्णुपद, सार आदि छंदों के उपयोग में भी पूर्ण सफलता मिली है लेकिन कभी-कभी एक ही पद में अनेक छन्दों का समावेश भी कर दिया गया है। कबीर की कृतियों में संगृहीत उक्तियाँ रागों के अनुसार विभाजित हैं लेकिन भिन्न-भिन्न संग्रहों में उन्हें विभिन्न रूपों में विभाजित किया गया है पर इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वे सब गेय हैं और उन्हें कई प्रकार से गाया जा सकता है। जहाँ कि आदि ग्रंथ के पदों का वर्गीकरण सिरी रागु, रागु गउरी, रागु आसावरी, रागु गूजरी, रागु सोरठि, रागु धनासरी, रागु तिलंग, रागु सूही, रागु बिलावलु, रागु गौड़, रागु रामकली, रागु मारू, रागु केदारा, रागु भैरउ, रागु बसंत, रागु सारंग और रागु प्रभ ती के अनुसार किया गया है वहाँ 'कबीर ग्रंथावली' में वे राग गौरी, राग रामकली, राग आसावरी, राग सोरठि, राग केदारौ, राग मारू, राग टोड़ी, राग भैरू, राग बिलावल, राग ललित, राग बसंत, राग माली गौड़ी, राग कल्याण, राग सारंग, राग मलार और राग धनाश्री के अनुसार विभाजित हैं। स्मरण रहे कि जौहेनी (उदयपुर) के संगीतज्ञ श्री कृष्णानन्द व्यास ने 'राग कल्पद्रुम के अंतर्गत 'कबीर बीजक' के शब्दों को रागनी आसावरी, ताल तितारा धनाश्री तितारा, पूरबी तितारा, गौरी तितारा, भूपाली तितारा, कलिंग

१ हिन्दी नवरत्न - मिश्रबंधु (पृ० ४७६)

२ पद गाए मन हरषिया साखी कह्यो अनंद।
सोतत नाव न जाँणियां गल मैं पड़िया फंद॥

गौरि तितारा, एमन तितारा, केदारा तितारा, सोरठ तितारा, विहाग तितारा, ठुमरी तितारा, देशी ठुमरी, खँभाइच तितारा, परज तितारा, रागिनी परज, मारू तितारा, कलिगरा तितारा, काफी तितारा, जोगिया तितारा, सोहू तितारा, जत तितारा, सि० तितारा, आहीरी तितारा, दादरा तितारा, राग कलिग तितारा, राग सुरठ तितार, और हिंडोला धनाश्री नामक रागों के अनुसार विभाजित किया है। यह तो निश्चित ही है कि कबीर ने स्वयं अपने पदों का वर्गीकरण रागानुसार नहीं किया है परन्तु इन उदाहरणों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उनके पद संगीत की कसौटी पर खरे उतरते हैं तथा कवि को संगीत के प्रति अनुराग भी था और हमारी यह धारणा उस समय पूर्णतः सत्य प्रमाणित होती है जब कि कई ऐसे प्रसंग व उदाहरण मिलते हैं जिनसे कि उनके रचयिता का सगीत-प्रेम प्रकट होता है। 'तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यह निज ब्रह्म विचारि' जैसी पंक्तियों से उनका गीतिकार होना तो प्रकट होता ही है लेकिन साथ ही कवि ने अपने कुछ पदों में कहीं-कहीं वाद्ययंत्रों के स्वरूप एवं बनावट का भी उल्लेख किया है। अतएव जैसा कि श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है "कबीर साहित्य में हमें केवल पदों का रागानुसार किया गया विभाजन ही नहीं मिलता। इसमें बहुत से ऐसे उदाहरण भी पाए जाते हैं जिनसे कबीर साहब की संगीत के प्रति अभिरुचि तथा उनकी तद्विषयक अभिज्ञता का भी कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है।"[१]

इस प्रकार कबीर की कविता का भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों ही निखरा हुआ है और संक्षिप्तता, भावोत्कटता, तीव्रानुभूति तथा सगीतात्मकता की दृष्टि से वह निस्संदेह सराहनीय है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "निर्गुण संत कवियों में प्रचार की दृष्टि से, प्रतिभा की दृष्टि से तथा कविता की दृष्टि से भी कबीर का स्थान सर्वोपरि है, उनके पीछे प्रायः सब सन्तों ने अधिकतर उनका ही अनुकरण किया है।"[२] वस्तुतः श्री शिवदानसिंह चौहान ने उचित ही लिखा है "कबीर ने अपनी वाणी द्वारा अपने युग की आचार-प्रवणता, सामाजिक अन्याय और हिन्दू मुसलमानों के वैमनस्य पर लगातार आक्रमण करते हुए जिन मानवीय आदर्शों की स्थापना की वे निश्चय ही युगानुरूप थे। यह कह कर कि 'सब के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय' उन्होंने मानव समाज की समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया और ईश्वर की धर्मोपासना के हित सबके लिए समान अधिकार की माँग की।

१ कबीर साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ० ३००)

२ हिन्दी भाषा और साहित्य - डॉ० श्यामसुन्दर दास (पृ० ३४५)

इस विराट जन आंदोलन के सब से प्रमुख और कृती नेता के रूप में उन्होंने अपने मुख से जो कहा उसमें हमें उनके युग का पूरा चित्रण मिलता है और भविष्य के लिए जीवन संदेश भी।"[1]

---

१ साहित्यानुशीलन—श्री शिवदान सिंह चौहान (पृ० ६४)

# जायसी की रस-व्यंजना

प्राचीन आचार्यों ने विषयानन्द, ब्रह्मानन्द और रसानन्द नामक तीन प्रकार के आनन्द माने हैं। ब्रह्म को तो सच्चिदानन्द ही कहा जाता है; क्योंकि वह स्वयं ही आनन्द रूप है और उसी आनन्दमय ब्रह्म से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, विकास होता है तथा अंत में वे उसी में विलीन भी हो जाते हैं—

आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
आनंदेन जातानि जीवन्ति।
आनन्दे प्रत्यन्त्यभिसंविशन्तीति,
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

—तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।६।१

आनन्द की सर्वोच्चतम कोटि ब्रह्मानन्द है जिसके अंतर्गत विश्व के समस्त आनन्द एकत्र हो जाते हैं और इस आनन्दमय ब्रह्म द्वारा ही विश्व की समस्त वस्तुओं में आनन्द प्रविष्ठ होता है। विषयानन्द, ब्रह्मानन्द तथा रसानन्द में विषयानन्द को तो सबसे हीन समझा जाता है पर शेष दोनों की उपादेयता निर्विवाद रूप से स्वीकार की जाती है। विषयानन्द की अपेक्षा रसानन्द को तो सर्वदा ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है क्योंकि विषयानन्द लौकिक ही है जबकि रसानन्द अलौकिक माना जाता है। रस को भट्टनायक ने 'ब्रह्मानन्द सचिवः' तथा विश्वनाथ ने 'ब्रह्मानन्द सहोदरः' लिखकर ब्रह्मानन्द में सम्बन्ध-सा माना है। वास्तविकता तो यह है कि अखिल जगत में व्याप्त ब्रह्म को ही लक्ष्यकर तैत्तिरीय श्रुति में कहा गया है कि—"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" अर्थात् ब्रह्म रस रूप है और रस को प्राप्त करके ही विश्व के प्राणी आनन्द पाते हैं। इस प्रकार रसात्मक ब्रह्म ही विश्व के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है तथा जगत का प्रत्येक पदार्थ रसात्मक ही है अतः रस को काव्य की आत्मा मानकर आचार्यों ने उचित ही किया है। महामुनि भरत ने तो 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट ही लिखा है कि जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है, वृक्ष से पुष्प तथा पुष्प से फल होते हैं उसी प्रकार रस को ही काव्य का मूल समझना चाहिए, साथ ही उसी के द्वारा भावों का संगुफन भी होता है। देखिए—

यथाबीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्या भावाव्यवस्थितः॥

—नाट्यशास्त्र, ६।४२

नाट्यशास्त्र के इन विचारों का अभिनव भारती में अभिनव गुप्त ने समर्थन भी किया है--

"एवं मूलबीजस्थानियात् कविगतो रस:। कविर्हि सामाजिक तुल्य एव। तत एवोक्तं 'शृंगारी चेत् कविरित्यादि' आनन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत् पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापार:। तत्र फलस्थानीय: सामाजिकरसास्वाद: तेन रसमयमेव विश्वम्।"

—अभिनवभारती, पृष्ठ २९५

इस प्रकार अभिनव गुप्त ने भी कविगत रस को मूल बीज के सदृश्य माना है तथा समग्र विश्व में रस की प्रतिष्ठा स्वीकार की है। अतएव प्रत्येक काव्यग्रंथ या कविता में रस का प्रवाहित होना परमावश्यक है। भावों की महत्ता को तो हम भी स्वीकार करते हैं परन्तु जैसा कि महामुनि भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में लिखा है रस के बिना भाव नहीं और भाव के बिना रस नही। वास्तव में रस और भावों की सिद्धि एक दूसरे पर ही निर्भर है। देखिए—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित:।
परस्परकृता: सिद्धिरनयो रसभावयो:॥

वस्तुत: हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में मलिक मुहम्मद जायसी का विशिष्ट स्थान है और प्रेमाख्यानक काव्यों में तो उनकी कृति 'पद्मावत' श्रेष्ठतम मानी जाती है तथा उसकी गणना हिन्दी के उल्लेखनीय महाकाव्यों में की जाती है।[1] आचार्य शुक्ल के शब्दों में "पद्मावत हिन्दी के सर्वोत्तम प्रबन्ध काव्यों में है। ठेठ अवधी भाषा के माधुर्य और भावों की

---

१ "पद्मावत भी रामचरितमानस की तरह भक्तिकाल की आध्यात्मिक साधना और लोकोन्मुख प्रवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला महाकाव्य है। भक्तिकाल में जिन भारतीय सन्तों और भक्तों ने आध्यात्मिक मानवतावाद, धार्मिक सहिष्णुता, लोकमंगल की भावना और सत्य की खोज की दृढ़ नींव रखी उसमें जायसी का प्रमुख स्थान है और अपनी साधनापूत भावनाओं और विचारों को उन्होंने अपने जीवन संदेश के रूप में पद्मावत में अपनी आगामी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रख दिया है। अत: मानव समाज में जब तक इन भावनाओं और विचारों का समादर होता रहेगा, पद्मावत भी देश और काल की सीमा का अतिक्रमण करके अडिग प्रकाश स्तम्भ की तरह अपने चिरन्तन प्रकाश की किरणें फैलाता रहेगा। पद्मावत की यह प्राणवत्ता केवल जायसी की प्राणवत्ता नहीं है

गंभीरता की दृष्टि से यह काव्य निराला है।"[2] यहाँ यह स्मरणीय है कि अपने इस काव्यग्रंथ में कवि ने यद्यपि आवश्यकतानुसार समस्त रसों की अभि-व्यंजना की है किन्तु उसमें शृंगार रस की प्रधानता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है और वास्तव में वह शृंगार रस प्रधान काव्य ही है। वस्तुतः शृंगार रस को तो साहित्य में सर्वदा ही सर्वाधिक महत्व दिया जाता रहा है तथा महामुनि भरत ने तो "यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्जवलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोप-मीयते' नामक उक्ति द्वारा जगत् में जो कुछ उत्तम, उज्जल तथा दर्शनीय है उसे ही शृंगार माना है। 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने भी कामोद्रेक को ही शृंगार की उत्पत्ति का कारण कहा है—

शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥

शृंगार रस के आलंबन नायक नायिका हैं; सखा दूती, मंडन, परिहास आदि अथवा षट्ऋतु, वन, उपवन, सरोवर, चन्द्र आदि उद्दीपन विभाव हैं, अनुभाव, अनुराग पूर्ण, भृकुटि भंग, हावभाव रोमांच और स्वेद हैं तथा स्थायी भाव रति है। "रतिमनोकूलेऽर्थे मनः प्रवणायितम्" के अनुसार मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्त होने का ज्ञान अथवा प्रिय वस्तुओं के प्रति चित्त के आकर्षित होने का भाव रति कहलाता है और यही नायक-नायिका में परस्पर अनुराग भी बढ़ाता है।

शृंगार के संयोग और वियोग नामक दो भेद किए जाते हैं तथा संयोग शृंगार में नायक-नायिका की संयोगावस्था का चित्रण किया जाता है और वह सुखात्मक ही होता है। रूप-वर्णन, हाव-चित्रण, उपवन, उद्यान सरोवर आदि के क्रीड़ा-विलास, परिहास-विनोद आदि का भी इसमें चित्रण किया जाता है। वियोग शृंगार स्वाभाविक ही दुःखात्मक होता है क्योंकि

---

बल्कि उसमें उस युग की समस्त प्राणधारा भी मिली है जिसे जायसी ने आत्मसात कर लिया था। अतः पद्मावत की जीवनी शक्ति मध्ययुग के समाज की हलचलों और प्रयत्नों की जीवनी शक्ति है और उसकी प्राणवत्ता उस युग के आदर्शों और साधनाओं की प्राणवत्ता है। उस युग की साधना का संदेश रामचरितमानस और पद्मावत में जितना अधिक मूर्तिमान हुआ है उतना अन्य किसी महाकाव्य में नहीं और जब तक उस संदेश का मूल्य बना रहेगा, पद्मावत का महत्व भी शाश्वत बना रहेगा।
—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास : डॉ० शम्भूनाथ सिंह (पृ० ४८०)

१ जायसी ग्रंथावली—संपादक आचार्य रामचंद्र शुक्ल (प्रथम संस्करण का वक्तव्य ; पृ० १)

उसमें प्रेमी-प्रेमिका के विच्छेद का चित्रण रहता है। वियोग शृंगार के—जो कि विप्रलंभ शृंगार भी कहलाता है—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण नामक चार भेद माने जाते हैं। पूर्वराग में संयोग से उत्पन्न होने वाली प्रेम पूर्ण व्याकुलता का चित्रण होता है। मान में नायक या नायिका के रूठने का वर्णन किया जाता है पर हिन्दी कवियों ने विशेष रूप से नायिका के ही रूठने का ही चित्रण किया है। प्रवास में नायक के विदेश-गमन का तथा करुण में किसी प्रबल व्यवधान के फलस्वरूप संयोग की आशा के क्षीणप्राय हो जाने अथवा नष्टप्राय हो जाने का वर्णन किया जाता है।

जायसी ने 'पद्मावत' में संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगारों का वर्णन किया है। रत्नसेन-नागमती और रत्नसेन-पद्मावती नायक दो युग्मों का अवलम्ब लेकर कवि ने संयोग के रसपूर्ण चित्र अंकित किए हैं। रत्नसेन-नागमती के संयोग का वर्णन तो केवल एक स्थान पर किया गया है पर पद्मावती और रत्नसेन के समागम को विशद रूप में अंकित किया गया है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि पद्मावती को प्राप्त करने के हेतु रत्नसेन ने न केवल अपना राज्य त्याग दिया था अपितु प्रसन्नता के साथ शूली पर चढ़ना भी स्वीकार कर लिया था और पद्मावती ने भी स्पष्ट रूप से यही कहा था—

जियैं तो जियौं मरौं एक साथा।

इस प्रकार के प्रेम में विभोर रहनेवाले नायक-नायिका का सुखद सम्मिलन ही कवि ने अपनी लेखनी का विषय बनाया है और संयोग वर्णन करते समय उसने प्रारम्भ में उन परिस्थितियों का भी चित्रण किया है जिनसे रस-व्यंजना में सहायता मिलती है। साथ ही उसने नायिका का रूप-वर्णन भी किया है[1] और इसमें कोई संदेह नहीं कि सोलह शृंगार और बारह आभरण

---

१ उदाहरणार्थ—

पदुमावति जो सँवरै लीन्ही। पूनिम राति दैयँ असि कीन्ही॥
करि मंजन तब किए अन्हानू। पहिरे चीर गयउ छवि भानू॥
रचि पत्रावली माँग सेंदुरा। भरि मोतिन्ह औ मानिक पुरा॥
चदन चित्र भए बहु भाती। मेघ घटा जानऊँ बग पाँती॥
सिरै जो रतन माँग बैसारा। जानऊँ गगन टूट लै तारा॥
तिलक ललाट धरा तस डीठा। जनहुँ दुइज पर नखत बईठा॥
मनि कुंडल खुंटिला औ खूँटी। जानहुँ परी कचपची टूटी॥
पहिर जराऊ ठारि औ बरनि न आवै भाउ।
माँग क दरपन गवन भा तौ ससितार देखाऊ॥

जायसी ने संयोग शृंगार में अभिसार का भी चित्रण किया है तथा कुछ पंक्तियां अश्लील भी हो गई हैं किन्तु प्रायः प्रेम के भावात्मक स्वरूप का ही चित्रण 'पद्मावत' में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। प्रथम समागम के अवसर पर जब पद्मावती रत्नसेन से पूछती है कि उसने जंबूद्वीप में रहते हुए भी सिंहल में उसका पता कैसे जान लिया—

पै तूँ जंबूदीप बसेरा।
किमि जानेसि कस सिंघल मेरा॥

तब रत्नसेन उसे अपनी सम्पूर्ण कथा सुनाता है और पद्मावती के प्रति अपने हृदयानुराग की झलक दिखाता है। प्रथम समागम के अवसर पर इस प्रकार का वार्तालाप स्वाभाविक ही जान पड़ता है और इस प्रकार की बातों के मध्य प्रणय के सात्विक भाव में उद्दीप्त हो दोनों एक दूसरे के बाहुपाश में आबद्ध हो जाते हैं--

कहि सतभाव भई कंठ लागू।
जनु कंचन औ मिला सोहागू॥

यहीं से जायसी ने संयोग शृंगार का विस्तृत वर्णन किया है जिसमें स्वाभाविकता और सुमधुरता का सहज सामंजस्य है। कुछ पंक्तियां देखिए —

चतुर नारि चित अधिक चिहूटै। जहाँ पेम बाँधै किमि छूटै॥
किरिरा काम केलि मनुहारी। किरिस जेहिं नहिं सो न सुनारी॥
किरिस होइ कंत कर तोखू। किरिस किहें पाव धनि मोखू॥
जेहि किरिरा सो सोहाग सोहागी। चंदन जैस स्याम कंठ लागी॥
गोदि गेंद कै जानहु लई। गेंदहुँ चाहि धनि कोंवर भई॥
दाखि दाख बेल रस चाखा। पिउ के खेल धनि जीवन राखा॥
बैन सोहावनि कोकिल बोली। भएउ बसंत करी मुख खोली॥

पिउ पिउ करत जीभ धनि सूखी बोली चत्रिक भाँति।
परी सों बूँद सीप जनु मोती हिए परी सुख साँति॥

जायसी ने षट्ऋतु वर्णन के अन्तर्गत भी संयोग शृंगार के चित्र प्रस्तुत किए हैं तथा प्रत्येक ऋतु का प्रभाव पद्मावती एवं रत्नसेन पर दिखलाया है किन्तु इस प्रकार के वर्णनों में न तो प्रकृति का ही मनोमुग्ध-कारी चित्र प्रस्तुत किया जा सका है और न संयोग की हृदगत् भावनायें ही अंकित हुई हैं। लक्ष्मी-समुद्र-खंड तथा चितौड़-आगमन-खण्ड में भी रत्नसेन पद्मावती को आलम्बन मानकर संयोग शृंगार के चित्र प्रस्तुत

किए गए हैं और संयोग के इन विविध प्रसंगों में शृंगार रस का संनिवेश अवश्य हो गया है किन्तु हृदयस्पर्शिता का कहीं-कहीं अभाव भी देख पड़ता है।

रसानुभूति के लिए पार्थक्य और वियोग दोनों की आवश्यकता पड़ती है। वियोग के उपरान्त होने वाला संयोग स्वाभाविक ही आनन्दप्रद प्रतीत होता है। बिना विरह के मिलन में स्वाभाविकता भी नहीं रहती और प्रेमियों के जीवन में तो सुख और दुःख दोनों ही क्रमानुसार आते-जाते रहते हैं—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का।
सुख दुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का, मन का॥

—आँसू : प्रसाद

विप्रलम्भ के प्रति भारतीय कवियों ने जो आग्रह व्यक्त किया है उसका भी यही कारण है कि विरहावस्था में रसानुभूति की प्रबलता भी रहती है। अलकापुरी से यक्ष को निर्वासित किए बिना प्रेयसी से उसका सम्मिलन क्या स्वाभाविक और आनन्द पूर्ण माना जा सकता है। कालिदास ने भी इसीलिए वियोग में रसानुभूति का महत्व स्वीकार करते हुए लिखा है—

स्नेहा नाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभागा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति॥

—उत्तरमेघ, ५१श्लोक

जायसी ने वियोग शृंगार का वर्णन विशेष रूप से किया है तथा नागमती रत्नसेन और पद्मावती रत्नसेन दोनों आलम्बनों का अवलम्ब लिया है किन्तु नागमती वियोग खण्ड में नागमती के विरह का अत्यधिक हृदयस्पर्शी चित्रण किया गया है। यद्यपि कवि का विरह-वर्णन कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण भी हो गया है तदपि उसमें गम्भीरता भी देख पड़ती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "ऊहात्मक पद्धति का दो चार जगह व्यवहार चाहे जायसी ने किया हो पर अधिकतर विरहताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यन्त विशद व्यंजना ही जायसी की विशेषता है। इन्होंने अत्युक्ति की है और खूब की है पर वह अधिकांश संवेदना के स्वरूप में है परिणाम निर्देश के रूप में नहीं।"[1] कवि ने विरह-ताप की मात्रा पर प्रकाश

१ जायसी ग्रंथावली—पं० रामचंद्र शुक्ल (भूमिका, पृष्ठ ३७)

न डालकर वियोग के हृदयस्पर्शी प्रभावों का ही चित्रण किया है और विरहताप के प्रभाव की व्यापकता का चित्रण करते समय कहीं-कहीं कल्पित प्रसंगों की भी उद्भावना की गई है। नागमती के अश्रुओं से तो सम्पूर्ण सृष्टि ही सिंचित सी जान पड़ती—

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आँसु घुँघची बन बोई।।
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी। तहँ तहँ होइ घुँघचि कै रासी।।
बूँद बूँद महँ जानहु जीऊ। गुञ्जा गूञ्जि करै पिउ पीउ।।
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते।।
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहू।

नागमती के विरह वर्णन के अन्तर्गत कवि ने बारहमासा का भी वर्णन किया है जिसमें प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के दिग्दर्शन के साथ-साथ वेदना के विभिन्न रूपों और कारणों पर प्रकाश डाला गया है। रत्नसेन के लौटने की आशा होते हुए भी नागमती व्यथित ही रहती है तथा प्रकृति के उद्दीपनकारी पदार्थ भी उसे असहनीय जान पड़ते हैं और अपनी सखी से अपनी हृदय की दशा का चित्रण करते समय उसने इस बारहमासा में होने वाली पीड़ा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। नागमती के विरह-वर्णन में स्वाभाविकता और भावुकता का समावेश इसीलिये सम्भव हो सका है क्योंकि रानी नागमती ने विरहावस्था में अपने रानीपन का विस्मरण कर स्वयं को एक साधारण स्त्री के रूप में ही देखा है। सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण ही उसकी विरहवेदना सबको आकर्षित कर सकी है। इस प्रकार नागमती के विरह-वर्णन की प्रशंसा करते हुए डॉ० कमल कुल-श्रेष्ठ ने उचित ही लिखा है—"वेदना का जितना निरीह, निरावरण, मार्मिक, गम्भीर, निर्मल, एवं पावन स्वरूप इस विरह वर्णन में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।"[1]

यद्यपि जायसी ने पद्मावती का विरह वर्णन भी किया है परन्तु नागमती के विरह वर्णन की सी मार्मिकता और विशदता इसमें नहीं दीख पड़ती। पूर्वराग के कुछ प्रसंग अवश्य सुन्दर बन पड़े हैं। प्रशंसा की बात है कि कवि ने रत्नसेन के विरह व्यथित मानस की सुकुमार भावनाओं का भी चित्रण किया है। वस्तुतः प्रेम में तो तुल्यानुराग का ही आदर्श स्वाभाविक माना जा सकता है और श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की—

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि पतंग तो जलता ही है दीपक भी जलता है।।

---

१ मलिक मुहम्मद जायसी—डॉ कमल कुलश्रेष्ठ

नामक उक्ति के अनुसार तुल्यानुराग की भावना ही श्रेष्ठतम समझी जाती है। नायक-नायिका परस्पर एक दूसरे के भावों का आलम्बन होते रहे हैं अतः दोनों के हृदय में एक-दूसरे के प्रति प्रेम-भावना रहना आवश्यकीय ही है। जायसी ने भी रत्नसेन के विरह का वर्णन कर तुल्यानुराग को ही प्रेम का आदर्श माना है। पद्मावती से विवाह होने के पूर्व तथा पश्चात् दोनों ही स्थलों पर कई ऐसे प्रसंग हैं जहाँ कि रत्नसेन की विरह-पूर्ण मनोभावनायें चित्रित की गई हैं। इस प्रकार जायसी श्रृंगार रस के दोनों पक्षों का सफलता के साथ चित्रण कर सके हैं।

श्रृंगार रस के उपरान्त 'पद्मावत' में वीर रस की व्यंजना ही विशेष रूप से की गई है और कवि वीर रस के वर्णन में सफल भी रहा है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है तथा आचार्यों ने हमारे जीवन के व्यापारों के अन्तर्गत आने वाले चार प्रमुख उत्साहों को काव्योपयोगी समझ युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर नामक चार विभाग वीर रस के किए हैं किन्तु यदि हम उत्साह को स्थायी मानकर और भी आगे विचार करें तो वीर रस के प्रतिज्ञावीर तथा कर्मवीर नामक कुछ और भी विभाग हो सकते हैं। कुछ आचार्यों ने प्रतिज्ञावीर को धर्मवीर के अन्तर्गत और कर्मवीर को युद्धवीर के अन्तर्गत रखने की चेष्टा की है परन्तु यदि ऐसा किया जाता है तो फिर दानवीर और दयावीर को भी धर्मवीर के अन्तर्गत मानना चाहिए। वास्तव में उत्साह के व्यापक क्षेत्र को सीमित कर देना उचित नहीं माना जा सकता।

जायसी ने तो वीर रस के अंतर्गत एक मात्र युद्धवीर का ही विशेष रूप से वर्णन किया है। युद्धवीर का आलम्बन विजेतव्य होता है तथा रौद्र रस का शत्रु और यदि ध्यान से देखा जाय तो दोनों में बड़ा सूक्ष्म अन्तर जान पड़ता है। विजेतव्य तो वही होगा जो कि शत्रु होगा क्योंकि अनुकूल रहने वालों को भला कौन शत्रु समझ सकता है? इस प्रकार शत्रु और विजेतव्य में व्यावहारिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। न तो बिना उत्साह के क्रोध ही होगा और न बिना क्रोध के उत्साह ही होगा, अतः स्वाभाविक ही युद्धवीर और रौद्ररस मिले-जुले से रहते हैं। यह अवश्य है कि कवियों ने इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर रखने के हेतु युद्धवीर के अन्तर्गत उत्साह के प्रबल प्रचंड वेग के साथ क्रोध को प्रायः सूक्ष्म स्थान दिया है और रौद्ररस के अन्तर्गत क्रोध के व्यापक प्रभाव को चित्रित कर उत्साह को उसका सहायक मात्र माना है। जायसी ने यद्यपि वीरोचित उत्साह का प्रदर्शन कुशलता के साथ किया है किन्तु क्रोध के प्रसंगों को

आवश्यकता रहते हुए भी पद्मावत में रौद्ररस की अभिव्यक्ति नहीं के समान है। राजा रत्नसेन को जब अलाउद्दीन का पत्र प्राप्त होता है तब क्रोधावेग की आवश्यकता होते हुए भी पत्र पढ़कर राजा केवल कुछ उग्र वचन कहकर ही पत्र की औचित्यता-अनौचित्यता पर विचार करने लगता है—

सुनि अस लिखा उठि जरि राजा। जानहु देव तड़पि घन गाजा ॥
का मोहिं सिंघ देखावसि आई। कहौं तौ सारदूल धरि खाई ॥
भलेहिं साह पुहुमीपति भारी। माँग न कोउ पुरुष कै नारी ॥

यह अवश्य है कि संचारी के रूप में अमर्ष तथा अनुभावों के रूप में उग्रवचन और क्रोध की झलक इस अवतरण में है किन्तु रौद्र रस का प्रवाह मंद ही जान पड़ता है। आचार्यों ने जो आत्मावदान कथन अर्थात् अपने मुँह अपनी प्रशंसा को रौद्र रस का अनुभाव माना है उसकी झलक भी पद्मावत में है किन्तु सब प्रकार से विचार करने पर यही जान पड़ता है कि जायसी के रौद्र रस वर्णन में न तो स्थायी भाव ही अपने पूर्ण रूप में प्रस्फुटित हुआ है और न अनुभावों तथा संचारियों की मात्रा ही पर्याप्त रूप में है। कदाचित जायसी का भावुक हृदय रौद्र रस की अभिव्यंजना के हेतु उपयुक्त न था।

'पद्मावत' में जिन युद्धों का वर्णन है उनमें से अलाउद्दीन एवं रत्नसेन, गोराबादल एवं अलाउद्दीन और रत्नसेन एवं देवपाल में होने वाले युद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये युद्ध ऐतिहासिक वर्णनात्मक शैली में ही वर्णित हैं तथा इनमें अमीर-उमरा एवं गढ़पति, घोड़े, हाथी सैनिकों का आगे बढ़ना, अस्त्र-शस्त्र आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रबन्ध-काव्य में वस्तु-वर्णन द्वारा कवि गण इतिवृत्तात्मक अंशों को भी सरस बना देते हैं। जायसी में भी वस्तु-वर्णन की क्षमता विद्यमान थी और उन्होंने युद्धवर्णन में वस्तुवर्णन पर ही विशेष ध्यान दिया है। अलाउद्दीन की चढ़ाई का वर्णन परम्परागत ही है किन्तु उसमें रसाभिव्यक्ति विशेष रूप से हो सकी है। देखिए -

आवै डोलत सरग पतारा। काँपै धरनि, न अँगवै भारा ॥
टूटहिं परबत मेरु पहारा। होइ चकचून उड़हिं तेहि झारा ॥
सत खंड धरती होइ षटखंडा। ऊपर अष्ट भए बरम्हंडा ॥
इन्द्र आइ तिन्ह खंडन्ह छावा। चढ़ि सब कटक घोड़ दौड़ावा ॥
जेहि पथ चल ऐरावत हाथी। अबहुँ सो डगर गगन महँ आथी ॥

औ जहँ जामि रही वह धूरी। अबहुँ बसै सो हरिचन्द पूरी॥
गगन छपान खेह तस छाई। सूरज छपा रैन होइ आई॥

बादशाह चढ़ाई खंड तथा राजा बादशाह युद्ध खंड नामक अध्याय में तो कवि ने चित्तौड़गढ़ पर अलाउद्दीन के आक्रमण, सेना की सजावट और तैयारी तथा युद्ध आदि के घमासान वर्णन तक ही अपनी दृष्टि रखी है किन्तु युद्धोत्साह की व्यंजना उसने किसी भी व्यक्ति द्वारा नहीं कराई है। गोराबादल के प्रसंग में अवश्य उत्साह से परिपूर्ण उमंग देख पड़ती है और जायसी ने कहीं-कहीं अतिशयोक्ति का अवलम्ब लेकर—

सहस सहस हस्तिन्ह कै पाँती।
खींचहि रथ डोलहिं नहिं माती॥

जैसी पंक्तियाँ भी लिखी हैं तथा कहीं-कहीं उपमा, दृष्टान्त एवं उत्प्रेक्षा के योग से युद्धवर्णन में सजीवता भी लाई है किन्तु एक स्थल पर तोपों को स्त्री के रूपक में प्रस्तुत कर वीर शृंगार का जो सम्मिश्रण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है उससे रसाभास ही हुआ है।

युद्ध की भीषणता के मध्य जायसी ने कुछ वीभत्स दृश्यों को भी प्रस्तुत किया है पर इस प्रकार के वर्णन परम्परागत ही हैं तथा उनमें न तो रसवर्णन की स्वाभाविकता ही है और न विभाव चित्रण की विशेषता ही है। गोरा बादल युद्ध खंड की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

टूटहिं सीस, अधर धर मारै। लोटहिं कंधहि कध निरारै॥
कोई परहिं रुहिर होइ राते। कोई घायल घूमहिं माते॥
कोइ खुरखेह गए भरि भोगी। भसम चढ़ाइ परे होइ जोगी॥

और भी—

लोटहिं सीस कबन्ध निनारे। माठ मजीठ जनहुँ रन ढारे॥
खेलि फाग सेन्दुर छिरकावा। चाँचरि खेलि आगि जनु लावा॥
हस्ती छोड़ धाइ जो धूका। ताहि कीन्ह सो रुहिर भभूका॥

पद्मावत में कुछ स्थलों पर तो कवि को कारुण्य धारा प्रवाहित करने में भी बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई है और रत्नसेन जब योगी बनकर सिंघल के लिए प्रस्थान करता है तथा पद्मावती नागमती सती खंड नामक अध्याय में करुण रस की अत्यधिक हृदयस्पर्शी व्यंजना हुई है। राजा रत्नसेन के सिंहल प्रस्थान करते समय उसकी वृद्धा माता, नागमती तथा अन्य रानियां जो रुदन करती हैं उसमें

स्वाभाविकता ही जान पड़ती है। विभाव, अनुभाव, और संचारी भावों को पूर्णरूपेण व्यंजना से प्रसंग अत्यधिक कारुणिक जान पड़ता है।

रत्नसेन के निधन के उपरान्त कवि ने जिन कारुणिक दृश्यों का चित्रण किया है उनमें मार्मिकता के स्थान पर गम्भीरता ही विशेष रूप से है। किन्तु कहीं-कहीं कुछ स्थल इतने करुणासिक्त हैं कि पाठकों के हृदय शोक से द्रवीभूत हो जाते हैं। नागमती और पद्मावती के विलाप में तो करुण रस अपने चरम बिन्दु पर पहुँचा हुआ जान पड़ता है। देखिए—

जियत कंत तुम हम्ह गर लाई। मुए कंठ नहिं छेड़ब साईं॥
और जो गाँठि कन्त तुम जोरी। आदि अन्त लहि जाइ न छोरी॥
यह जग काह जो अथहि न आथी। हम तुम नाह दुहूँ जग साथी॥

यद्यपि बहुत से विद्वानों ने शांत रस का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शान्त रस की भी स्वतन्त्र सत्ता है और उसे भी रस मानना ही उचित ही है। पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में लिखा भी है—

यद्यपि नाट्ये शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते तैरपि बाधकाभावान्महाभारतादि प्रबन्धानां शान्तरसप्रधानतया अखिल लोकानुभव सिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्यः। अत एवाष्टौ नाट्यरस इत्युपक्रम्य शान्तोऽपि नवमो रस इति मम्मटभट्टा अप्युपससंहार्षुः।

जायसी ने ईश्वर की वन्दना करते हुए तथा उपदेश देते हुए शांत रस की भी व्यंजना की है और पद्मावत, अखरावट तथा आखिरी कलाम तीनों में शांत रस की अधिकता है। ईश्वर पर अपना पूर्ण विश्वास व्यक्त करते हुए कवि कहता है—

कीन्हेसि सहस अठारह बरन बरन उपराजि।
भुगुति दिहेस पुनि सबन कहँ सकल साजना साजि॥

इसी प्रकार उपदेश में भी कवि ने निर्वेद भावों की प्रधानता रखी है—

का भूलौं एहि चंदन चोवा। बैरी जहाँ अंग कर रोवां॥
हाथ पाव सरवन औ आँखी। ए सब उहाँ भरहिं मिलि साखी॥
सूत सूत तन बोलहिं दोखू। कहु कैसे होइहि गति मोखू॥

अद्भुत रस और भयानक रस की व्यंजना तो स्वतंत्र रूप से प्रायः कहीं नहीं की गई है। वीर रस या रौद्र रस की व्यंजना के समय अद्भुत

रस की झलक अवश्य दृष्टिगोचर होती है और इसी प्रकार भयानक रस के प्रसंग भी सीमित संख्या में ही हैं। किलकिला समुद्र के वर्णन में अवश्य भयानक रस की स्वाभाविक अभिव्यंजना है—

भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु अकाश टूटै चहुँ ओरा॥
उठहिं लहरि परवत कै नाईं। फिरि आवहिं जोजन सौं ताईं॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा। सकल समुद्र जानहु भा ठाढ़ा॥
नीर होइ तर ऊपर सोई। माथे रंभ समुद्र जस होई॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन उचित ही है कि "हास्यरस का तो पद्मावत में अभाव ही है" और अखरावट तथा आखिरी कलाम में भी हास्य रस क झलक देख नहीं पड़ती। 'नागमती पद्मावती विवाह खंड' में जो रहस्य-गर्भित वाक्य तथा व्यंग्योक्तियाँ, हैं उनमें कहीं कहीं स्मित हास्य की झलक अवश्य है परन्तु रससंचार की समर्थता उनमें भी नहीं है।

जायसी को वात्सल्य रस की व्यंजना में भी सफलता प्राप्त हुई है तथा पद्मावत में कई स्थलों पर वात्सल्य रस का समावेश हुआ है। जब राजा रत्नसेन योगी होकर सिंहल जाने को तैयार होता है तब उसकी माता का हृदय वात्सल्य पूर्ण भावनाओं से परिपूर्ण सा हो जाता है और इसी प्रकार जब बादल रत्नसेन को मुक्त कराने की प्रतिज्ञा करता हुआ युद्ध यात्रा के लिए प्रस्थान को उद्यत होता है तब उसकी जननी के वात्सल्यपूर्ण हृदय में स्वाभाविक ही शंका जाग्रत हो उठती है—

बादलराय मोर तुइ बारा। का जानसि कस होइ जुझारा॥
बादसाह पुहुमीपति राजा। सनमुख होइ न हमीरहि छाजा॥
बरिसहिं सेल बान घन घोरा। धीरज धीर न बाधहिं तोरा॥
जहाँ दलपती दलमलहिं तहाँ तोर का काज।
आजु गवन तोर आवै बैठि मानु सुखराज॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि जायसी को रस-व्यंजना में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है परन्तु उन्होंने शृंगार, करुण, वीर और वात्सल्य का ही विस्तृत व सफलतापूर्वक चित्रण किया है तथा अन्य रसों का या तो संक्षेप में उल्लेखमात्र कर दिया है या सहायक के रूप में ही उनकी अभिव्यक्ति की है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रबन्ध-पटुता के साथ-साथ उनमें रस-वर्णन की क्षमता भी विद्यमान थी।

# सूर की सौंदर्यानुभूति

एच० एच० परखूरष्ट (H. H. Purkhurast)[1] का कहना है कि कला का प्रमुख लक्ष्य शब्दों के माध्यम से विश्वजनीन संघर्ष को प्रतिध्वनित करना है। वह प्रत्येक वस्तु सुन्दर है जो किसी सफल माध्यम के सही प्रयोग से उत्पन्न होती है, जो उसे व्यक्त करता है।[1] इसी प्रकार कैरिट[2] (Carritt) और थोरो[3] (Thoreau)[3] ने भी कलागत व स्वाभाविक सौन्दर्य दोनों को पूर्णतः समानजातीय मानते हुए कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है और वह न केवल अपने भावों को भाषा के माध्यम से दूसरों तक पहुँचाता है अपितु प्रकृति व कलाकृति दोनों को सौन्दर्य की दृष्टि से देखता और समझता भी है। साथ ही प्लेटो ने अपने फीड्रस (Phoedrus) नामक ग्रंथ में तथा प्लोटीनस (Plotinus) ने एनीड (Ennead) नामक कृति में सौन्दर्य को सत्य व मंगल की वृद्धि

---

1 The function of art, of all art is the echo in its own terms, the universal conflict. Any thing is beautiful that results from successful exploitation of a medium that exhibits.

—Beauty: H. H. Purkhurast

2 Artistic and natural beauty are thoroughly homogeneous. Every man is an artist not only in that heconveys his impressions to others by language, but because he perceives the beauty of the world and of art, each of which he must create or recreate for himself, since neither speakes to the animal.

—Carritt

3 And so it is with him that shoots at beauty; though he waits till the sky falls, he will not bag any if he does not already know its seasons and its haunts and the Colour of its wings, if he has not dreamed of it so that he can anticipate it; then indeed he flashed it at every step, shoots double on the wing with both parrels even in cornfields ........The true sportsman can shoot you almost any of his game from his window, what else has he eyes and windows for ?

—Autumnal Tints : Thoreau

करने वाला मानते हुए यही कहा है कि सौन्दर्य सेवा द्वारा मानव को दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है। प्लेटो का तो यहाँ तक कहना है कि काव्य में मूलतः एक उन्मादक प्रेरणा रहती है और सौंदर्य की पवित्रता का कारण भी यही है।[1] इस प्रकार कविता का राज्य सौन्दर्य ही है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो कविता सौन्दर्य का ही प्रतिमान रूप है तथा वह नूतन सौन्दर्य-सृष्टि भी करती है। साथ ही सौन्दर्य बाह्य जगत और आभ्यंतरिक जगत दोनों में ही पाया जाता है तथा बाह्य जगत वह जगत है जो नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो बाह्य जगत का अनुभूत ज्ञान ही कवि के अन्तर्जगत का मूलाधार है। बोसांके ने कहा भी है "Nature must be thought of in such a way that the law-abidingness of its form may be compatible at least with the possibility of the ends imposed by the laws of freedom which are to be effected within it. Therefore, there must, after all, be a ground of the unity of the Supra-Concious which lies at the root of nature with that which the conception of freedom practically contains—a ground of the conception of which, although unable to attain cognition of it (the ground) either in theory or in practice and therefore possessing no peculiar territory, nevertheless makes possible a transition from the mode of thinking dictated by the principles of the one world to that dictated by the principles of the

---

1 There is also a third kind of madness which is a possession of the Muses; this enters into delicate and virgin soul and there inspiring fancy, awakens lyric and all other numbers; with these adorning the myraid actions or the ancient heroes for the instruction of posterity. But he who not being inspired and having no touch of madness in his soul comes to the door and thinks that he will get into the temple, by the help of art—he, I say, and his poetry are not admitted.

—Jowetts Translation; page 579,

other world."[१] यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि कवि जहाँ नारी के अंग-प्रत्यंग का बाह्य-सौन्दर्य वर्णन करते हैं वहाँ उनके मानस की प्रेम एवं करुणा आदि आभ्यंतरिक भावनाओं का भी चित्रण करते हैं और यों तो एकमात्र बाह्य-सौन्दर्य का ही वर्णन करने वाले भी कवि कहे जाते हैं लेकिन मानसिक सौन्दर्य का वर्णन करने वाले उनसे भी अधिक श्रेष्ठ कवि या महाकवि कहलाते हैं[२] परन्तु अन्तर्जगत का सौन्दर्य चित्रण भावनाओं से ही सम्बन्धित हैं अतः कवि विशेष के भाव पक्ष पर विचार करने समय ही उस पर विचार किया जाता है। हम यह स्वीकार करते हैं कि सौन्दर्य के ये दोनों रूप पार्थिव और आध्यात्मिक इतने अधिक संश्लिष्ट हैं कि एक के अभाव में दूसरे की सत्ता अपने आप ही विलीन हो जाती है और सौन्दर्यानुभूति में सौन्दर्य के इन दोनों रूपों का घनिष्ट व परस्परावलम्बित सम्बन्ध है अतः सूर की सौन्दर्यानुभूति पर विचार करते समय हमें बाह्य-सौन्दर्य व आभ्यंतरिक सौन्दर्य दोनों पर ही विचार करना चाहिए।

वस्तुतः बाह्य सौन्दर्य पर विचार करते समय रूप-सौन्दर्य व प्रकृति सौन्दर्य दोनों पर विचार किया जाता है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय

1 Bosanquet's History of Aesthetic, Page 260.

२ ब्राउनिंग ने Fra Lippo Lippi में कहा भी है कि बाह्य उपादान कवि की भावाभिव्यक्ति के लिए तुच्छ ही हैं और वह उनका सहारा अवश्य लेता है पर अपने आंतरिक भावों से समुज्ज्वल करके अपनी अनुभूतियों से रंजित कर अपनी कलाकृति को एक प्रकार का अलौकिक व असाधारण रूप दे देता है—

However, you're my man, you have seen the world.
—The beauty and the wonder and the power,
The shapes of things, their colours, lights and shades,
Changes, surprises—and Good mope it all !
—For what ? Do you feel thankful, ah or no:
But why not do as well as say,—paint these
Just as they are, careless what comes as it ?
God's works—paint anyone, and count it crime
To let a truth sleep. Dont object His works
Are here already. Nature is complete.
Suppose you reproduce her (which you can't.)
There is no advantage ! you must beat her then.
For don't you mark ? We're made so that we love.
First when we see them painted, better to us
Which is the same thing Art was given for that,
Gods uses us to help each other soul.
Lending our minds out.

तो प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति उपेक्षा प्रकट करना सृष्टि-निर्माता ईश्वर के प्रति ही उपेक्षा दिखाना है कारण कि प्रकृति-सौन्दर्य-दर्शन से स्वाभाविक ही मन आनन्द विह्वल हो उठता है।[१] यद्यपि कतिपय विचारक प्राकृतिक जगत में देख पड़ने वाले सौन्दर्य को कलागत सौन्दर्य की अपेक्षा हीन समझते हैं[२] परन्तु प्रकृति तो मानव की आदिम सहचरी ही है और सृष्टि के प्रथम पुरुष ने जब अपने नेत्र खोले होंगे तब उसे सर्वप्रथम प्रकृति की अनूठी सुषमा ही दृष्टिगोचर हुई होगी अतः मानव का प्रकृति के साथ स्वाभाविक ही चिर साहचर्य स्थापित हो गया होगा। चूँकि प्रारम्भ से ही मानव में चिर साहचर्य से उद्भूत वासना या संस्कार रूप में प्रकृति के प्रति आकर्षण की भावना विद्यमान रही है अतः प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक के प्रायः सभी भाषाओं के कवियों ने प्रकृति के सुन्दर, विशद व भयंकर रूपों का विशद वर्णन किया है और इस प्रकार काव्य में प्राकृतिक दृश्यों

---

१ शेक्सपियर ने 'विंटर्स टेल' नामक कविता में प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ मानवीय व्यापारों के सौन्दर्य का सामंजस्य स्थापित करते हुए प्रकृति सौन्दर्य का महत्व स्वीकार किया है। देखिए—

When you do dance, I wish you
A wave o'the sea, that you might ever do
Nothing but that

2 "The beauty of nature, however, exhibits great defects. What are above all necessary for the exhibition of true beauty are inflanitude and freedom. The idea, as such is absolutely infinite. The idea is constituted by three factors, viz. (1) the unity of the Nation, which puts itself forth into (2) differences, plurolity, objectivity, which return again into (3) the concrete unity of the above two factors. Now what is essential here is that it is the Nation itself, which puts itself forth into differences, and then overreaches the distinctions within itself, which it has thus created. Its entire development is a development out of its own resources. It is thus wholly self-determined, infinite and free. Hence the beautiful object, if it is truly to manifest the idea must itself be infinite and free. It must, as in organism, evolve all its differences out of itself. They must be seen to proceed out of the ideal unity which is its soul.

के चित्रण की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है और अधुनातन कवियों तक ने उसे अपनाया है।

यद्यपि हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल में काव्य के अन्तर्गत प्रकृति विषयक भावना का कोई विशेष विकास दृष्टिगोचर नहीं होता पर इसका अर्थ यह नहीं कि तत्कालीन कवि इसमें अक्षम थे बल्कि वास्तविकता तो यह है कि युगीन परिस्थितियों की निरन्तर विपरीत अवस्था के कारण उस समय प्रकृति-चित्रण के लिए पर्याप्त अवकाश न था। इतना होते हुए भी प्रकृति के कुछ सुन्दर चित्र तत्कालीन कवियों ने अंकित भी किए हैं और कालांतर में भक्तकालीन काव्यधारा में वर्ण्य-विषय की परिधि को विस्तार देते हुए प्रकृति-वर्णन की प्रणाली को विशेष रूप से पल्लवित किया गया और सूर एवं तुलसी आदि कवियों ने अपनी काव्य-चेतना को इस ओर उन्मुख किया। चूँकि कृष्ण-भक्ति-शाखा के प्रमुख पात्र कृष्ण यमुनातट-वासी हैं और ब्रज की प्राकृतिक परिस्थितियों का ही विशद चित्रण कृष्ण-काव्य में किया गया है अतः "सूर-काव्य के अधिकांश भाग का विकास प्रकृति देवी के कमनीय क्रीड़ास्थल ब्रजभूमि के विस्तृत प्रांगण में हुआ है; जहाँ पर यमुना है और उसके निकटवर्ती वृन्दावन के रमणीक वन उपवन हैं, जहाँ पर गिरि गोवर्द्धन और उसकी सुन्दर कन्दराएँ हैं, जहाँ पर करील के सघन कुंज और कदम्ब के सुवासित वृक्ष हैं जहाँ पर मोर-

---

Now it is true that the living organism, regarded as a part of nature, does in a sense determine itself. Neverthless as being a mere link in the infinite net-work of the necessity of nature it is unfree. The animal, for example is wholly determined by its environments. Even man as a part of nature is thus externally determined. To a large extent he acts under the compulsion of his various physical and material needs. He is involved in that general net-work of necessity which is the universe. The beauty of nature, therefore, is essentially defective on account of the finitude of natural objects. If, therefore, the human mind is adequately to apprehend the Absolute in sensuous form, which is the demand of spirit in the present sphere, it must rise above nature. It must create objects of beauty for itself. Hence arises the necessity of Art."

—The Philosophy of Hegel By W. T. State (Page 445-446)

कोकिल आदि पक्षियों का मधुर कलरव गूँजा करता है। ऐसे प्राकृतिक वातावरण से सूर-काव्य का प्रभावित होना स्वाभाविक है।"[1]

वस्तुतः "हिन्दी काव्य में प्रकृति का पहला विशद वर्णन सूर-काव्य में मिलता है"[2] और इसका सर्वप्रधान कारण यह है कि कवि के काव्य नायक—बल्कि आराध्य—श्रीकृष्ण ब्रजभूमि में अवतरित हुए थे तथा उनका व्यक्तित्व प्रकृति की गोद में ही विकसित हुआ और प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र ही उनकी बाल-क्रीड़ाओं व किशोर-केलियों का रंगस्थल रहा; अतः सूर-काव्य में स्वाभाविक ही नायक कृष्ण के जीवन के साथ यमुना, कदम्ब कुंज, ऋतु परिवर्तन, दावानल और इसी प्रकार न जाने प्रकृति के कितने अन्य अंग गूँथ दिए गए। साथ ही स्वयं कविवर सूरदास का अधिकांश जीवन कलिन्दजा-तट पर तथा ब्रजभूमि में ही व्यतीत हुआ था अतः ब्रज की सम्पूर्ण भूमि से परिचित होने के कारण वह उनके काव्य का विषय भी बन गयी और ब्रज में श्रीनाथ जी की स्थापना कर वल्लभाचार्य ने उसकी महत्ता भी स्थापित कर दी अतः लीलानायक कृष्ण का जन्म स्थान होने के अतिरिक्त वह पुष्टि-मार्गी भक्तों का निवास स्थान भी था। इन्हीं सब कारणों से सूर ने ब्रज के प्रति अपना अनन्य प्रेम प्रकट करते हुए[3] ब्रज-प्रकृति को अपने

१ सूर-निर्णय—श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल (पृ० १२६)

२ सूर-साहित्य की भूमिका—डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी (पृ० २१०)

३ उदाहरणार्थ—

कहाँ सुख ब्रज कौ सौं संसार।
कहाँ सुखद बंसीवट जमुना यह मन सदा विचार॥
कहाँ बनधाम कहाँ राधासंग कहाँ संग ब्रजधाम।
कहाँ रस रास बीच अन्तर सुख कहाँ नारि तनु ताप॥
कहाँ लता तरु प्रति झूलनि कुंज कुंज बन धाम।
कहाँ विरह सुख बिनु गोपिन संग सूर स्याम मम काम॥

और भी—

गेहि बसिए ब्रज की बीथिन।
साधुनि के पनवारे चुनि चुनि उदरजु भरिए सीतनि॥
पैंडे म के बसन बीनि तन छाया परम पुनीतनि।
कुंज कुंज तर लोटि लोटि रचि रज लागौं रंगी तनि॥
निसि दिन निरखि जसोदा नन्दन और जमुना जल पीतनि।
दरसन होत सूर तन पावत दरसन मिलत अनीतनि॥

काव्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया है और यही कारण है कि "सूर-काव्य प्रकृति में डूबा हुआ है। कृष्ण का विकास जैसे ब्रज की प्रकृति में होता है उसी प्रकार सूर-साहित्य का विकास भी ब्रज-प्रकृति की छाया में ही होता है। ब्रज की प्रकृति ने उन्हें केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के लिए ही सामग्री नहीं दी है, वह उनके काव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित हुई है।"[1]

सूर के प्रकृति-चित्रण की रम्यता व भव्यता को समझने के पूर्व हमें उनके प्रकृति पर्यवेक्षण सम्बन्धी दृष्टिकोण को भी समझना होगा और यदि हम विचारपूर्वक देखें तो हमें प्रकृति सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण के दो पहलू स्पष्टतः दीख पड़ेंगे और एक ओर तो वे ब्रज प्रदेश के यमुना तट, करील कुंज, गोचर भूमि, मधुवन, गोवर्द्धन, वृन्दावन आदि में प्रकृति-सौंदर्य का अनन्त भण्डार भरा देखते हैं ओर दूसरी ओर ब्रजभूमि की नित्यता पर विश्वास कर उसे लोकोत्तर भी मानते हैं अतः उनकी दृष्टि में उस भूमि का नित्य परिचालित व्यापार भी नित्य है।[2] इस प्रकार सूर द्वारा अंकित प्रकृति ब्रज प्रकृति ही है तथा उन्होंने इन्हीं दो दृष्टियों से प्रकृति-चित्रण भी किया है पर उनके प्रकृति-वर्णन में एक विशिष्टता यह भी है कि उनका अधिकांश प्रकृति-वर्णन ऐसा है जिसमें ब्रजभूमि, उसकी प्रकृति और कृष्ण की बाललीलाएँ एकात्म हो गई हैं। संभवतः यही कारण है कि सूर के प्रकृति वर्णन का कदाचित ही कोई ऐसा स्थल होगा जहाँ उनके आराध्य कृष्ण प्रकृति से पृथक् रहे होंगे और सच तो यह है कि सूर आदि कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों को प्रकृति प्रायः कृष्ण के कारण ही प्रिय रही है। इसी लिए उनकी पैनी दृष्टि ने विस्तृत जगत की रंगस्थली से असंख्य पदार्थ खोज निकाले हैं लेकिन उनका सौंदर्य एकमात्र कृष्ण के सम्बन्ध से ही सार्थक हो सका है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने कहा भी है "प्रकृति चाहे उपमान बनकर आए, चाहे चित्रों की पृष्ठभूमि के निर्माण में उसका उपयोग हो, उसका अवलोकन सूरदास कृष्ण-प्रेम से रंजित दृष्टि द्वारा ही कर सकते हैं। प्रभात

---

१ सूर-सहित्य की भूमिका—डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी (पृ० २११)

२ नित्य धाम बृन्दाबन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रज बाम ॥
नित्य रास जल नित्य बिहार। नित्य मान खंडिताऽभिसार ॥
नित्य कुंज सुख नित्य हिंडोर। नित्यहि त्रिबिध समीर झकोर ॥
सदा बसन्त रहत जहँ बास। सदा हर्ष जहँ नहीं उदास ॥
कोकिल कीर सदा तहँ रोर। सदा रूप मन्मथ चितचोर ॥
बिविध सुमन घन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार ॥

इसीलिए सुन्दर है कि उस वेला में श्रीकृष्ण जागते हैं। प्रभात में विकसित होते हुए कमल श्रीकृष्ण के अधोंन्मीलित नेत्रों का सुखद स्मरण दिलाते हैं, कलरव करते हुए खग वृन्द कृष्ण की विरुदावली सी गाते हुए जान पड़ते हैं, विकसित कमलों पर मँडराते हुए गुंजायमान भ्रमरों के झुण्ड कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त उनका गुणगान करने वाले सेवकों जैसे लगते हैं। जिस प्रकार अरुण उदय होकर अंधकार को विदीर्ण कर देता है उसी प्रकार कृष्ण के जागने से समस्त दुःखदैन्य, द्वन्द्व, भ्रम, मत्सर-मद दूर हो जाते हैं और चारों ओर आनन्द का प्रकाश हो जाता है।"[१] इतना ही नहीं सूर के प्रकृति-चित्रण की एक अन्य विशिष्टता यह भी है कि उन्होंने अपने प्रकृति-वर्णन में प्रकृति की कोमल वृत्ति की ही प्रायः प्रतिष्ठा की है तथा कोमलता और आनन्द ही उनके प्रकृति-चित्रण के मूल तत्व हैं। सम्भवतः इन दोनों तत्वों की प्रधानता के कारण ही हम इन्द्रप्रेरित प्रलंयकारी वारिद खण्डों द्वारा वृष्टि होने और दावानल के विकराल स्वरूप धारण कर लेने के पश्चात् भी ब्रज में प्रकृति का वही पूर्व नित्य स्वरूप देखते हैं। साथ ही सूर-काव्य के प्रकृति-वर्णन में आनन्द तत्व भी इतना अधिक है कि विरह संतप्त गोपियों का विदग्ध हृदय भी एक अलौकिक आनन्द में डूबा हुआ सा दीख पड़ता है।

अपने An introduction to the study of literature नामक ग्रथ के on the treatment of Nature in poetry नामक परिशिष्ट में हडसन (W. H. Hudson) ने काव्य में प्रकृति का निम्नांकित रूपों में प्रयुक्त होना निरूपित किया है--The poetry of simple delight in nature, The poetry of Nature's sensuous beauty; The metaphorical use of Nature; Nature as back-ground; The poetry of association; The poetry of set-description; Indifference of Nature; The sympathy of Nature; The subjective treatment of Nature.[२] पर हमारे हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण की आलम्बन, उद्दीपन, अलंकार, मानवीकरण, नीति और उपदेश का माध्यम तथा प्रकृति में परमतत्व के दर्शन नामक प्रणालियाँ प्रचलित हैं और कवि-गण सुविधानुसार इन सभी को या इनमें से किसी विशेष को अपनाते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर के प्रकृति-वर्णन की समीक्षा करते

---

१ सूर मीमांसा—डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा (पृ० १९२-१९३)

2 An Introduction to the study of Literature
—W. H. Hudson (Page 319-331)

हुए कतिपय समीक्षकों का कहना है कि "कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग केवल अपनी भावना और कल्पना को सजग और मूर्त करने में किया है अतः प्रकृति-चित्रण की विविधता उसके काव्य में नहीं मिल सकती"[१] परन्तु हम इस मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि डॉ० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में "सूर ने प्रकृति का वर्णन निम्नांकित रूपों में किया है –

(१) प्रकृति का विषयात्मक चित्रण
(२) प्रकृति का अलंकृत चित्रण
(३) कोमल और भयंकर रूप
(४) प्रकृति मानव क्रिया-कलाप की पृष्टभूमि
(५) अलंकारों के रूप में प्राकृतिक दृश्यों का प्रयोग।"[२]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूर ने प्रकृति को मूलतः उद्दीपन रूप में ही ग्रहण किया है पर कई प्रसंग ऐसे भी हैं जिनमें कि प्रकृति आलम्बन रूप में भी अंकित की गयी हैं और इस प्रकार की उक्तियों में प्रकृति बहुधा साधक न बनकर साध्य बन जाती है तथा कवि अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षणी शक्ति द्वारा प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों के प्रति आकृष्ट होकर प्राकृतिक वस्तुओं के अंग प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आस-पास की परिस्थितियों का परस्पर संश्लिष्ट वर्णन करता है और अर्थग्रहण की अपेक्षा बिम्बग्रहण पर ही विशेष ध्यान देता है। इस प्रकार सूर ने भी प्रभात, वन, पत्रलता, पुष्प, यमुना, चन्द्रमा, मेघ, वसंत, वर्षा और शरद आदि का वर्णन करते समय प्रकृति के आलम्बन रूप की मधुर झाँकी प्रस्तुत की है। स्मरण रहे, कवि ने प्रातःकाल का वर्णन करते समय कहा है कि ब्रह्मयाम में मुर्गा बाँग देता है, शीतल पवन चलने लगता है, अंधकार दूर हो जाता है, पौ फटने पर सूर्य उदय होता है और नक्षत्र व चन्द्रमा निष्प्रभ हो जाते हैं, कमल विकसित हो उठते हैं, गायें चरने के लिए जंगल चली जाती हैं, ब्राह्मण नित्य कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं, चिड़ियाँ चहचहाने लगती हैं और चकवा-चकवी की बिछुड़ी जोड़ी मिल जाती है—

बोले तमचुर चार्‌यो जाम कौ गजर मार्‌यौ
पौन भयो सीतल तमि तें तमता गई।
प्राची अरुनानी, भानु किरनि उज्यारी नभ छाई
उड़ुगन चन्द्रमा मलीनता लई॥
मुकुले कमल, बच्छबन्धन बिछोह्यौ ग्वाल
चरैं चली गाई द्विज तैंती कर कौं दई।

---

१ सूरदास—डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा (पृ० ४९८)
२ सूरसौरभ—डॉ० मुंशीराम शर्मा (पृ० ४४८)

सूरदास राधिका सरस बानी बोलि कहै
 जागो प्रात प्यारे जू सबारे की समै भई ॥
चिरई चुहचुहानी, चाँद की ज्योति परानी
 रजनी बिहानी प्राची पियरी प्रधान की।
तारिका दुरानी तम घट्यौ तमचुर बोले,
 स्रवन भनक परी ललिता के तान की।
भृङ्ग मिलै भारजा बिछुरी जोरी कोक मिले
 उतरी पनच अब काम के कमान की।
अथवत आए गृह बहुरि उवत भानु
 उठै प्राननाथ महा जान मनि जानकी ॥

वस्तुतः इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण में पाठकों को प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन का सा आनन्द प्राप्त होता है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को प्रकृति के सौम्य, स्वच्छ व सुनिर्मल रूप का चित्रण करने में अप्रतिम सफलता प्राप्त हुई है। साथ ही सूर ने प्रकृति के विषाद, विकराल व भयावह रूपों के भी दर्शन कराए हैं और यद्यपि प्रकृति का इस प्रकार का चित्रण केवल प्रसंग वश ही हुआ है तथा उससे परोक्ष रूप में कृष्ण के शक्ति व शौर्य की अभिव्यंजना ही हुई है पर प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से इन उक्तियों को उल्लेखनीय अवश्य कहा जायगा। उदाहरणार्थ, दावानल का यह प्रसंग देखिए--

 भहरात झहरात दवा ( नल ) आयौ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन,
 धरनि आकास चहुँ पास छायौ ॥
बरत बन-बाँस, थरहरत कुस काँस
 जरि उड़त हैं बाँस, अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट फूल-फल चट-चटकि,
 फटत, लटलटकि द्रुम-द्रुम नवायौ ॥
अति अगिनि झार भम्भार धुंधार करि,
 उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत बनपात भहरात झहरात अररात,
 तरु महा धरनी गिरायौ ॥
भए बेहाल सब ग्वाल ब्रज बाल तब,
 सरन गोपाल कहिकै पुकार्यौ।
तृना केसी सकट बक अघासुर,
 बाम कर राखि गिरि ज्यों उबार्यौ ॥

डॉ० हरवंशलाल शर्मा के कथनानुसार "वस्तुतः सूर के प्रकृति वर्णन का महत्व उद्दीपन रूप में ही सर्वाधिक है। ब्रजभूमि की मोदमयी गोद में खेलते हुए राधा और कृष्ण के हृदय में जो पारस्परिक स्नेह का अंकुर फूटा, उसे ब्रज की प्रकृति ने अपनी सरसता से पल्लवित और पुष्पित किया; फिर उससे जो आनन्दमय प्रेम भक्ति सौरभ बहा वह सांसारिक विषयों के कटु रस में बहते हुए जनमय मधुपों को प्रेरणा देकर सच्चे आनन्द रस का आस्वादन करा सका। चतुर सखी की भाँति प्रकृति राधा और कृष्ण के मिलन के लिए उनके प्रेम-भाव को उद्दीप्त करने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करती है।"[1] वास्तव में संयोगावस्था में भी प्रकृति-सुषमा आनन्दोल्लास की उन्मुक्त अभिव्यक्ति करती है और उद्दीपन रूप में पारस्परिक रतिभाव की अभिवृद्धि करती हुई शारीरिक उपभोग की वस्तु बन जाती है तथा उसके शीतल स्पर्श व सुगंधि से सात्विक भाव उत्पन्न होते हैं। सूर-काव्य में प्रकृति के कई ऐसे मनोहर चित्र हैं जहाँ कि प्राकृतिक पदार्थ संयोगभावना को उद्दीप्त करते हैं; जैसे-

आजु निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै, रोम रोम सुखदाई॥
जमुना, पुलिन पुनीत, परम रचि मण्डली बनाई।
राधा बाम अंग पर कर धरि, मध्यहिं कुँवर कन्हाई॥
कुण्डल संग ताटंक एक भए, जुगल कपोलनि झाई।
एक उरग मानौ गिरि ऊपर, द्वै ससि उदै कराई॥
चारि चकोर परे मनु फन्दा, चलत हैं चंचलताई।
उड़पति गति तजि रह्यौ निरखि लजि, सूरदास बलि जाई॥

संयोग की भाँति वियोग में भी प्रकृति भावोद्दीपन का कार्य करती है तथा प्रिय के संयोगकाल में तो उद्दीपन पदार्थ भावोत्कर्ष कर सुखदायी बनते हैं पर वियोग में उनके द्वारा उद्दीप्त हुए भावों का आलम्बन समक्ष न होने के कारण प्रणय चेष्टाओं द्वारा रेचन सम्भव नहीं होता अतः विरही हृदय भार की अनुभूति करता हुआ व्यग्र हो उठता है और उसे वे ही सुखदायी पदार्थ दाहक प्रतीत होने लगते हैं तथा प्रकृति का सम्पूर्ण शोभा-सौंदर्य विरहावस्था में विषादमय बन जाता है।

---

१ सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा (पृ० ५२१-५२२)

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रकृति के इसी रूप का चित्रण सूर-काव्य में विस्तार साथ किया गया है और डॉ० किरणकुमारी गुप्त के शब्दों में "विप्रलम्भ शृंगार में तो सूर के उद्दीपन रूप में किए गए प्रकृति-वर्णन इतने अनूठे, सूक्ष्म तथा सरस हैं कि गोस्वामी तुलसीदास भी उनकी समता में नहीं लाये जा सकते।"[१] स्मरण रहे गोपियों की वियोगावस्था का चित्रण करते समय सूर ने बारहमासे की परम्परानुगत प्रथा के अनुरूप वसन्त,[२] पावस[३] और शरद्[४] आदि ऋतुओं का वर्णन भी किया है तथा विरहिणी गोपियों की मनोभावनाओं का चित्रण करने में उन्हें अप्रतिम सफलता भी प्राप्त हुई है।

---

१ हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण—डॉ० किरणकुमारी गुप्ता (पृ० १५८)

२ कोकिल हरि कौ बोल सुनाउ।
मधुबन तैं उपहारि स्याम कौं, इहि ब्रज कौं लै आउ॥
जा जस कारन देत सयाने, तन मन धन सब साज।
सुजस बिकात बचन के बदलैं क्यौं न बिसाहतु आज॥
कीजै कछु उपकार परायौ, इहै सयानौ काज।
सूरदास पुनि कहँ यह अवसर, बिनु बसन्त रितुराज॥

३ सिखिन सिखर चढ़ि टेर सुनायौ।
बिरहिन सावधान ह्वै रहियौ, सजि पावस दल आयौ॥
नव बादर बानैत, पवन ताजी चढ़ि चुटक दिखायौ।
चमकत बीजु सेल्ह कर मण्डित, गरज निसान बजायौ॥
चातक, पिक, झिल्ली गन दादुर, सब मिलि मारू गायो।
मदन सुभट कर बान पंच लै है ब्रज सन्मुख ह्वै धायौ॥
जनि बिदेस नन्दनन्दन लौं अब जनि त्रास दिखायौ।
सूर स्याम पहिले गुन सुमिरैं प्रान जात बिरमायौ॥

४ सरद समै हू स्याम न आए।
को जानै काहे तैं सजनी किहिं बैरिनि बिरमाए॥
अमल अकास कास कुसुमित छिति, लच्छन स्वच्छ जनाए।
सर सरिता सागर जल-उज्ज्वल अति कुल कमल सुहाए॥
अति मयंक मकरन्द कंज अलि, दाहक गरल जिवाए।
प्रीतम रंग संग मिलि सुन्दरि, रचि सचि सींचि सिराए॥
सूनी सेज तुषार जमत चिर बिरह सिंधु उपजाए।
अब गई आस सूर मिलबे की भए ब्रजनाथ पराए॥

है।"[1] गोपियों को प्रकृति में अपने प्रिय के से रूप या गुणों को देखकर प्रियतम की स्मृति हो आती है तथा श्याम मेघों में उन्हें प्रिय की श्यामता, इन्द्रधनुष में पीतपट की छवि, विद्युत में दाँतों की द्युति और बक-पंक्ति में मुक्ताहार का पूर्ण सादृश्य प्रतीत होता है।[2] विरहिणी गोपिकाएँ वियोग दुःख से दुःखी हों प्रकृति से अपना तादात्म्य भी स्थापित करती हैं और चेतन-अचेतन का भेद भुलाकर उसे अपनी सखी समझ लेती हैं तथा अपना दुःख निवेदन करती हैं।

वस्तुतः सूर ने गोपियों के साथ समस्त जगत को न रुलाकर केवल कृष्ण से सम्बन्धित प्रकृति को ही रुलाया है तथा सजीव प्राणियों में कृष्ण की पालित गायें ही दुःखी अंकित की गई हैं अन्यथा वन के स्वच्छन्द वातावरण में मग्न रहने वाली कोयल और सभी पक्षी सुखी माने गए हैं। साथ ही कृष्ण-वियोग में केवल यमुनातट व तटस्थ वृक्ष समूह ही श्रीविहीन कहे गए हैं; जगत के समस्त तरु नहीं, अतः इन सब दृष्टियों से सूर के उद्दीपन रूप में किए गए प्रकृति-चित्रण में स्वाभाविकता अधिक है।

सूर ने अलंकारों के रूप में प्रकृति का बहुत अधिक प्रयोग किया है तथा उपमा व उत्प्रेक्षा की उनके काव्य में भरमार सी है और साँगरूपक

---

१ अब वैं बातै उलटि गईं।
जिन बातनि लागत सुख आली, तेऊ दुसह भई॥
रजनी स्याम स्याम सुन्दर संग, अरु पावस की गरजनि।
सुख समूह की अवधि माधुरी, पिय रस-बस की तरजनि॥
मोर पुकार गुहार कोकिला, अलि गुंजार सुहाई।
अब लागति पुकार दादुर सम बिनही कुँवर कन्हाई॥
चन्दन चन्द समीर अगिन सम तनहिं देत दव लाई।
कालिन्दी अरु कमल कुसुम सम दरसन ही दुखदाई॥
सरद बसन्त सिसिर अरु ग्रीषम, हित रितु की अधिकाई।
पावस जरैं सूर के प्रभु बिनु, तरफत रैनि बिहाई॥

२ आजु घनस्याम की अनुहारि।
आए उनइ साँवरे सजनी, देखि रूप की आरि॥
इन्द्र धनुष मनु पीत बसन छवि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बग पाँति माल मोतिनि की, चितवत चित्त निहारि॥
गरजत गगन गिरा गोबिंद मनु, सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के, बिकल भईं ब्रजनारि॥

के भी विस्तृत चित्रण हैं तथा अतिशयोक्ति की भी अधिकता है; उदाहरणार्थ--

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज बर क्रीरत, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर अमृतफल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक मृग-मद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
अंग अंग प्रति और और छवि, उपमा ताकौं करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियौ सुधा-रस मानौ अधरनि के बड़ भाग॥

यद्यपि सूर ने रूप-सौन्दर्य के चित्रण में उपमा और उत्प्रेक्षा के अनेक उदाहरण दिए हैं पर उनके अधिकांश उपमान परम्परा-प्राप्त एवं कवि समय सिद्ध हैं[1] तथा प्रकृति के गिने-चुने स्वरूपों का ही उन्होंने बार-बार वर्णन किया है लेकिन इतने पर भी प्रकृति के प्रति उनका जो प्रेम है वह इस प्रकार के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है और इस प्रकार की उक्तियों में स्वाभाविकता ही है।[2] वस्तुतः अप्रस्तुत विधान में दी हुई वस्तु व्यापार-योजना से उनके मौलिक निरीक्षण का पता भी चलता है; जैसे--

पिय बिनु नागिनि कारी रात।
जौं कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात॥
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खात॥

१ नटवर वेष काछे स्याम।
पद कमल नख इन्दु सोभा ध्यान पूरन काम॥
जानु जंघ सुघट निकाइ नाहिं रम्भा तूल।
पीत पट काछनी मानहु जलज केसरी झूल॥
चिबुक पर अधरन दसन दुति बिंब बीजु लजाइ।
नासिका सुक नैन खंजन कहत कवि सरमाइ॥

२ देखि सखी अधरन की लाली।
मनि मरकत ते सुभग कलेवर ऐसे है बनमाली॥
मनो प्रात की छटा साँवरी ता पर अरुन प्रकास।
ज्यों दामिनि बिच चमकि रहत है फहरात पीत सुबास॥
कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि जुग फल बिम्बा पाके।
नासा कीर आय मनो बैठो लेत बनत नहिं ताके॥
हँसत दसउ एक सोभा उपजति उपमा जात लजाई।
मनो नीलमति पुट मुकतागन बन्दन भरि बगराई॥
किधौं बज्रकन लाल नगन खचि तापर विद्रुम पाँति।
किधौ सुभग बन्धूक सुमन पर झलकत जलकन काँति॥

अलंकारों के रूप में प्रकृति-चित्रण करने के अतिरिक्त कवि ने प्राकृतिक दृश्यों को भी आलंकारिक शैली में अंकित किया है और इस प्रकार के उदाहरणों में प्रकृति का अलंकृत चित्रण भी मिलता है। साथ ही सूर-काव्य में कृष्ण के क्रियाकलापों की पृष्ठभूमि के रूप में भी प्रकृति का यथा-तथ्य चित्रण किया गया है। उदाहरणार्थ; निम्नांकित पंक्तियों में प्रातः काल के दृश्य का वर्णन करते हुए माता यशोदा कृष्ण को जगा रही हैं—

भोर भयो जागो नन्दनन्दन। संग सखा ठाढ़े जगबन्दन॥
सुरभि पय हित बच्छ पियावैं। पंछी तरु तजि चहुँ दिसि धावैं॥
अरुन गगन तमचुरनि पुकारे। जागे साधु मलिन भये तारे॥
निसि निघटी रवि-रथ-रुचि साजी। चन्द मलिन चकई भई राजी॥
कुमुदिनि सकुची वारिज फूले। गुञ्जत फिरत मधुपगन भूले॥

तुलसी की भाँति सूर ने कहीं भी प्रकृति को उपदेश और नीति का माध्यम बनाकर अंकित नहीं किया पर प्रकृति में मानव रूप, मानव गुण, मानव क्रिया और मानव भावना का आरोप करने की ओर अवश्य कहीं-कहीं उनकी दृष्टि गयी है तथा इस प्रकार के प्रसंग संख्या में कम होते हुए भी कवि की काव्य-प्रतिभा के परिचायक अवश्य हैं; यथा—

देखियत कालिंदी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सौं, भई बिरह जुर जारी॥
गिरि प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि, तरँग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी॥
बिगलित कच कुस काँस कूल पर पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति दिसि दिसि दीन दुखारी॥
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी॥

प्रकृति में परम तत्व का आभास या उसे विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम मानने की ओर कवि ने रुचि नहीं दिखाई अतः सूर-काव्य में उन प्रसंगों का अभाव ही है जहाँ प्रकृति के माध्यम से आध्यात्मिक सत्य व प्रेम की अभिव्यक्ति की गयी हो लेकिन इन कतिपय न्यूनताओं से सूर का प्रकृति-चित्रण त्रुटिपूर्ण नहीं कहा जा सकता और हम देखते हैं कि अपने सीमित क्षेत्र में भी उनकी दृष्टि का अद्‌भुत विस्तार है और उन्होंने प्राकृतिक सुषमा से अपने

काव्य को पूर्णतः अलंकृत किया है। प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ कवि को रूप-चित्रण में भी पूर्ण सफलता मिली है और सूरसागर तो रूप-सौंदर्य का पारावार है तथा उसके अधिकांश पदों में सौन्दर्य कूट-कूट कर भरा हुआ है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि "रूप-सौन्दर्य की इतनी सुन्दर सृष्टि संसार के किसी भी महाकाव्य में विरल है। सूरदास को भगवान के विभिन्न रूपों से इतना प्रेम है कि वह उनकी प्रत्येक मुद्रा का विस्तृत वर्णन करते हैं और अपनी सारी सहृदयता और प्रतिभा का प्रयोग करते हैं। उन्होंने माधव के त्रिभंगी रूप को सैकड़ों पदों में अंकित किया है। राधामाधव के परस्पर प्रेम प्रदान करते हुए अनेक उत्कृष्ट चित्र कदाचित सूर ने इसलिए लिखे हैं कि उनकी कल्पना नए-नए रूपों की सृष्टि करते हुए थकती नहीं।"[१]

सूर ने कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का बहुत ही सजीव चित्रण किया है और सौन्दर्यानुभूति के लिए जो जो उपकरण आवश्यक हो सकते हैं वे सभी जुटाए हैं तथा अपनी कल्पना शक्ति का आश्रय ले उनका सुन्दर से सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है। डॉ० व्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में "सूरसागर में श्रीकृष्ण के शैशव से लेकर कैशोर अवस्था तक के असंख्य रूप चित्र हैं जिनमें कवि की भावना, कल्पना, कला कुशलता और शैली की चमत्कारिता एक साथ व्यक्त हुई है।"[२] इस प्रकार सूर-काव्य में कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का विस्तृत चित्रण किया गया है और कहीं तो बालकृष्ण के मधुर चित्र अंकित हुए हैं[३] तथा

---

१ सूर-साहित्य की भूमिका—डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी (पृ० १६७)

२ सूरमीमांसा—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा (पृ० १८१)

३ कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आँगन मैं नैन निरखि छबि पाई॥
कुलही लसति सिर स्याम सुन्दर कै बहु बिधि सुरंग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई॥
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मनमोहन मुख बगराई।
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आई॥
नील, सेत, अरु पीत लाल मनि लटकन भाल रुनाई।
मनि, सुर-असुर देव गुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई॥
दूध-दंत-दुति कहि न जात कछु अद्भुत उपमा पाई।
किलकत-हँसत दुरति प्रगटनि मनु घन मैं बिज्जु घटाई॥
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाई।
घुटुरुनि चलत रेनु तन मंडित सूरदास बलि जाई॥

कहीं युवा कृष्ण के सौन्दर्य का स्वाभाविक वर्णन किया गया है।[1] साथ ही कवि ने कृष्ण की सुन्दरता का चित्रण करते समय अलंकारों का भी प्रयोग किया है और उपमा व उत्प्रेक्षाओं की झड़ी सी लगा दी है[2] पर स्वाभाविकता, सरलता और सजीवता का कहीं भी अभाव नहीं दीख पड़ता। बाल्यकाल से लेकर किशोरावस्था तक दिन-दिन बढ़ते हुए कृष्ण की अगणित अवस्थाओं, परिस्थितियों एवम् भाँति-भाँति के मनोहर प्रसंगों की कल्पना कर रूप-सौन्दर्य के अनेक चित्र खींचे गये हैं और पालने में झूलने,[3] हँसने,

---

१ देखो माई सुन्दरता कौ सागर।
बुधि बिबेक बल पार न पावत मगन होत मन नागर॥
तनु अति स्याम अगाध अम्बु-निधि कटि पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजति भँवरि परति सब अंग॥
नैन-मीन मकराकृत कुंडल भुज भरि सुभग भुजंग।
मुक्तामाल मिली मानो द्वै सुरसरि एकै संग॥
कनक खचित मनिमय आभूषण, मुख स्रम-कन सुख देत।
जनु जल-निधि मथि प्रकट कियो ससि श्री अरु सुधा समेत॥
देखि सरूप सकल गोपीजन रही बिचारि-बिचार।
तदपि सूर तरि सकीं न सोभा, रही प्रेम पचि हारि॥

२ कटि तट पीत बसन सुदेस।
मनौ नव घन दामिनी, तजि रही सहज सुबेस॥
कनक मनि मेखला राजत, सुभग स्यामल अंग।
मनौ हंस-अकास-पंगति, नारि-बालक-संग॥
सुभग कटि काछनी राजति जलज-केसरि खंड।
सूर-प्रभु अंग निरखि माधुरि, मदन तन परयौ दंड॥

३ कनक रतन-मनि पालनौ, गढ़्यौ काम सुतहार।
बिबिध खिलौने भाँति के (बहु) गज-मुक्ता चहुँधार॥
जननी उबटि न्हवाइ कै (सिसु क्रम सौं लीन्हे गोद।
पौढ़ाये पट पालनैं (हँसि) निरखि जननि-मन-मोद॥
अति कोमल दिन सात के (हो) अधर चरन कर लाल।
सूर स्याम छबि अरुनता (हो) निरखि हरष ब्रज-बाल॥

**माता यशोदा द्वारा सुलाए जाने[1], किलकने[2], घुटनों के बल चलने[3], माता-पिता का हाथ पकड़कर चलने[4], तुतला कर बोलने[5] मक्खन दूध के लिए**

१ जसुदा मदन गोपाल सोवावै ।
देखि सयन-गति त्रिभुवन काँपै ईस बिरंचि भ्रमावै ।।
असित-अरुन-सित आलस लोचन उभय पलक परि आवैं ।
जनु रवि गत संकुचित कमल जुग, निसि अलि उड़न न पावैं ।।
स्वास उदर उससित यौं, मानौ दुग्ध सिंधु छबि पावैं ।
नाभि सरोज प्रगट पदमासन, उतरि नाल पछितावैं ।।
कर सिर-तर करि स्याम मनोहर, अलक अधिक सोभावैं ।
सूरदास मानौ पन्नगपति, प्रभु ऊपर फन छावैं ।।

२ हरि किलकत जसुदा की कनियाँ ।
मुख मैं तीनि लोक दिखराए, चकित भई नँद रनियाँ ।
घर-घर हाथ दिखावति डोलति, बाँधति गरैं बघनियाँ ।
सूर-स्याम की अद्‌भुत लीला नहिं जानत मुनिजनियाँ ।

३ सोभित कर नवनीत लिए ।
घुटरुनि चलत रेनु-तन-मंडत, मुख दधि लेप किए ।
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए ।।
लट लटकनि मनु मत्त मधुप गन मादक मधुहि पिए ।।
कठुला कंठ, बज्र केहरि नख, राजत रुचिर हिए ।
धन्य सूर एको पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए ।।

४ चलन चहत पाइनि गोपाल ।
लए लाइ अँगुरी नन्दरानी सुन्दर स्याम तमाल ।।
डगमगात गिरि परत पानि पर भुज भ्राजत नंदलाल ।
जनु सिर पर ससि जानि अधोमुख, धुकत नलिनि नभि नाल ।
धूरि-धौत तन, अंजन नैननि, चलत लटपटो चाल ।
चरन रनित नूपुर-धुनि, मानौ बिहरत बाल मराल ।।
लट लटकनि सिर चारु चखौड़ा, सुठि सोभा सिसु भाल ।
सूरदास ऐसौ मुख निरखत, जग जीजै बहु काल ।।

५ छोटी-छोटी गोड़ियाँ, अँगुरियाँ छबीली छोटी
नख ज्योती, मोती मानौ कमल-दलनि पर ।
ललित आँगन खेलैं, ठुमकि-ठुमकि डोलैं
झुनक-झुनक बोलैं पैजनियाँ मृदु मुखर ।।

मचलने, चन्द्रमा के लिए हठ करने [१], ग्वाल-बालों के साथ खेलने [२],

---

किंकिनी कलित कटि हाटक रतन जटि,
मृदु कर कमलनि पहुँची रुचिर बर।
पियरी पिछौरी झीनी, और उपमा न भीनी,
बालक दामिनि ओढ़ै बारौ बारि-धर ।।
उर बघनहाँ, कंठ कठुला, झँडूले बार,
बेनी लटकन मसि-बुन्दा मुनि-मनहर।
अंजन रंजित नैन, चितवति चित चोरै,
मुख-सोभा पर वारौं अमित असम-सर ।।
चुटकी बजावति नचावति जसोदा रानी,
बाल केलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर।
किलकि-किलकि हँसै, द्वै द्वै दँतुरियाँ लसै,
सूरदास मन बसै तोतरे बचन वर ।।

१ ठाढ़ी अजिर जसोदा अपनै हरिहिं लिए चन्दा दिखरावत।
रोवत कत बलि जाऊँ तुम्हारी, देखौं धौं भरि नैन जुड़ावत ।।
चितै रहे तब आपुन ससि-तन, अपने कर लै लै जु बतावत।
मीठौ लागत किधौं यह खाटौ, देखत अति सुन्दर मनभावत ।।
मनहीं मन हरि बुद्धि करत हैं माता सौं कहि ताहि मँगावत।
लागी भूख चन्द मैं खैहौं देहि देहि रिस करि बिरुझावत ।।
जसुमति कहति कहा मैं कीनौ, रोवत मोहन अति दुख पावत।
सूर स्याम कौं जसुमति बोधति, गग चिरैयाँ उड़त दिखावत ।।

२ बिहरत बिबिध बालक संग।
डगनि डगमग पगनि डोलत, धूर-धूसर अंग ।।
चलत मग, पग बजति पैजनि, परस पर किलकात।
मनौ मधुर मराल-छौना बोलि बैन सिहात ।।
तनक कटि पर कनक करधनि, छीन छबि चमकाति।
मनौ कनक कसौटिया पर, लीक सी लपटाति ।।
दुर दमंकत सुभग स्रवननि जलग जुग डहडहत।
मानहुँ बासव बलि पठाए, जीव कवि कछु कहत ।।
ललित लट छिटकानि मुख पर देति सोभा दून।
मनु मयंकहि अंक लीन्हो सिंहिका कै सून ।।
कबहुँ द्वारै दौरि आवत कबहुँ नन्द निकेत।
सूर प्रभु कर गहति ग्वालिनि चारु-चुम्बन हेत ।।

गोचारण के निमित्त वन जाने, मक्खन चुराने,[1] ऊखल से बाँधे जाने पर रोने-बिलखने आदि अनेक परिस्थितियों में कवि ने कृष्ण की छवि को अंकित किया है। वस्तुतः कृष्ण के रूप-लावण्य में इतना अधिक माधुर्य, आकर्षण, और प्रभाव है कि समस्त गोपबालाएँ पागल सी हो उठती हैं तथा उनके रूप-सौन्दर्य में प्रमत्त एक ब्रजांगना कहती भी है—

देखि री देख आनन्द कंद।
चित्त चातक प्रेम घन लोचन-चकोरनि-चंद॥
चलत कुंडल गंड मंडल झलक ललित कपोल।
सुधा सर जनु मकर क्रीड़त इंदु डहडह डोल॥
सुभग कर आनन समीपै मुरलिका एहि भाइ।
मनु उभै अम्भोज भाजन लेत सुधा भराइ॥
स्याम देह दुकूल द्युति छबि लसत तुलसी माल।
तड़ित घन संजोग मानो स्रोनिका सुक जाल॥
अलक अबिरल चारु हास बिलास भृकुटी भंग।
सूर हरि की निरखि सोभा भई मनसा पंग॥

वस्तुतः गोपियों के भाव से चित्रित किए गए कृष्ण के रूप चित्र असंख्य हैं और साधारणतः कवि ने कृष्ण के रूप में मानव सौन्दर्य की श्रेष्ठ कल्पना की है। सूर का कहना है कि कृष्ण के शरीर का अंग-प्रत्यंग लुभावना है, नख अत्यंत चमकीले हैं, चरणों का रंग अरुणाभ है, जानु और जंघाएँ मांसल तथा ऊपर से क्रमशः पतली होती जाती हैं, कटि क्षीण है, नाभि प्रदेश अत्यंत आकर्षक है और नाभि से वक्ष तक फैली हुई रोम

---

१ सखा सहित गए माखन-चोरी।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी॥
हेरि मथानी धरी माट तैं, माखन हो उतरात।
आपुन गई कमोरी माँगन हरि पाई ह्याँ घात॥
पैठे सखनि सहित घर सूनैं, दधि माखन सब खाए।
छूछी छाँड़ि मटुकिया दधि की हँसि सब बाहर आए॥
आई गई कर लिए कमोरी, घर तैं निकसे ग्वाल।
माखन कर, दधि मुख लपटानौ, देखि रही नन्दलाल॥
कहँ आए ब्रज बालक संग लै, माखन मुख लपटान्यौ।
खेलत तैं उठि भज्यौ सखा यह, इहिं घर आइ छपान्यौ॥
भुज गहि लियौ कान्ह एक बालक निकसे ब्रज की खोरि।
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी मन हरि लियौ अँजोरि॥

राशि उनके पुरुषत्व की द्योतिका है। साथ ही वक्ष पर मृग-चिन्ह हैं, भुजाएँ अजानु व विशाल हैं, कर कमल सदृश्य कोमल और अरुण हैं, अँगुलियाँ पतली व सुन्दर हैं, ग्रीवा, चिबुक, नासिका, अधर भी मनोहर छवि से पूर्ण हैं, रदन पंक्ति अत्यंत शुभ्र व श्वेत है, नेत्र अत्यंत विशाल, तीक्ष्ण व चंचल, भृकुटियाँ घनी और धनुषाकार हैं तथा मस्तक विशाल है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सूर ने कृष्ण के अंग-प्रत्यंग का विस्तृत चित्रण किया है और कभी-कभी तो किसी अंग विशेष पर ही उन्होंने कई पद लिखे हैं लेकिन इनमें पुनरुक्ति कहीं भी नहीं है; उदाहरणार्थ नेत्रों का वर्णन उन्होंने कई पदों में किया है परन्तु सर्वदा नई उद्भावनाएँ ही प्रस्तुत की गई हैं; जैसे—

अनिहिं अरुन हरि नैन तिहारे।
मानहुँ रति-रस भए रँगमगे, करत केलि पिय पलक न पारे॥
मंद मंद डोलत संकित से, सोभित मध्य मनोहर तारे।
मनहुँ कमल-संपुट महँ बीधे, उडि न सकत चंचल अलि बारे॥
झलमलात रति रैनि जनावत, अति रस-मत्त भ्रमत अनियारे।
मनहुँ सकल जुवती जीतन कौं, काम-बान खरसान सँवारे॥
अटपटात, अलसात पलक-पट, मुँदत कबहूँ करत उघारे।
मनहुँ मुदित मकरंद मनि आँगन खेलत खंजरीट चटकारे॥
बार-बार अवलोकि कनखियान, कपट नेह मन हरत हमारे।
सूर स्याम सुखदायक लोचन, दुखमोचक, रोचन रतनारे॥

और भी—

देखि री हरि के चंचल तारे।
कमल मीन कौं कहँ एती छबि, खंजन हू न जात अनुहारे॥
वह लखि निमिष नवत मुरली पर कर मुख नैन भए इक चारे।
मनु जलरुह तजि बैर मिलत बिधु, करत नाद बाहन चचकारे॥
उपमा एक अनूपम उपजति कुंचित अलक मनोहर भारे।
बिडरत बिझुरि जानि रथ तैं मृग जनु संसकि ससि लंगर सारे॥
हरि-प्रति अंग बिलोकि मानि रुचि ब्रज-बनितानि प्रान धन वारे।
सूर स्याम मुख निरखि मगन भई यह विचारि चित अनत न टारे॥

इस प्रकार लाला भगवानदीन के कथनानुसार "सूरदासजी बाह्य चक्षुओं से हीन अवश्य थे पर उनके अंतस् में परमात्मा का दिव्य स्वरूप समा गया था। उनको खाते-पीते, सोते-जागते हर समय उसी की मूर्ति का ध्यान बना रहता था। यही कारण है कि उन्होंने श्रीकृष्ण की मूर्ति के अनेक चित्र अपने शब्दों में खींच दिए और इतने सुन्दर खींचे कि कोई

चक्षुद्वय सम्पन्न चतुर चितेरा क्या खींचता।"[१] इतना ही नहीं कवि ने कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का चित्रण करते समय उनके वस्त्राभूषणों का भी वर्णन किया है और इस प्रकार उसका कहना है कि कृष्ण के कानों में मकराकृत कुंडल शोभायमान हैं तथा वे कण्ठ में कठुला, मुक्ताओं, केहरि नखों, वन फूलों आदि की मालाएं धारण करते हैं और कटि में पीत वस्त्र बाँधते हैं, शरीर पर पीत पिछौरी धारण करते हैं। इसी प्रकार कमर में किंकिणी, करों में पहुँची और अँगुलियों में मुद्रिकायें पहिनते हैं। कभी तो उनके मस्तक पर तिलक, कभी काजल रेखा और कभी चंदन लगा रहता है तथा उनका समस्त शरीर अंगरागों से सुवासित रहता है। सूर का कहना है कि कृष्ण जिस समय त्रिभंगी रूप में खड़े हो मुरली बजाने लगते हैं उस समय उनका रूप और भी निखर उठता है। इस प्रकार कवि कृष्ण के सौंदर्य को अनन्त, अपार और लोकातीत समझता है तथा उसका कहना है कि वह बुद्धि और विवेक से परे है। साथ ही उनकी शारीरिक शोभा सर्वदा एक सी नहीं रहती अपितु प्रतिक्षण उसमें नूतन आकर्षण दीख पड़ता है। कवि ने किसी गोपांगना से कहलाया भी है—

सखी री सुन्दर ताकौ रंग।
छिन छिन माँहि परति छवि औरे कमल नैन कैं अंग॥
परिमित करि राख्यौ चाहति हैं लागी डोलति संग।
चलत निमेष बिसेष जानियत भूलि भई मत भंग।
स्याम सुभग कैं ऊपर वारौं आली कोटि अनंग।
सूरदास कछु कहत न आवै भई गिरा गति पंग॥

वस्तुतः सूर की सौन्दर्य-भावना अत्यंत व्यापक है और धरती से आकाश तक मनुष्य से पशु-पक्षी व कीट-पतंगों तक तथा जड़ से चेतन तक उसका विस्तार है और उन्होंने पुरुष सौन्दर्य-चित्रण के साथ-साथ नारी के अंग प्रत्यंगों का भी सुन्दर मनोमुग्धकारी वर्णन किया है[२] यद्यपि सूर-काव्य में ऐसे

---

१ सूर पंचरत्न—लाला भगवान दीन और श्री मोहनवल्लभ पंत (अंतर्दर्शन, पृष्ठ १२७)

२ निरखि ब्रज-नारि छबि स्याम लजैं।
बिबिध बेनी रची माँग-पाटी सुभग,
भाल बेंदी-बिन्दु इंदु लाजै॥
स्रवन ताटंक, लोचन, चारु नासिका,
हंस, खंजन-कीर, कोटि लाजै।
अधर बिद्रुम, दसननहिं छबि दामिनी
सुभग बेसरि निरखि काम लाजै॥

प्रसंग कम ही हैं जहाँ कि कवि की मनोवृत्ति नारी के सौंदर्य-चित्रण में विशेष रूप से रमी है लेकिन कुछ स्थल तो ऐसे उपलब्ध हो ही जाते हैं जहाँ कि राधा व अन्य गोपबालाओं का प्रसंगानुसार चित्रण किया गया है। उदाहरणार्थ, निम्नांकित पद में कृष्ण और व्रजबालाओं की फाग-लीला का वर्णन करते समय कवि अपनी सौंदर्यभावना का ही परिचय देता है—

हरि संग खेलति हैं सब फाग।
इहि मिस करति प्रगट गोपी, उर अन्तर को अनुराग ॥
सारी पहिरि सुरंग, कसि कंचुकि काजर दै दै नैन।
बनि बनि निकसि निकसि भई ठाढ़ी, सुनि माधो के बैन ॥
डफ बाँसुरी रुंज अरु महुअरि बाजत ताल मृदंग।
अति आनन्द मनोहर बानी गावत उठति तरंग ॥
एक कोध गोबिन्द ग्वाल सब एक कोध ब्रज नारि।
छाँड़ि सकुच सब देत परस्पर अपनी भाई गारि ॥
मिलि दस पाँच अली चली कृष्नहिं गहि लावति अचकाइ।
भरि अरगजा अबीर कनक घट देति सीस तैं नाइ ॥
छिरकतिं सखी कुमकुमा केसरि, भुरकति बन्दन धूरि।
सोभित है तनु साँझ समै-घन आए हैं मनु पूरि ॥
दसहूँ दिसा भयो परिपूरन सूर सुरंग प्रमोद।
सूर बिमान कौतूहल भूले, निरखत स्याम-बिनोद ॥

---

चिबुक-तर कंठ श्रीमाल मोतिनि छबि,
कुच उँचनि हेम गिरि अतिहिं लाजै।
सूर की स्वामिनी, नारि ब्रज-भामिनी,
निरखि प्रिय प्रेम सोभा सु लाजे ॥

और भी—

बनी ब्रज-नारि सोभा भारि।
पगति जेहरि, लाल लँहगा, अंग पँच रँग सारि ॥
किंकिनी कटि कनित कंकन, कर चुरी झनकार।
हृदय चौकी चमकि बैठी, सुभग मोतिन हार ॥
कंठ श्री दुलरी बिराजति, चिबुक स्यामल बिंद।
सुभग बेसरि ललित नासा, रीझि रहे नँद-नन्द ॥
स्रवन बर ताटंक की छबि, गौर ललित कपोल।
सूर-प्रभु बस अति भए हैं, निरखि लोचन लोल ॥

कृष्ण के रूप-सौंदर्य की भाँति राधा का रूप-चित्रण भी आवश्यक था। अतः सूर ने राधा-सौंदर्य-वर्णन में अनेक पद रचकर नारी के रूप लावण्य-चित्रण में अपनी अद्‌भुत् क्षमता का परिचय दिया है और इससे स्पष्ट है कि उन्हें पुरुष व नारी दोनों के रूप-चित्रण में अप्रतिम सफलता प्राप्त हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूर द्वारा वर्णित राधा के रूप-सौंदर्य में भी कृष्ण की ही भाँति अनिर्वचनीयता व अलौकिकता है[1] और इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवीय रूप-सौंदर्य का चित्रण करने में सूर पूर्ण सफल रहे हैं तथा उनका मानवीय रूप-चित्रण अपनी काव्यगत विशिष्टताओं के लिए

---

१ उदाहरणार्थ—

नीलांबर पहिरे तनु भामिनि जनु घन में दमकति है दामिनि।
सेस, महेस, गनेस, सुकादिक, नारदादि मुनि की है स्वामिनि॥
ससि-मुख तिलक दियो मृगमद को खुटिला खुभी जराय जरी।
नासा तिल-प्रसून बेसरि छबि मोतियन माँग सुहाग भरी॥
अति सुदेस मृदु चिकुर हरत चित गूँथे सुमन रसालहिं।
कबरी अति कमनीय सुभग सिर राजति गोरी बालहिं॥
सिगरी कनक रतन मुक्तामय लटकत चितहिं चुरावै।
मानो कोटि-कोटि सत मोहिनि पाइनि अति लगावैं॥
काम-कमान समान भौंह दोउ चंचल नैन सरोज।
अलि-गंजन अंजन-रेखा हैं बरषत बान मनोज॥
कंबु-कंठ नाना मनि भूषन उर मुकुता की माल।
कनक - किंकिनी - नूपुर कलरव कूजत बाल मराल॥
चौकी-हेम चन्द्र-मनि लागी रतन जराइ खचाई।
भुवन चतुर्दस की सुन्दरता राधे मुखहिं रचाई॥
सजल मेघ घन स्यामल सुन्दर बाम अंग अति सोहै।
रूप अनूप मनोहर मोहै ता उपमा कवि को है॥
सहज माधुरी अंग-अंग प्रति सुबस किए ब्रज धनी।
अखिल - लोक - लोकेस बिलोकत सब लोकनि के गनी॥
कबहुँक हरि संग नृत्यति स्यामा स्रमकन हैं राजत यौं।
मानहुँ अधर सुधा के कारन ससि पूज्यो मुक्ता यौं॥
रमा उमा अरु सची अरुंधति दिन प्रति देखन आवैं।
निरखि कुसुमगन बरषत सुरगन प्रेम मुदित जस गावैं॥
रूप-रासि सुख रासि राधिके सील महा गुन रासी।
कृष्न-चरन ते पावहिं स्यामा जे तुव चरन उपासी॥

जग विख्यात है और जैसा कि श्री द्वारकादास परीख एवं श्री प्रभुदयाल मीतल का मत है "सूरदास ने कृष्ण, राधा और गोपियों के स्वरूप वर्णन में मानवीय सौंदर्य की चरम सीमा दिखला दी है। उन्होंने भौतिक चक्षुओं के अभाव में भी मानव के सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य को जितनी बारीकी से देखा है वैसा कोई नेत्रवाला कवि भी आज तक नहीं देख सका है। यही कारण है कि सूर-काव्य के साधारण पाठक को ही नहीं वरन् बड़े-बड़े विद्वानों को भी यह संदेह होने लगता है कि इस प्रकार के सांगोपांग वर्णन करनेवाला कवि जन्मांध कैसे हो सकता है। सूर-काव्य के रूप-वर्णन की यह विशेषता किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती।"[1]

श्री द्विजेन्द्रलाल राय के शब्दों में "जो कवि केवल बाहर के सौन्दर्य का ही वर्णन सुन्दर रूप से करते हैं, वे कवि हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जो कविजन मनुष्य के मन के सौन्दर्य का भी सुन्दर रूप से वर्णन करते हैं, वे बहुत बड़े कवि या महाकवि हैं।........बाह्य सौन्दर्य के वर्णन की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य के वर्णन में कवि की अधिक कवित्व शक्ति प्रकट होती है। बाहरी सौन्दर्य भीतरी सौन्दर्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनीय है। आकाश चिरकाल से जैसा नीला है वैसा ही नीला है। यद्यपि बीच-बीच में वर्षा आदि के अवसर पर उसका वर्ण धूसर या कृष्ण होता है—तथापि उसका स्वाभाविक रंग नीला ही है। समुद्र और नदियाँ तरंग पूर्ण होने पर भी उनका साधारण आकार एक ही तरह का रहता है। बल्कि पर्वत, वन, मैदान, पशु, मनुष्य इत्यादि का आकार बदलता ही नहीं, यह कहना भी अनुचित न होगा। किन्तु मनुष्य के हृदय में घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है, अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है और प्रतिहिंसा से कृतज्ञता का जन्म हो सकता है। जो कवि इस परिवर्तन को दिखा सकता है, जिसने अंतर्जगत के इस विचित्र रहस्य को खोलकर देखा है, उसके आगे मानसिक पहेलियाँ आप ही स्पष्ट हो गई हैं, उसके निकट मनुष्य हृदय की गूढ़तम जटिल समस्यायें सरल और सहज हो गई हैं। उसकी श्रद्धा के अनुसार नई नई मोहनी मानसी प्रतिमायें मूर्ति धारण करके पाठकों की आँखों के आगे खड़ी होती हैं। उसके इशारे से अंधकार दूर हो जाता है। उसका कवित्व राज्य दिगन्त प्रसारित आन्दोलन पूर्ण समुद्र के समान रहस्य पूर्ण है।"[2] इस प्रकार बाह्य

१ सूर-निर्णय—श्री द्वारका दास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल (पृष्ठ ३२३–३२४)

२ कालिदास और भवभूति—लेखक स्व० द्विजेन्द्रलाल राय; अनुवादक पं० रूपनारायण पाण्डेय (पृष्ठ ९८–९९)

जगत की भांति अंतर्जगत का चित्रण भी अपेक्षित है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो आभ्यंतरिक जगत का चित्रण कवि की भाव-व्यंजना से ही सम्बंधित रहता है लेकिन भावपक्ष पर विचार करना कोई सरल कार्य नहीं है क्योंकि मानव-मन की वृत्तियाँ बड़ी जटिल व अगम्य हैं तथा उनकी विचित्रता और विविधता में एकरूपता का अन्वेषण भी अत्यन्त दुष्कर कार्य है। चूँकि भाव प्रत्येक व्यक्ति के अंतस् का एक धर्म है अतः वर्णनातीत और अनुभवगम्य मात्र है। इस प्रकार किसी भी कवि की भावव्यंजना पर विचार करते समय भावों से तात्पर्य रीतिशास्त्र के रसपोषक भावों से ही रहता है अर्थात् उन्हीं भावों पर प्रकाश डाला जाता है जो कि रसपरिपाक में पूर्ण समर्थ हो सके हैं। जहाँ तक सूरदास का प्रश्न है "उनकी सम्पूर्ण मानसिक प्रक्रिया का आधार उनकी भक्ति-भावना ही है, जिसकी प्रकृति में ही भाव-प्रवण हृदय को संगीत और काव्य के रूप में अभिव्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति निहित थी। अतः संसार की क्षुद्रता और क्षणभंगुरता के कारण समस्त सांसारिक बंधनों से विरक्त इस कवि को भक्ति का वरदान पाकर जब अपने मानस के दबे हुए अक्षय स्रोत को खोलने का अवसर मिला तो उसकी वाणी सहज ही काव्य रूप हो गई। ... ...कृष्ण चरित्र के विभिन्न पात्रों का सूरदास ने आत्मीयता के साथ विविध रूप भक्तिभावना से भरा है। पात्रों की विविधता में व्याप्त अविच्छिन्न एकता का सूत्र वस्तुतः भक्त कवि की व्यक्तिगत भावना ही है। जो कवि इतने विविध रूपों में अपने व्यक्तित्व को प्रकाशित कर सका उसका भाव-जगत कितना सम्पन्न और क्रियाशील होगा।............सूरदास की भक्ति-भावना के मूल में संसार से वैराग्य का भाव काव्य के निर्वेद नाम से अभिहित किया जा सकता है। निर्वेद शांत रस का स्थायी भाव माना गया है। इस भाव का प्रबलतम प्रकाशन यद्यपि केवल विनय के पदों में हुआ है, परन्तु उसका सूत्र अविच्छिन्न रूप में समस्त काव्य में निरन्तर विद्यमान रहता है। ब्रज की लौकिक रूप में कल्पित, किन्तु वस्तुतः अलौकिक सृष्टि के जीवों को केवल कृष्ण के नाते लौकिक राग-द्वेष से उद्वेलित दिखाया गया; कृष्ण से इतर किसी प्रकार के लौकिक सम्बन्धों को कवि ने कभी सहन नहीं किया, उनके प्रति मनोविकारों के प्रकाशन की बात तो बहुत दूर है। प्राकृत जन और उनके सांसारिक भाव सूरदास के काव्य से बाह्य हैं। अतः संसार की क्षण-भंगुरता से उत्पन्न निर्वेद का भाव सूरदास के मानस का सबसे गहरा और आधार रूप भाव है।"[1]

---

१ सूरदास—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा (पृ० ४४९–४५०)

स्मरण रहे सूरदास आचार्यों द्वारा गिनाये हुए भावों एवं अनुभावों में ही बँधकर नहीं चले और उन्होंने दाम्पत्य रति के अतिरिक्त भगवद्विषयक रति व वात्सल्य रति को रस कोटि तक पहुँचाया है तथा आचार्यों द्वारा प्रतिपादित श्रृंगार-रस सम्बद्ध संचारियों के अतिरिक्त अन्य कितनी ही मनो दशाओं की अभिव्यक्ति कर श्रृंगार को रसराजत्व भी प्रदान किया है। चूँकि कवि का उद्देश्य भगवत्लीला वर्णन करना ही रहा है और कृष्ण की शील, शक्ति एवं सौन्दर्य नामक विभूतियों में से उसने सौन्दर्य का ही मूलतः चित्रण किया है अतः उसका वर्ण्य-विषय सीमित ही है और इस प्रकार बाल्य एवं यौवन अवस्थाओं के भावों व व्यापारों के चित्रण से ही सम्बन्ध रखने के कारण इन्हीं दोनों अवस्थाओं से सम्बद्ध वात्सल्य और श्रृंगार रसों की अभिव्यक्ति ही विशेष रूप से सूर-काव्य में हुई है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों के प्रवर्तक रति भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में श्रृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो सूर ने।"[१]

चूँकि वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्यासक्ति को विशेष महत्व दिया गया है अतः सूरदास ने भी वात्सल्य भावनाओं का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है[२] और संयोग व वियोग दोनों पक्षों के अनेक हृदयग्राही

---

१ सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १६७)

२ "सूरदास जी ने बाल-चरित्र-चित्रण करने में कमाल किया है। यहाँ तक कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि श्री गोस्वामी तुलसीदास जी भी इस विषय में इनकी समता नहीं ला सके हैं। हमें सन्देह है कि बालकों की प्रकृति का जितना स्वाभाविक वर्णन 'सूर' ने किया है उतना किसी भी अन्य भाषा के कवि ने किया है या नहीं। जो कुछ भी हो सूरदास इस विषय में अद्वितीय हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। सूरदास जी के साहित्य में यह अंश ऐसा है कि इसको निकाल देने से सूर का व्यक्तित्व लोप हो जाता है।............बाल-चरित्र ही इनकी कविता की आत्मा है, इसके बिना इनका साहित्य आत्मा-विहीन शरीर के ही समान है। पारिवारिक जीवन में घर की चहारदीवारी के अन्दर हमें बालकों की प्रकृति का जितना परिचय हो सकता है उसका ज्यों का त्यों स्वाभाविक वर्णन सूरदास जी से सुन लीजिये।"

———सूर पंचरत्न : लाला भगवान दीन और श्री मोहनवल्लभ पंत (अंतर्दर्शन, पृष्ठ १०८-१०९)

चित्र अंकित किए हैं[1] अतः एक ओर तो मातृहृदय से निःसृत होने वाली वात्सल्य रस स्रोतस्विनी का स्वाभाविक चित्रण किया है[2] तथा दूसरी ओर बालक के भोलेपन और रिस का भी सफल चित्रण किया है।[3] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सूर मातृ-हृदय के सूक्ष्म पारखी थे और उनका "मातृ-हृदय का चित्रण और वात्सल्य रस का वर्णन हिन्दी साहित्य में अमर रहेगा। कृष्ण के बाह्य अंगों एवं चेष्टाओं के साथ सूर ने उनके हृदय की नाना मनोरम वृत्तियों का उद्घाटन किया है। बाल्यावस्था की आंतरिक मनोदशाओं के सफल चित्रण के साथ उन्होंने मातृ-हृदय की बड़ी गहरी अनुभूति प्रकट की है। स्वर्गीय शुक्ल जी के शब्दों में बाल-हृदय का तो वे कोना-

---

१ "सूर का बाल-भाव-चित्रण तो प्रसिद्ध ही है। ऐसा रसपूर्ण तथा मुग्धकारी वर्णन भारतीय भाषाओं के कदाचित किसी भी कवि की कृति में न मिले। मातृ-हृदय की जिस प्रकार की संयोगा-वियोगात्मक अनुभूतियाँ, शिशु के संयोग-वियोग में होती हैं और जितना रूप-माधुरी का सुख किसी सुन्दर, चंचल तथा क्रीड़ाशील बालक को देखकर दर्शक-वृन्द लेता है उन सबका अनुभव सूर का भक्ति भावुक हृदय प्रबलता के साथ करता था।

—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डॉ० दीनदयालु गुप्त (पृ० ६१६-६१७)

२ जसोदा बार-बार यों भाखै।
है ब्रज में कोउ हितू हमारो चलत गोपालहिं राखै।।
कहा काज मेरे छगन-मगन को नृप मधुपुरी बुलायो।
सुफलत सुत मेरे प्रान हरन को काल रूप ह्वै आयो।।
बरु ये गोधन हरौ कंस सब मोहि बंदि लै मेलौ।
इतनो ही सुख कमल-नयन मेरो अँखियन आगे खेलौ।।
बासर बदन बिलोकत जीवो निसि निज अंकम लाऊँ।
तेहि बिछुरत जो जीवों कर्म बस तौ हँसि काहि बुलाऊँ।।

३ खेलन अब मेरी जात बलैया।
जब ही मोहि देखत लरिकन संग तबही खिझावत बलभैया।।
मोसों कहत तात वसुदेव को देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दै वसुदेव को, करि करि जतन बढ़ैया।।

कोना झाँक आये हैं पर हमारी सम्मति में मातृ-हृदय का भी कोई कोना उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रहा।"[1]

साथ ही शृंगार वर्णन में भी सूर को अद्वितीय सफलता मिली है[2] और "बाल्यावस्था से प्रेम का विकास दिखाकर सूर ने उसके संयोग और वियोग दोनों पक्षों का अतीव स्वाभाविक चित्रण किया है। उसने एक ओर जीवन के सौन्दर्य एवं माधुर्य प्रधान अंश का चित्रण करके खिन्न हृदयों को सांत्वना तथा जीवन से उदासीन और विरक्त व्यक्तियों को आशा प्रदान की है तो दूसरी ओर अतर्जगत के चित्रण में वियोग-व्यथा का व्यापक वर्णन करके एकनिष्ठ प्रेम द्वारा मानव को जीवन की जटिल पहेलियों के सुलझाने का मार्ग भी प्रदर्शित किया है। व्यावहारिकता और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में उसने अभूतपूर्व कार्य किया है।"[3] श्री गुलाबराय जी के शब्दों में "सूर के शृंगार की पृष्ठभूमि यद्यपि आध्यात्मिक है, वे राधाकृष्ण को प्राकृतिक पुरुष नहीं मानते वरन् वे उनको प्रकृति और पुरुष का रूप मानते हैं तथापि उनके वर्णन लौकिक हैं। सूर का उद्देश्य शृंगार का भौतिक आनन्द दिखाने का नहीं वरन् उनमें जो मानसिक तन्मयता आती है उसको दिखाना है।"[4] वस्तुतः सूर ने शृंगार के संयोग व वियोग दोनों पक्षों का वर्णन किया है और सूरसागर में तो संयोग शृंगार का अत्यन्त व्यापक वर्णन दृष्टिगोचर होता है। कवि ने संयोग शृंगार सम्बन्धी अनेक प्रसंगों का उल्लेख करते समय

---

अब बाबा कहि कहत नन्द सौं जसुमति सौं कहे मैया।
ऐसै ही कहि सब मोहि खिझावत तब उठि चल्यौ खिसैया॥
पाछे नन्द सुनत हैं ठाढ़े हँसत हँसत उर लैया।
सूर नन्द बलरामहि धिर्‌यो सुनि मन हरष कन्हैया॥

१ सूरसौरभ डॉ० मुंशीराम शर्मा (पृष्ठ ४८८)

२ "सूरदास जी का शृंगार रस वर्णन बड़ा विशद है और विप्रलम्भ शृंगार लिखने में तो उन्होंने वह निपुणता दिखलायी जैसी आज तक दृष्टिगत नहीं हुई।"

—रस, साहित्य और समीक्षायें : हरिऔध (पृ० १७२)

३ सूरसौरभ—डॉ० मुंशीराम शर्मा (पृ० ५५१)

४ हिन्दी-काव्य-विमर्श—डॉ० गुलाबराय (पृ० ९९)

रासलीला[1] आदि जितने भी संयोग क्रीड़ा सम्बन्धी विधान हो सकते थे उन सभी का वर्णन किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि रासलीला के चित्रण में संयोग-शृंगार अपनी पूर्ण उच्चता को पहुँच गया है।[2] यद्यपि कहीं-कहीं संयोग शृंगार के इन चित्रों में सूर की लेखनी अमर्यादित-सी हो गयी है और उन्होंने जयदेव व विद्यापति की भाँति नग्न शृंगार

---

तैसियै जमुना सुभग जँह रच्यो संग हिंडोल।
तैसियै वृज-बधू-बनि हरि चितै लोचन कोर।।
तैसोई बृन्दा-बिपिन-घन कुंज द्वार बिहार।
विपुल गोपी, बिपुल बन गृह, खन नंद कुमार।।
नित्य लीला, नित्य आनंद नित्य मंगल गान।
सूर सुर मुनि मुखनि स्तुति, धन्य गोपी कान्ह।।

१ रच्यो रास रंग स्याम सबहिनि सुख दीन्हो।
मुरली-सुर करि प्रकास, खग मृग सुनि रस उदास,
जुवतिनि तजि गेह बास बनहि गवन कीन्हो।।
मोहे सुर असुर नाग मुनिजन गन भए जाग,
सिव सारद नारदादि चकित भये ज्ञानी।
अमरनि सह अमर-नारि आईं लोकन बिसारि,
ओक ओक त्यागि कहति धन्य-धन्य बानी।
थकित गति भयौ समीर चन्द्रमा भयौ अधीर,
तारागन लज्जित भए मारग नहिं पावैं।
उलटि बहत जमुन-धार बिपरित सबहीं बिचार,
सूरज प्रभु संग नारि कौतुक उपजावैं।।

२ गति सुगन्ध नृत्यत ब्रज नारी।
हाव भाव नैन-सैन दै दै रिझवत गिरधारी।।
पग-पग फटकि भुजनि लटकावति, फन्दा करति अनूप।
चंचल चलत झूमिये अंचल अद्भुत है वह रूप।।
दुरि निरखत अंग रूप परस्पर दोउ मन ही मन रिझवत।
हँसि हँसि बदन बचन रस प्रगटत स्वेद अंग जल भींजत।।
बेनी छुटि लटैं बगरानी मुकुट लटकि लटकानो।
फूल खसत सिर ते भये न्यारे सुमन स्वाति सुत मानो।।
गान करति नागरि रीझे पिय लीन्हीं अंक लगाइ।
रस बस ह्वै लपटाइ रहे दोउ सूर सखी बलि जाइ।।

के भी ऐसे चित्र अंकित किए हैं जिनमें आलिंगन, चुम्बन, नखक्षत आदि बातों का समावेश हुआ है।[1] इस प्रकार के प्रसंगों में कवि कहीं तो प्रथम समागम का चित्रण करता है, कहीं विपरीत रति का, कहीं सुरति का और कही शृंगार सज्जा का परन्तु कतिपय समीक्षक इन उक्तियों को अश्लील नहीं मानते तथा उनका यही कहना है कि "सूरदास के शृंगार का वर्णन करते समय हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वे पहले भक्त थे और बाद में कुछ और। उन्होंने जो कुछ कहा है माधुर्य भक्ति के आवेश में। उनकी रचनाएँ शृंगार रस से सम्बद्ध उदाहरणों के उद्देश्य से नहीं लिखी गईं। सूर का तो बस इतना ही ध्यान था कि वे अपने प्रभु के सौन्दर्य का गान कर रहे हैं। उन्होंने यह कभी न सोचा कि आगे चलकर उनके साहित्य का क्या प्रभाव पड़ेगा अथवा उनकी रचनाओं में काव्य-शास्त्र के लक्षणों के उदाहरण भी आये हैं।"[2]

साथ ही यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि शृंगार रस के अन्तर्गत ही 'नायिका भेद का भी स्थान है और यद्यपि सूर का 'साहित्य लहरी' नामक ग्रन्थ नायिका-भेद सम्बन्धी ही है लेकिन सूरसागर में भी वचन-विदग्धा, क्रिया-विदग्धा, वासक सज्जा, खंडिता, मानवती, उत्कण्ठिता, प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, धीरा, अधीरा, अन्य सम्भोग दुखिता आदि नायिकाओं का सुन्दर वर्णन किया गया है। इतना ही नहीं नायकों के भी कुछ स्वरूप, सूरसागर में उपलब्ध होते हैं और दूती का भी वर्णन किया गया है अतः हम देखते हैं कि कवि ने संयोग शृंगार का अत्यन्त व्यापक वर्णन किया है और उसका ऐसा कोई भी पक्ष नहीं बचा जिसका

१ हरषि पिय प्रेम तिय अंक लीन्ही।
   पियँ बिन बसन करि उलटि धरि भुजन भरि,
      सुरति रति पूर प्रति निबल कीन्हीं।।
   आपने कर नखत अलक कुरवारही कबहूँ,
      बाँधे अतिहि लगत लोभा।
   कबहुँ मुख मोरि चुम्बन देत हरष है,
      अधर भरि दसन वह उनहि सोभा।।
   बहुरि उपज्यौ काम राधिका पति स्याम,
      मगन रस ताम नहिं तनु संभारै।
   सूर प्रभु नवल नवला नवल कुंज गृह,
      अंत नहिं लहत दोउ रति बिहरै।।
२ सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंश लाल शर्मा (पृ० ४८२)

वर्णन उनकी लेखनी ने न किया हो। स्मरण रहे, शृंगार रस के ही अन्तर्गत उन्होंने रूपक व उत्प्रेक्षा अलंकारों की सहायता से वीर रस का भी चित्रण किया है पर इससे रसाभास नहीं हुआ—

रूँधे रति संग्राम खेत नीके।
एक ते एक रणवीर जोधा प्रबल
मुरति नहिं नेक सबल जी के॥
भौंह कोदण्ड सर नैन जोधानु की
काम छूटनि कटाक्षनि निहारें।
हँसति द्विज चमक करिवरनि
लोहन झलक नखन छत नेज संभारें॥
पीत पट डारि कंचुकी भो चित करनि
कवच सन्नाह ए छुटे तन तें।
भुजाभुज धरत मनों द्विरद शुंडनि लरत
उर उरज भिरे दोउ जुरे मन तें॥
लटकि लपटानि मानो सुभट लरि परे
खेत रति सेज चुम्बितान कीन्हीं।
सूर प्रभु रसिक प्रिय राधिका रसिकनी
कोक गुन सहित सुख लूटि लीन्हीं॥

संयोग शृंगार की भाँति सूर के विप्रलम्भ शृंगार में भी व्यापकता व गम्भीरता दृष्टिगोचर होती है[1] और जैसा कि डॉ० रामकुमार वर्मा का कहना है "सूरदास ने मानव हृदय के भीतर जाकर वियोग और करुणा के जितने भाव हो सकते हैं उन्हें अपनी कुशल लेखनी से ऐसे अंकित कर दिए हैं कि वे अमर हो गए हैं। प्रत्येक भाव में आह की ज्वाला है, किसी में वेदना के आँसू और किसी में विदग्धता का कम्पन, हृदय की भावना अनेक रूप से व्यक्त होती है। एक ही भावना का अनेकों बार चित्रण होता है—नये नये रंगों से—और उनमें हृदय को व्यथित करने की शक्ति बराबर बढ़ती जाती है। ऐसा ज्ञात होता है मानो प्रत्येक पद एक गोपी है जिसमें वियोग की भीषण अग्नि धधक रही है।"[2]

---

१ "गोपियों की वियोग दशा का जो धारा प्रवाह वर्णन है उसका तो कहना ही क्या है। न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार उसके भीतर है। कौन गिना सकता है?"

—सूरदास: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १९९)

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० राम कुमार वर्मा (पृ० ६३४-६३५)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूर के वियोग वर्णन में पूर्णता ही है और आचार्य शुक्ल के शब्दों में "वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद है।"[१] इस प्रकार सूर-काव्य के अनेक पदों में विरह की अभिलाषा,[२] चिन्ता,[३] स्मरण,[४] गुण-कथन,[५]

---

१ सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १८७)

२ ऊधौ स्याम इहाँ लै आवहु।
ब्रजजन चातक मरत पियासे स्वाति बूँद बरसावहु॥
ह्याँ तैं जाहु विलम्ब करहु जिनि हमरी दसा जनावहु।
घोष सरोज भये हैं संपुट होइ दिन मनि बिगसावहु॥
जो ऊधौ हरि इहाँ न आवहिं तौ हमें वहाँ बुलावहु।
सूरदास प्रभु हमहिं मिलावहु तब तिहुँ पुर यस पावहु॥

३ उधौ अँखियाँ अति अनुरागी।
इक टक मग जोवति अरु रोवति भूलेहुँ पलक न लागी॥
बिनु पावस पावस करि राखी देखत हौ बिदमान।
अब धौं कहा कियौ चाहत हौ छोड़ो निरगुन ज्ञान॥
तुम हौ सखा स्यामसुन्दर के जानत सकल सुभाइ।
जैसे मिलै सूर के स्वामी सोई करहु उपाइ॥

४ इहिं बिरियाँ बन तें ब्रज आवते।
दूरहिं ते वह बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते॥
कबहुँक काहू भाँति चतुर चित अति ऊँचे सुर गावते।
कबहुँक लै लै नाम मनोहर धवरी धेनु बुलावते॥
इहि बिधि बचन सुनाय स्याम घन मुरछे बदन जगावते।
आगम सुख उपचार बिरह ज्वर बासर ताप नसावते॥
रुचि रुचि प्रेम पियासे नैबन क्रम क्रम बलहिं बढ़ावते।
सूरदास स्वामी तिहिं अवसर पुनि पुनि प्रकट करावते॥

५ एक द्योस कुंजन में माई।
नाना कुसुम लेइ अपनै कर दिये मोहिं सौं सुरति न जाई॥
इतने मैं घन गरजि वृष्टि करि तनु भीज्यौ मो भई जुड़ाई।
कंपति देखि उड़ाइ पीत पट लै करुना मय कंठ लगाई॥
कहँ वह प्रीति, रीति मोहन की कह अब धौं एती निठुराई।
अब बलबीर सूर प्रभु सखि री मधुबन बसि सब प्रीति भुलाई॥

उद्वेग,[1] प्रलाप,[2] उन्माद,[3] व्याधि,[4] जड़ता,[5] मूर्च्छा[6] और

---

१ हमारे माई मोरउ बैर परे ।
घन बरजैं गरजैं नहिं मानत त्यों त्यों रटत खरे ।।
करि एक ठौर बीनि इनके पंख मोहन सीस धरे ।
याहीं ते हमही को मारत हरि ही ढीठ करे ।।
कहि जानिए कौन सुन सखीरी ! हम सौं रहत अरे ।
सूरदास परदेस बसत हरि ये बनते न टरे ।।

२ गोपालहिं पावौं धौं किहि देस
सिंगी मुद्रा कर खप्पर लै करिहौं जोगिन भेस ।।
कथा पहिरि विभूति लगाऊँ जटा बँधाऊँ, केस ।
हरि कारन गोरखहिं जगाऊँ जैसे स्वाँग महेस ।।
तन मन जारौं भस्म चढ़ाऊँ बिरहा के उपदेस ।
सूर स्याम बिनु हम हैं ऐसी जैसे मनि बिनु सेस ।।

३ ऊधौ इतनी कहियो जाइ ।
अति कृस गात भईं ये तुम बिनु परम दुखारी ।।
जल समूह बरषति दोऊ अँखियाँ हूँ अति लीन्हे नाऊँ ।
जहाँ जहाँ गो दोहन कीन्हों सूँघति सोई ठाऊँ ।।
परति पछारि खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन ।
मानहु सूर काढ़ि डारी है वारि मध्य तैं मीन ।।

४ और सकल अंगन ते ऊधौ अंखियाँ अधिक दुखारी ।
अतिहिं पिराति रिसाति न कबहूँ जतन बहुत करि हारी ।।
चितवति मग सुनिमेष न मिलवति बिरह बिकल भई भारी ।
भरि गई बिरह बाइ माधव तन इक टक रहत उघारी ।।
अलि आली गुरु ज्ञान सलाका क्यों सहि सकत तुम्हारी ।
सूर सुअंजन आँजि रूप रस आरति हरौ हमारी ।।

५ रहीं जहाँ सो तहाँ सब ठाढ़ी ।
हरि के चलत देखियत ऐसी मनहु चित्र लिखि काढ़ी ।।
सूखे बदन स्रवनि नैननि तैं जल धारा उर बाढ़ी ।
कंधनि बाँह धरे चितवति मनु द्रुमनि बेलि दव दाढ़ी ।।
नीरस करि छाँडी सुफलक सुत जैसे दूध बिनु साढ़ी ।
सूरदास अक्रूर कृपा तैं सही विपति तन गाढ़ी ।।

६ जबहि कह्यो ये स्याम नहीं ।
परी मुरछि धरनी ब्रज बाला जो जहँ रही सु रहीं ।।

मरण[1] नामक ग्यारह अवस्थाओं का स्वाभाविक वर्णन किया है। साथ ही इन एकादश अवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक दशाओं का वर्णन भी सूर-काव्य में दृष्टिगोचर होता है और विरह में नींद नहीं आती, केवल इसी बात को लेकर सूर ने कई पद लिखे हैं। कवि का कहना है कि ब्रज बालाएं सोने का उपक्रम करती हैं पर दिन-भर की चिन्ता के कारण सो नहीं पातीं और यदि निद्रा आ भी जाती है तो जो कृष्ण जाग्रत अवस्था में मानस, नेत्र व जिह्वा पर विराजमान रहते थे वही स्वप्न में भी सम्मिलन सुख प्रदान करते हैं।[2]

शृंगार और वात्सल्य के अतिरिक्त अन्य रसों का भी वर्णन कवि ने प्रसंगानुसार किया है पर ये रस प्रायः स्वतंत्र न होकर किसी रस-विशेष के अंगी ही प्रतीत होते हैं तथा ऐसे स्थल संख्या में न्यून ही होंगे जहाँ हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत व वीर रस की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति हुई हो। हास्य रस की अभिव्यंजना तो कृष्ण के बाललीला सम्बन्धी पदों में ही विशेष रूप से हुई है और कहीं-कहीं आलंकारिक भाषा में व्यंग्य कराकर हास्य का उद्रेक करने की चेष्टा भी की गयी है परन्तु इन प्रसंगों में हास्य पूर्णतः रस कोटि तक नहीं पहुँच पाता। इतना अवश्य है कि दावानल के

---

सपने की रजधानी ह्वै गई जो जागीं कछु नाहीं।
बार बार रथ ओर निहारहिं स्याम बिना अकुलाहीं।।
कहा आइ करिहै ब्रजमोहन मिली कूबरी नारी।
सूर कहत सब ऊधो आए गईं काम-सर मारी।।

१ अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रम जल भीज्यौ उर अंचल तिहिं लालच न धुवावति सारी।।
अधमुख रहति अनत नहिं चितवति ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी।।
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भइ इक बिरहिनि दूजे अलि जारी।
सूरदास कैसे कर जीवैं ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी।।

२ हमको सपने में हू सोच।
जा दिन ते बिछुरे नन्द नन्दन यह ता दिन तें पोच।।
मनो गोपाल आये मेरे घर हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरनि भई निंदिया निमिष न और रही।।
ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखि कै आनन्दै पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियो जल आनि।।

प्रसंग में ब्रजवासियों की मनोदशा का चित्रण करते समय करुण[1] और भयानक[2] रस की स्वाभाविक व्यंजना हुई है तथा कंस के अभिमान-युक्त क्रोध का चित्रण करते समय कंस के क्रोध को भी रस की कोटि तक पहुँचा कर रौद्र रस की अभिव्यक्ति की गयी है।[3] सूर-काव्य में वीर रस के चार प्रमुख भेदों—दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर——में से केवल युद्धवीर[4]

---

१ अब कै राखि लेहु गोपाल।
दसहूँ दिसा दुसह दवागिनि उपजी है इहि काल॥
पटकत बाँस काँस कुस चटकत लटकत ताल तमाल।
उचटत अति अंगार फुरत पर झपटत लपट कराल॥
धूम धूँधि बाढ़ी उर अम्बर चमकत बिच बिच ज्वाल।
हरित बराह मोर चातक पिक जरत जीव बेहाल॥

२ ब्रज के लोग उठे अकुलाय।
ज्वाला देखि अकास बराबरि दसहूँ दिसा कछु पार न पाय॥
हरहरात बन-पात गिरत तरु धरनि तड़ाक हड़ाक सुनाय।
जल बरसत गिरिवर तर बाचे अब कैसे गिरि होत सहाय॥
लटकत जात जरि जरि द्रुम बेली, पटकत बाँस काँस कुसलाय।
उचटत करि अंगार गगन लौं सूर बरखि ब्रजजन बेहाल॥

३ यह सुनि कै नृप त्रास भर्यो।
सबन सुनाइ कही यह वाणी इह नन्द नन्द कह्यो!
मारो स्याम राम दोउ भाई गोकुल देउ बताई॥
आगे दै कै रजक मरायो स्वर्गहि देहु पठाई।
दिन दिन इनकी कहौं बड़ाई अहिर गये इतराई॥
तो मैं जो वाही को कहिकै उनको खाल कढ़ाई।
सूर स्याम यह करत प्रतिज्ञा त्रिभुवन नाथ कहाई॥

४ गह्यौ कर स्याम भुज मल्ल अपने धाइ,
झटकि लीन्हों तुरत पटकि धरनी।
भटक अति शब्द भयौ खटक नृप के हिएँ,
अटक प्रानन पर्यौ चटक करनी॥
लटकि निरखन लाग्यौ मटकि सब भूलि गयौ,
हटकि गयौ गटकि सब मीच जागी।
मुष्टि के मरदि, चाणूर चुरकट कर्यौ,
कंस के कंप भयौ रंगभूमि अनुरागी॥

की ही अधिकता दीख पड़ती है[1] तथा अद्भुत रस के भी कहीं-कहीं सुन्दर उदाहरण दीख पड़ते हैं[2] परन्तु वीभत्स रस का तो सर्वथा अभाव है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वात्सल्य व शृंगार के पश्चात सूर-काव्य में शान्त रस की ही अधिकता है और कतिपय समीक्षकों ने तो सूर-साहित्य की आत्मा शान्त रस को ही माना है। यों तो कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी सूर के पदों को शान्त रस के अन्तर्गत ही रखा जाता है लेकिन वास्तव में उनमें भक्ति रस नामक एक सर्वथा नूतन रस का विकास हुआ है और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी उसे उज्ज्वल रस मानते हैं। सूर के शान्त रस का एक सुन्दर उदाहरण यहाँ दृष्टव्य है—

जनम सिरानै अटकैं अटकैं।
राज काज सुभ बित की डोरी, बिन विवेक फिर्‌यौ भटकैं॥
कठिन जु गाँठि परी माया की तोरी जाति न झटकैं।
ना हरि भक्ति न साधु समागम रह्यौ बीच ही में लटकैं॥
ज्यौं बहु कला काछि दिखरावै लोभ न छूटत नट कैं।
सूरदास सोभा क्यों पावै पिय विहीन धनि मटकैं॥

इस प्रकार सूर की भावाभिव्यक्ति पर विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्हें अन्तर्जगत की भावनाओं का चित्रण करने में पूर्व सफलता प्राप्त हुई है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाह्य जगत व आभ्यंतरिक जगत दोनों का ही चित्रण उन्होंने कुशलता के साथ किया है। डॉ० शिवनन्दन प्रसाद के शब्दों में "सूर के मुक्तकों में सौन्दर्य, प्रेम ओर आनन्दोल्लास की ऐसी प्राणमयी धारा प्रवाहित है जिसके कारण सूर मध्य युग के नैराश्यपूर्ण वातावरण से प्रसूत जीवन के प्रति उदासीनता को धो बहाने में समर्थ हुए।"[2]

---

१ नन्दहिं कहत जसोदा रानी।
माटी कैं मिस मुख दिखरायौ तिहूँ लोक रजधानी॥
स्वर्ग पताल धरनि बल पर्वत बदन माँझ रहे आनी।
नदी सुमेरु देखि चकित भई भारी अरथ कहानी॥
चितै रहे तब नन्द जुवति मुख मन मन करत बिनानी।
सूरदास तब कहति जसोदा गर्ग कही यह बानी॥

२ हिन्दी साहित्य: प्रेरणाएं और प्रवृत्तियाँ— डॉ० शिवनन्दन प्रसाद (पृ० १००)

# मीरा की काव्य-सुषमा

जैसा कि डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी का कहना है "यदि भावावेश, हृदयावेग, तीव्र भावुकता तथा तन्मयता से विगलित शब्द विन्यास को कविता का विशेष लक्षण माना जाय तो मीरा के कवयित्री होने में शंका नहीं। यही नहीं, उनकी पदावली में भावोन्मेषकता एवं संगीत के विशेष गुण है जिनसे उनके काव्य का उत्कर्ष बहुत बढ़ जाता है। रस उत्पन्न करने की उसमें शक्ति है। वह आज भी वैसी ही सरस और मधुर है जैसे कि पहले थी। सम्भवतः ये गुण भविष्य में भी रहेंगे क्योंकि इनमें स्थायित्व के लक्षण हैं"।[1] वस्तुतः मीरा हिन्दी काव्य जगत की श्रेष्ठतम कवयित्रियों में से हैं और जैसा कि डॉ० श्रीकृष्णलाल ने उनकी काव्यकला पर विचार करते हुए लिखा है "मीरा के स्फटिक तुल्य स्वच्छ हृदय पर भक्तियुग की सभी विशुद्ध भावनाओं का प्रतिबिंब पड़ा था। कबीर और रैदास की निर्गुण ज्ञान भक्ति से लेकर चैतन्य और चंडीदास के राधा भाव तक की सभी विशुद्ध भावनायें मीरा की कविता में एक साथ मिल जाती हैं; साथ ही कबीर का अटपटापन, तुलसीदास की साम्प्रदायिक संकीर्णता और जयदेव तथा विद्यापति की परम्परागत अश्लील व्यंजनाओं का उसमें लेश भी नहीं है। यह सत्य है कि मीरा में वह पांडित्य नहीं, वह विद्या-बुद्धि नहीं, वह साहित्यिक शैली नहीं, परम्परा से प्राप्त वह कला की भावना नहीं जो सूरदास, तुलसीदास और विद्यापति की कविताओं में मिलती है परन्तु जहाँ तक विशुद्ध कवि-हृदय और नैसर्गिक प्रतिभा का प्रश्न है वहाँ मीरा इन कवियों से किसी प्रकार हलकी नहीं ठहरती।"[2] इस प्रकार हमारी दृष्टि में तो हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में मीरा का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

स्मरण रहे कि मीराबाई के नाम पर प्रचलित ग्रन्थों की प्रामाणिकता संदिग्ध ही है क्योंकि उनके समकालीन और परवर्ती सन्तों ने भी मीरा के नाम से पद रचना की है जिससे कि भाषा आदि में विभिन्नता देख पड़ने से यह कहना सहज नहीं है कि वास्तव में मीरा द्वारा रचित कृतियाँ कौन-कौन सी हैं परन्तु प्रायः सभी अधिकांश विचारकों

---

१ बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित 'मीरा स्मृति ग्रन्थ' की भूमिका से उद्धृत

२ मीराँबाई—डॉ० श्रीकृष्णलाल (पृ० १७९)

ने उनकी नरसी जी रो मोहेरो अथवा नरसी जी का माहरा या मायरा, गीतगोविंद की टीका, राग गोविन्द और राग सोरठ नामक रचनाओं का नामोल्लेख अवश्य किया है। कहा जाता है कि नरसी जी रो मोहरो की हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में है लेकिन कुछ विचारकों ने उसे मीरा द्वारा रचित स्वीकार करने में सन्देह प्रकट किया है परन्तु डॉ० सावित्री सिनहा ने अपने शोध-प्रबन्ध 'मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ' में उसे मीरा की ही कृति माना है। वस्तुतः मोहरो राजस्थान और गुजरात की एक प्रथा है जिनमें कि लड़की व बहन के घर उसकी सन्तान आदि का विवाह होने पर पिता या भाई द्वारा पहरावनी आदि ले जाई जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में नरसी भगत द्वारा अपनी पुत्री नानाबाई के यहाँ भात भरने की इसी प्रथा की कथा को पदों में अंकित किया गया है और सम्पूर्ण विषय का वर्णन मीरा की मिथुला नामक किसी सखी को सम्बोधित करके किया गया है। गीतगोविन्द की टीका नामक कृति का अभी तक कहीं भी पता नहीं चला है अतएव अब अधिकांश विचारकों का यही मत है कि मीरा द्वारा इस प्रकार की कोई रचना निर्मित ही नहीं हुई और महाराणा कुम्भ द्वारा रचित रसिक प्रिया टीका को ही भ्रमवश मीरा द्वारा रचित समझ लिया गया है क्योंकि भ्रमवश काफी समय तक कुम्भ का मन्दिर भी मीराबाई का मन्दिर कहला चुका है अतः कुम्भ द्वारा रचित गीतगोविन्द की टीका को मीरा द्वारा रचित समझ लेना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मीरा की उपलब्ध कृतियों पर गीतगोविन्द का प्रभाव इतना कम है कि इस बात पर विश्वास ही नहीं होता कि मीरा ने कभी गीतगोविन्द की टीका लिखी भी होगी और फिर उनके पदों से यह भी नहीं झलकता कि उन्होंने गीतगोविन्द का अनुशीलन किया भी था या नहीं ? यद्यपि महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार मीरा ने रागगोविन्द नाम से एक कविता ग्रंथ रचा था और आचार्य शुक्ल जी ने भी इस कृति का उल्लेख किया है परन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसके अस्तित्व के विषय में संदेह ही व्यक्त किया है।[१] रागसोरठ को मिश्र-बन्धुओं ने एक स्वतन्त्र ग्रंथ माना है और उसकी दो प्रतियों के प्राप्त होने का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९०२ की खोज रिपोर्ट में भी किया गया है तथा वहाँ इस ग्रंथ का नाम रागसोरठ का पद है लेकिन

---

१ मीराबाई की पदावली—श्री परशुराम चतुर्वेदी (भूमिका; पृ० १४)

उसमें मीरा के अतिरिक्त नामदेव और कबीर के पद भी संगृहीत हैं। मीरा के नाम पर मीराबाई का मलार नामक एक ग्रंथ और भी कहा जाता है तथा उसके विषय में ओझा जी का मत है कि यह "राग अब तक प्रचलित है और बहुत प्रसिद्ध है" परन्तु कुछ विचारक इसे स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं मानते। इसी प्रकार श्री के० एम० झावेरी ने भी गुजरात में प्रचलित बहुत से गर्वा गीतों को जो कि रास क्रीड़ा के गीतों की भाँति गाए जाते हैं मीरा रचित माना है परन्तु साहित्यिक दृष्टि से तो मीरा द्वारा रचित फुटकर पदों का ही विशेष महत्व है तथा मीरा की कृतियों के रूप में सर्वाधिक निश्चित जानकारी भी इन्हीं पदों के विषय में प्राप्त होती है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि केवल एन० बी० दिवेटिया की Gujarati Language and Literature नामक कृति के अतिरिक्त प्रायः जितने भी गुजराती साहित्य के इतिहास दृष्टिगोचर होते हैं उनमें मीरा को गुजराती भाषा की कवयित्री ही माना जाता है चाहे उनके पदों की लिपिमात्र ही गुजराती की हो और उनकी भाषा मिश्रित राजस्थानी या ब्रज ही क्यों न हो[1] लेकिन डॉ० जगदीश गुप्त ने तर्क पूर्वक यह सिद्ध कर दिया है कि मीरा ने ब्रजभाषा में ही रचना की है और गुजराती लिपि में प्राप्त उनके पदों में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य है[2] अतः मीरा को गुजराती साहित्य की कवयित्री मानना युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। चूँकि मीरा द्वारा पदों की रचना भिन्न-भिन्न समय पर

---

१ विशेष अध्ययन के लिए देखिए—

(क) Gujarat and Its Literature—श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी (पृ० १२५-१९१)

(ख) Classical Poets of Gujarat—श्री गोवर्द्धनराम त्रिपाठी (पृ० १२-२१)

(ग) Milestones of Gujarati Literature—श्री के० एम० झावेरी (अ० ३; पृ० २५-५१)

(घ) Selections form Classical Gujarati Literature-Vol. T.—श्री तारापोर वाला (भू० पृ० Xiii)

(ङ) Vaishnavas of Gujarat—थूथी (पृ० १४१-१५२)

२ मीरा के कुछ अप्रकाशित पद—डॉ० जगदीश गुप्त (मीरा स्मृति ग्रंथ, पृ० १४१-१५२)

भिन्न-भिन्न स्थानों में हुई होगी अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वे सभी स्वयं मीरा द्वारा ही रचित हैं या अन्य किसी तत्कालीन संत महात्मा या परवर्ती भक्त द्वारा क्योंकि उनमें भाषा और विचारों की सामंजस्यता का अभाव सा है। हिन्दी में अब तक लगभग तीस बत्तीस छोटे बड़े संग्रह मीरा के पदों के प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें से श्री नरोत्तम दास स्वामी की मीरा मंदाकिनी, श्री वियोगी हरि की मीराबाई, सहजोबाई दयाबाई, श्री परशुराम चतुर्वेदी की मीराबाई की पदावली और सुश्री पद्मावती 'शबनम' का 'मीरा वृहत् पद संग्रह' नामक संग्रह विशेष उल्लेखनीय कहे जाते हैं लेकिन इन सबमें चतुर्वेदी जी द्वारा सम्पादित मीराबाई की पदावली ही अधिक प्रामाणिक है।

वस्तुतः मीराबाई की पदावली का मुख्य विषय मीरा के आध्यन्तरिक भावों का पूर्ण प्रकाशन ही जान पड़ता है तथा इस प्रकार उनके पदों में सर्वत्र ही उनके व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब ही झलकता है। चूँकि उनमें बाल्यकाल से ही भक्तिभावना का प्राबल्य था अतः भक्ति कालीन सभी भक्त कवियों की भाँति उनका भी एकमात्र प्रमुख काव्य विषय भक्ति ही था लेकिन एक ही विषय होते हुए भी भक्तिकालीन कवियों की काव्य परम्परा सर्वदा सजीव और विकसित रही है क्योंकि उन्होंने अपनी रुचिवैचित्र्य, चिन्तन और मानसिक भावनाओं के कारण एक ही विषय की विविध प्रकार से अनुभूति की है तथा उसे विभिन्न रूपों और शैलियों में व्यक्त भी किया है परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि उन सभी में भक्ति-भावना की ही अधिकता है। इस प्रकार जैसा कि डॉ० भगीरथ मिश्र का कहना है "भक्त की स्वाभाविक भक्ति के साथ साथ गीति का निर्मल धवल स्रोत मीरा के पदों में बहता हुआ मिलता है"[1] अतः मीरा की काव्य सुषमा पर विचार करते समय हमें सर्वप्रथम उनकी भक्ति-साधना पर ही प्रकाश डालना होगा।

डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी के शब्दों में "मीरा प्रधानतः साकारोपासक थीं, न तो वे योगसाधिका थीं और न थीं निराकार उपासिका"[2] परन्तु कुछ ऐसे विचारक भी हैं जिन्होंने कि मीरा पर निर्गुण काव्य धारा का प्रभाव भी स्वीकार किया है और उनकी कविता में दोनों प्रकार की भावनायें मानी हैं तथा उन्हें संतमत से भी प्रभावित माना है। श्री

१ साहित्य, साधना और समाज--डॉ० भगीरथ मिश्र (पृ० १२९)

२ मीरा की रसानुभूति--डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी ( मीरा स्मृति ग्रंथ, पृ० २३८)

परशुराम चतुर्वेदी के कथनानुसार "मीराबाई की उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत हमें कुछ ऐसे भी पद मिले हैं जिनसे जान पड़ता है कि इन्हें कोरा सगुण भक्त अथवा श्रीकृष्ण अवतार की निरी प्रेमिका मात्र ही ठहराना पूर्ण सत्य नहीं है। इन रचनाओं द्वारा ये अपने इष्टदेव को पूर्ण ब्रह्म परमात्मा समझती हुई दीख पड़ती हैं और इनकी साधना का स्वरूप भी इनमें बहुत भिन्न लक्षित होता है। इन पदों में उसे ये न केवल निर्गुण निरंजन अविनाशी आदि कहकर ही व्यक्त करती हैं, किन्तु उससे मिलने के लिए एक नितांत भिन्न साधना की ओर भी संकेत करती हैं जिससे प्रकट होता है कि इन पर संतमत या निर्गुण पंथ का भी प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ चुका था। मीराबाई ने इसी प्रकार अपने कुछ पदों द्वारा ऐसे भाव भी प्रकट किए हैं जिनसे जान पड़ता है कि इन्हें संतों की सुरत शब्द योग नामक साधना का भी पूर्ण परिचय था तथा ये संभवतः उसका कुछ न कुछ अभ्यास भी कर चुकी थीं। उन्होंने संतों द्वारा प्रयुक्त सुरत, निरत शब्द, निज नाम, सुमिरन तथा अमर रूप जैसे प्रसिद्ध शब्दों के भी प्रयोग किए हैं तथा उन्हीं की भाँति उक्त साधना के महत्व को भी यत्र तत्र दर्शाया है।"[1] इसी प्रकार पं० चन्द्रबली पांडे ने भी कहा है कि "निश्चय ही मीरा का यह रंग सगुण भक्तों का रंग नहीं, कबीर आदि निर्गुण संतों का प्रसाद है। मीरा के एक दो नहीं अनेक पद ऐसे हैं जिनमें इसी सेज की चर्चा है।....तो भी इतना ती कहा ही जा सकता है कि मीरा साधना के क्षेत्र में निर्गुणी भले ही हों किन्तु भावना के क्षेत्र में तो सर्वथा गोपी ही हैं।....मीरा की भक्ति-भावना पर विचार करते समय यदि हम इस बात को दृष्टि में रखकर उनके पदों की छानबीन करें कि मीरा जब कभी संत मंडली में होती हैं तब संतों के रूप में अपनी भावना व्यक्त करती हैं। अन्यथा एकान्त में उनकी भावना भक्तों की ही रहती है।....मीरा के हृदय में जिस गिरधर गोपाल के प्रति बचपन में अनुराग उत्पन्न हुआ था उसके प्रति सदा बना रहा। मीरा ने कभी उसको शून्य महल में देखा तो कभी ब्रज के कण-कण में।"[2] यों तो सर्वप्रथम डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने ही मीरा को निर्गुण सम्प्रदाय की साधिका माना है और उनकी दृष्टि में चूँकि मीरा के पदों में हठयोग के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख तथा रहस्यानुभूति भी पाई जाती है और वल्लभ सम्प्रदाय में न तो कभी मीरा ने दीक्षा ही ली थी तथा न तो कभी उनकी स्मृति में रचित पदों को गोविन्द-गुणगान ही समझा था अतः मीरा

---

१ सन्तमत और मीरा - श्री परशुराम चतुर्वेदी ( मीरा स्मृति ग्रन्थ; पृ० ६३-६७)

२ हिन्दी कवि चर्चा—पं० चन्द्रबली पाण्डे (पृ० १६५-६९)

निर्गुण साधिका ही है। साथ ही चौरासी वैष्णवों की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में भी मीरा के प्रति वैष्णवों ने बड़े कटु वचन कहे हैं अत बड़थ्वाल जी इस दृष्टि से भी उन्हें निर्गुणोपासिका ही मानते हैं परन्तु यह तो स्पष्ट है कि मीरा के इष्टदेव गिरिधर नागर भगवान श्रीकृष्ण ही हैं तथा मीरा ने उन्हीं की उपासना भी अपने पदों में की है। वस्तुतः उनकी भक्ति का आलम्बन गोपी-वल्लभ श्रीकृष्ण ही थे जिन्होंने कि अपनी विविध लीलाओं को दिखाने के लिए ही अवतार लिया था और जिनकी मधुर मूर्ति पर मीरा ने अपना तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर कर दिया था। जहाँ कि आचार्य शुक्ल ने मीरा की भक्तिभावना पर विचार करते हुए बहुत पहले यह विचार व्यक्त किया था कि "मीराबाई की उपासना माधुर्य भाव की थी अर्थात् वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति रूप में करती थीं।"[१] पर डॉ० भगीरथ मिश्र का भी यही मत है कि मीरा की भक्ति स्त्री होने के कारण स्वभावतः माधुर्य भाव की ओर झुकी हुई है। उनके कृष्ण से वियोग दशा के उद्गार बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। वे कृष्ण की उपासिका थीं और उनका मधुर भाव निर्गुण सम्मत न होकर सगुण भक्ति सुलभ है।"[२] यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि मीराबाई को राधा जी का अवतार भी माना गया है[3] तथा स्वयं मीरा के पदों में कुछ ऐसे प्रसंग आते हैं जहाँ कि उन्होंने स्वीकार भी किया है कि वे भगवान श्रीकृष्ण के समय में एक गोपिका थीं और एक दिन कलिन्दजा कूल पर रास-क्रीड़ा करते समय भगवान ने उनके पति होने की प्रतिज्ञा की थी—

> रास रच्यो बंसी बट जमुना ता दिन कीनो कौल रे।
> पूरब जनम की मैं हूँ गोपिका अध बिच पड़ गई झोल रे॥
> और भी—
> मीरा के प्रभु गिरिधर नागर पुरब जनम को कौल रे।

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १८५)

२ साहित्य साधना और समाज—डॉ० भगीरथ मिश्र (पृ० ७१)

३ "गोपिकाओं के प्रेम को मीराबाई ने स्पष्ट कर दिखाया है जब जब धर्म पर से लोगों की श्रद्धा हट जाती है, तब तब उसको फिर से स्थिर कर देने के लिए मुक्त पुरुष इस विश्व में अवतार धारण करते हैं और अपने प्रत्यक्ष अनुभव और जीवन के द्वारा लोगों में धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। इसी तरह जब लोगों को गोपियों की शुद्ध भक्ति के विषय में अश्रद्धा उत्पन्न हुई तब गोपियों में से एक ने—शायद राधा जी ने—मीरा बाई का अवतार लेकर प्रेम-धर्म की स्थापना की।"

—जन्माष्टमी का उत्सव : आचार्य काका कालेलकर (जीवन-साहित्य, प्रथम भाग, पृ० ३८)

इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि मीरा के पदों में उनके इष्टदेव का सगुण स्वरूप ही अंकित हुआ है और उन्होंने न केवल अपने आराध्यदेव की विशेषताओं तथा उनकी लीलाप्रियता का विस्तार के साथ चित्रण किया है अपितु वे 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई' जैसे उद्गारों द्वारा अनन्य भाव से उन्हीं की उपासना भी करती हैं।

साथ ही यह भी कहा जाता है कि मीरा की भक्ति-साधना का तो कभी भी राज परिवार की ओर से विरोध नहीं हुआ अपितु राजकुल को संतमत और नाथ पंथियों की प्रवृत्तियाँ अवश्य पसन्द नहीं थी अतः मीरा को संतमत से प्रभावित समझना उचित नहीं है और जैसा कि डॉ० सावित्रा सिनहा का कथन है "युग की अनेकमुखी विचारधाराओं के प्रभाव से सर्वथा वंचित रहना किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भव है, मीरा के काव्य पर भी अपने युग की छाप पड़नी आवश्यक थी। अनेक संतों के सम्पर्क में आकर उन्होंने जो कुछ भी उनसे ग्रहण किया उसकी अभिव्यक्ति कृष्ण प्रेम के उद्गारों में उन्हें मिलाकर उन्होंने कर दी, पर इन उल्लेखों के आधार पर उन्हें संत सम्प्रदाय की साधिका नहीं ठहराया जा सकता है।"[१] यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मीरा की माधुर्योपासना कामवासना से रहित ही है और चाहे यत्किंचित कृष्ण विषयक उनके कुछ उद्गार परकीया रूप में व्यक्त हुए हों अन्यथा सर्वत्र ही उन्होंने स्वकीया की भाँति अपने आपको कृष्ण की पत्नी माना है। चूँकि मीरा स्वयं नारी हैं और वे अपने आराध्यदेव को पति रूप में बाल्यकाल में ही वरण कर चुकी है अतः उन्होंने अपने को किसी विशिष्ट दशा में न अंकित कर स्वाभाविक ही माधुर्य भाव की सभी स्त्री-सुलभ बातों की तदनुकूल शब्दावली में अभिव्यंजना की है जिससे कि उनकी उपासना और भक्ति-भावना में वास्तविकता ही प्रकट होती है। साथ ही मीरा ने कृष्ण के विविध रूपों का भी चित्रण किया है और इस प्रकार कभी तो वे उनके बाल-स्वरूप को देखती हैं कभी उनके गोचारण को, कभी माखन चोरी को और कभी तो उन्हें उनके उपालम्भ याद आते हैं तथा कभी उनकी मुरली सुनाई पड़ती है। इतना ही नहीं मीरा ने विनय के पद भी लिखे हैं तथा अपने इष्टदेव की सर्वशक्तिमता, असीम करुणा और दयार्द्रता की प्रशंसा करते हुए गज, गीध, अजामिल और गणिका आदि के उद्धार की याद दिलाते हुए अपने उद्धार की भी प्रार्थना प्रभु से की है परन्तु उन्होंने कहीं भी केवल उपदेश-मात्र देने का

---

१ मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—डॉ० सावित्री सिनहा (पृ० ११६-११७)

प्रयास नहीं किया और न बार-बार अपने पातकी तथा दीन होने की बात ही दुहराई है। वस्तुतः उनकी विनय में मानस की सच्ची लगन और कृष्ण के प्रति अपना अटल विश्वास विद्यमान है अतः जैसा कि डॉ० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है "मीरा कृष्ण प्रेम की वह अलौकिक मन्दाकिनी है जिसकी प्रतिमा सामान्य मानव भावों के गंदले नालों से उमड़ायी हुई किसी भक्ति-भाव भरिता कन्दलिता सरिता में पाना नितान्त असम्भव है।"[१] स्मरण रहे मीरा को किसी सम्प्रदाय-विशेष की समझना उचित नहीं है क्योंकि उन्होंने कभी भी कोई सम्प्रदाय या पंथ नहीं चलाया और वास्तव में उन्हें कृष्ण की अनन्य उपासिका ही समझना चाहिए।

मीरा की पदावली में उनका केवल भक्तरूप ही दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु वे एक सफल कवयित्री के रूप में भी दीख पड़ती हैं और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "मीरा बाई के पदों में अपूर्व भाव विह्वलता और आत्मसमर्पण का भाव है।"[२] वस्तुतः मीरा के काव्य में सर्वत्र ही भावपक्ष की प्रधानता सी दृष्टिगोचर होती है और उनकी काव्य-भावना मानस-प्रसूत ही जान पड़ती है तथा कविता के बहिरंग की अपेक्षा उन्होंने अंतरंग पर ही विशेष ध्यान दिया है। माधुर्य भाव की उपासना करने के फलस्वरूप उन्होंने अपने इष्टदेव के प्रति पूर्वानुराग की भावना भी व्यक्त की है और इस प्रकार सौन्दर्य तथा प्रेम दोनों का ही सफल चित्रण उनकी कविता में हुआ है। अपने प्रिय के रूप-सौन्दर्य का चित्रण उन्होंने अत्यन्त कुशलता के साथ किया है और वे सांवरे की दृष्टि मानों प्रेम की कटारी है नामक उक्ति द्वारा कहीं तो कृष्ण की दृष्टि को प्रेम की कटारी मानती है और कहीं उनके रूप पर आकृष्ट होकर 'दरसण कारण भई बावरी' नामक कह कर अपना उन्माद प्रदर्शित करती हैं और कभी तो 'वा मोहन के मैं रूप लुभानी' नामक उक्ति द्वारा स्पष्ट ही अपने आपको उस सांवरे के रूप पर लुभाई हुई मानती हैं[3] कुछ थोड़े से पदों के अतिरिक्त जिनमें कि शान्त

---

१ मीरा की भक्ति साधना--डॉ० उदय नारायण तिवारी (मीरा स्मृति ग्रन्थ, पृ० १४०)

२ हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (पृ० १९५)

३ वा मोहन के मैं रूप लुभानी।

सुन्दर बदन कमल दल लोचन,
बाँकी चितवन मन्द मुसकानी
जमना के नीर तीर धेनु चरावै,
बंसी में गावै मीठी बानी ॥

रस की अधिकता है शेष अधिकांश पदों में शृंगार रस की ही प्रधानता है लेकिन मीरा की शृंगार भावना और विद्यापति की शृंगार भावना में अत्यधिक अन्तर है क्योंकि विद्यापति ने तो शृंगार रस की ओट में अश्लीलतापूर्ण पदों का ही सृजन किया है और उनकी पदावली में निरे वासनामूलक चित्रों की ही बहुलता है जब कि मीरा के पदों में शृंगार रस होने पर भी उन्माद की अधिकता न होकर अपूर्व शान्ति ही दृष्टिगोचर होती है और उनकी कविता अलौकिक शृंगारमूलक है।

वस्तुतः संयोग की अपेक्षा वियोग में रसानुभूति की प्रबलता रहती है और भारतीय कवियों ने तो विप्रलम्भ के प्रति कदाचित् इसीलिए अपना आग्रह भी व्यक्त किया है। अतः मीरा ने भी अपने पदों में विरह-भावनाओं का स्वाभाविक चित्रण किया है तथा उनके विरह-निवेदन में जिस पीड़ा का वर्णन किया गया है वह अत्यन्त गंभीर और अनिवर्चनीय है। श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के शब्दों में "मीरा की वेदना में वह विलास की चाँदनी नहीं है जो नशे में इधर उधर उड़ा करती है। उसका प्रेम दिवानी मुख होता हुआ भी मानवी पिपासा, उत्कण्ठा और हार्दिकता से परिपूर्ण है। उसमें मिलन की उमंग भरी प्यास है। मीरा की वेदना काँटे के समान दिल में चुभती है....जुही की सुगन्ध के समान मस्त करती है और आलिंगन के समान विस्मृतिकारी आनन्द से मन को पूर्ण कर देती है। उस वेदना में एक समूचे जीवन की ही नहीं जन्म जन्मों की युग युगों की अन्तः प्रेरणा और प्राण-पिपासा है।" [१] अपनी विरहावस्था का वर्णन करते समय कवयित्री ने उद्दीपन रूप में प्राकृतिक दृश्यों को भी अंकित किया है और कहीं तो वह प्रकृति का अपने प्रियतम से सम्मिलन देख जीवात्मा की परमात्मा से मिलने की उत्सुकता का चित्रण करती है [२] और कहीं तो सावन की श्याम घटा देखकर उन्हें अपने कृष्ण के स्वरूप का स्मरण

---

१ रेखा-लेखा—प्रो० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (पृ० १९६-१९७)

२ दादुर मोर पपीहा बोलै,
कोयल बोलै मधुरै साज।
उमग्यों इन्द्र चहूँ दिसि बरसै,
दामिन छोड़ी लाज॥
धरती रूप नवा नवा धरिया,
इन्द्र मिलन के काज।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर,
बेग मिलो महाराज॥

हो आता है और वे भी 'मतवारो बादल आयो हरि को संदेशों कछु नहीं लायो रे, नामक उक्ति द्वारा उन श्याम घटाओं से ही हरि का संदेशा पूछने लगती हैं। कभी-कभी वर्षा की काली घटाएँ उन्हें भयभीत भी कर देती हैं [1] और वसंत की मधुरता भी प्रियतम की स्मृति में उन्हें व्यग्र ही कर देती है तथा उनके अंतरतम से यही ध्वनि निकलती है कि उन्हें प्रियतम के अभाव में कुछ भी नहीं सुहाता।[2] इस प्रकार व्याकुल विरहिणी मीरा ने सर्वत्र ही अपनी मानसिक भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान किया है तथा उनके विरहवर्णन में स्वाभाविकता और तन्मयता ही दृष्टिगोचर होती है। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के शब्दों में "उनके भजनों में इतनी प्रबलता से प्रेमधारा बहती है कि उस से आर्द्र हुए बिना कोई सहृदय नहीं रह सकता।" [3]

सौंदर्य-वर्णन और प्रेम की संयोग तथा वियोग दोनों ही अवस्थाओं का वास्तविक पूर्ण चित्रण करने के साथ-साथ मीरा को वस्तुवर्णन में भी पूर्ण सफलता मिली है और उन्होंने वृंदावन का वर्णन तो बड़े ही चित्ता-कर्षक ढंग से किया है। यों तो उनका ऋतुवर्णन उद्दीपन विभाव के ही अंतर्गत आता है और प्रायः प्रकृति के आलम्बन रूप का चित्रण उन्होंने कहीं भी नहीं किया लेकिन बारहमासे का वर्णन करते समय अंतर्जगत की विभिन्न मनोदशाओं का स्वाभाविक चित्रण करते हुए उन्होंने ऋतुओं का भी तन्मयता के साथ वर्णन किया है। डॉ० रघुवंश के शब्दों में "प्रकृति के उद्दीपन रूप को लेकर समस्त उन्मुक्त कवियों में समान भावना है। परन्तु मीरा की पदशैली में गीति-भावना के प्रकृति से उद्दीपन की प्रेरणा स्वाभाविक ही है।" [4] साथ ही मीरा की पदावली में घटनाद्योतक पदों की भी बहुलता है और उन्होंने बाललीला, मुरलीलीला, नागलीला

---

१ मतवारो बादल आयो रे।
दादुर मोर पपीहा बोलै,
कोयल शब्द सुनायो रे॥
कारी अँधियारी बिजली चमकै
बिरहिन जान डर पायो रे॥

२ होली पिया बिनु मोहि न भावे
घर आँगन न सुहावे॥

३ हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पृ० ४८)

४ प्रकृति और हिन्दी काव्य—डॉ० रघुवंश (पृ० ४५२)

चीरहरण लीला, पनघट लीला आदि विभिन्न लीलाओं को भी अंकित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा की कविता का भावपक्ष विस्तृत ही है और उसमें हृदयग्राही प्रसंगों के चित्रण के साथ-साथ अपूर्व रसोद्भावना भी है तथा साथ ही वह भावमयी होने के साथ-साथ कलागत विशेषताओं से भी रहित नहीं है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि मीरा के पदों में राजस्थानी, गुजराती और ब्रज आदि भाषाओं की प्रमुखता है तथा कहीं-कहीं पंजाबी, पूरबी, खड़ी बोली का भी प्रभाव विद्यमान है। राजस्थान में निवास स्थान होने से और बाल्यकाल आदि वहीं व्यतीत होने के कारण मीरा की काव्य-भाषा स्वाभाविक ही राजस्थानी से विशेष प्रभावित थी तथा राजस्थानी के उदाहरणों का भी उसमें अभाव नहीं है। जहाँ कि 'हो कानाँ किन गूँथी जुल्फाँ कारियाँ' जैसी उक्तियों में पंजाबी की झलक दृष्टिगोचर होती है वहाँ उनकी उक्तियों में अरबी-फारसी के शब्द भी पाए जाते हैं परन्तु वास्तव में मीरा की भाषा ब्रज ही है और सूर का सा भाषा-माधुर्य उनकी ब्रज-भाषा में भी देख पड़ता है; एक उदाहरण देखिए—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैन बिहानी हो॥
सब सखियन मिलि सीख दई मन एक न मानी हो।
बिन देख्या कल नाहिं, जिय ऐसी ठानी हो॥
अंगि अंगि व्याकुल भई, मुख पिय-पिय बानी हो।
अंतरवेदन बिरह की वह पीर न जानी हो॥
ज्यूँ चातक घन कूँ रटै मछरी जिमि पानी हो।
मीराँ व्याकुल बिरहणी, सुध बुध बिसरानी हो॥

मीरा के पदों में सरलता, सुमधुरता और सरसतापूर्ण शब्दावली ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है तथा प्रसाद और माधुर्य गुणों की भी उसमें अधिकता है। साथ ही उनकी पदावली में अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है और उन्होंने सबसे अधिक प्रयोग रूपक का ही किया है तथा सूर की भाँति मीरा के भी कई पद रूपक पर ही आश्रित हैं। इस प्रकार 'अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई', 'ज्ञान चौसर मंडी चोहटे सुरत पासा पार' तथा 'भौ सागर अति जोर कहिये अनत ऊँची धार' 'रामनाम का बाँध बेड़ा उतर परले पार' जैसे रूपकों का स्वाभाविक प्रयोग ही किया गया है। रूपक के साथ-साथ उपमा और उत्प्रेक्षा की भी अधिकता है तथा 'जल,

बिन कँवल चंद बिन रजनी, 'दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला सी' सदृश्य उपमाएँ और 'धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिलण के काज' तथा 'कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई, मानो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई' जैसी उत्प्रेक्षाएँ भी उनकी कविता में दीख पड़ती हैं। रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा, अर्थान्तिरन्यास आदि अलंकारों का भी प्रयोग किया गया है तथा हाथ को मींजना, हाथी से उतर गधे पर चढ़ना और मन का काठ करना जैसी लोकोक्तियाँ भी उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होती हैं।

साथ ही मीरा के सभी पद अन्त्यानुप्रास से युक्त हैं। यों तो कहीं-कहीं न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व और ग्राम्यत्व दोष भी उनकी कविता में दृष्टिगोचर होते हैं तथा उन्होंने शब्दों को विकृत भी किया है और दासड़ियाँ (दासी), सासड़ियाँ (श्वास) तथा आँखड़ियाँ (आँख) जैसे विकृत शब्द भी देख पड़ते हैं परन्तु इस प्रकार के प्रयोग संख्या में अधिक नहीं हैं। वस्तुतः उनकी भाषा प्रवाहमयी, स्पष्ट, सुमधुर और सरस ही प्रतीत होती है। इतना ही नहीं मीरा के काव्य में छंदात्मक संगीत भी दृष्टिगोचर होता है और भावनाएँ संगीतबद्ध होकर ही गेय पदों का रूप ग्रहण करती हैं। उनके प्रायः सभी पद गेय हैं और मीरा-पदावली में अनेक राग-रागनियाँ भी देख पड़ती हैं। संभवतः पीलू मीरा का सर्वाधिक प्रिय राग है परन्तु पीलू के साथ-साथ सारंग, प्रभाती, सोरठ, मलार, तिलंग, ललित, नट, कल्याण, हमीर, पहाड़ी, विहाग, धानी, परज, बिलावल, दरबारी, कामोद, गुजरी, कान्हड़ा, पदमंजरी, भैरवी, मांड, मालकोस, रामकली, नीलम्बरी, विहागरा, होली, सावन, कजरी, खंभाती, जै जैवन्ती, दुर्गा, बागेश्वरी, भीमपलासी, मारू, लावनी, पूर्वी, गौड़ी, आसावरी, सोहनी, धमार, कलिंगड़ा इत्यादि कई अनेक राग-रागनियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं। मीरा ने चाहे संगीत की शिक्षा ली हो या न ली हो लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि मीरा को संगीत का पूर्ण ज्ञान था और उनके संगीतज्ञान के साथ जब हम उनके पदों में अनेक शास्त्रगत छंदों का प्रयोग भी देखते हैं तब हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि संगीतज्ञान के साथ-साथ उन्हें काव्यज्ञान भी था और सार, सरसी, विष्णुपद, उपमान, कुंडल, चांद्रायण तथा शोभन नामक छंदों का भी उन्होंने सफलता के साथ प्रयोग किया है। स्मरण रहे कि मीरा के पदों में भावनाओं की सरस तथा लयपूर्ण अभिव्यक्ति के अनुरूप ही छंदों का प्रयोग भी हुआ है और उनकी कविता के कलापक्ष तथा भावपक्ष दोनों में सहज सामंजस्यता सी दृष्टिगोचर होती है। यों

तो मीरा के कुछ ऐसे पद भी देख पड़ते हैं जिनमें भिन्न-भिन्न छंद एकत्र हो गए हैं और कहीं-कहीं मात्रा दोष भी दृष्टिगोचर होता है लेकिन इस प्रकार के दोष उन्हीं स्थलों पर हैं जहाँ कि पदों को रागबद्ध करने की चेष्टा की गई है तथा संगीत की सुविधा हेतु ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व मानना पड़ता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पिंगल की दृष्टि से मीरा की कविता सदोष है। इस प्रकार मीरा एक सफल कवयित्री थीं और उन्होंने जिस विषय को अपनाया है उसका सुन्दर वर्णन किया है तथा आत्म-निवेदन, आत्म-क्रंदन, हृदय की कसक, प्रेम की पुकार, संगीत का प्रवाह, सुकुमार भावव्यंजना, सुमधुरता आदि गुण मीरा की पदावली में सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं और भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से मीरा के पद हिंदी गीतिकाव्य की अक्षय निधि हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने उचित ही लिखा है "मीरा की कविता में गीतिकाव्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है।"[1]

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृ० ५०८)

# तुलसी की कविता

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय विचारक तथा साहित्यकार एवम् भक्तगण गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की प्रशंसात्मक धारणाएं रखते हैं और उन्होंने उनका महत्व सिद्ध करने के लिए कई प्रकार की तुलनात्मक उक्तियों का सहारा भी लिया है[1] परन्तु उनके साथ-साथ विदेशी इतिहासज्ञों एवम् साहित्यकारों ने भी तुलसीदास को असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा कहा है। स्मरण रहे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विन्सेन्ट ए० स्मिथ (Vincent A. Smith) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Akbar, the Great Moghul में लिखा है कि तुलसीदास अपने युग में भारत के सर्वाधिक महान् व्यक्ति थे। वे इस दृष्टि से अकबर से भी अधिक बढ़कर थे कि उन्होंने सम्राट

---

१ देखिए—

(अ) आनन्द कानने कश्चित् तुलसी जंगमस्तकः।
कविता मंजरी यस्य रामभ्रमर भूषिता॥

—मधुसूदन सरस्वती

(आ) रामचरितमानस बिमल, संतन जीवन प्रान।
हिन्दुवान को बेद सम, जमनहिं प्रगट पुरान॥

(इ) भारत की सभ्यता की रक्षा करने में तुलसीदास जी ने अधिक भाग लिया है....।

—महात्मा गांधी

(ई) भारतीय साहित्य के इतिहास में तुलसीदास जी के रामायण का एक स्वतन्त्र स्थान है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है और उस भाषा का यह सर्वोत्तम ग्रंथ है, अतः राष्ट्रीय दृष्टि से इस ग्रन्थ का स्थान अद्वितीय है ही पर भारत के सात-आठ करोड़ लोग इसे वेदतुल्य मानते हैं। यह नित्य परिचित तथा धर्मजागृति का एकमात्र आधार है, अतः धर्मदृष्टि से भी इसे अद्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है।

—श्री विनोबा भावे

(उ) गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए।

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

की एक या समस्त विजयों की अपेक्षा असंख्यगुनी अधिक चिरस्थायी और महत्वपूर्ण विजय कोटि-कोटि नर-नारियों के हृदय एवम् मन पर प्राप्त

---

(ऊ) अखिल विश्व में रमा हुआ है राम हमारा।
सकल चराचर जिसका क्रीड़ा भूमि पसारा॥
इस शुभ सत्ता को जिसने प्रत्यक्ष किया था।
मानवता को सदय ज्ञान का रूप दिया था॥
नाम निरूपण किया, रत्न से मूल्य निकाला।
अंधकार भव बीच नाम-मणि-दीपक बाला॥
दीन रहा, पर चिन्तामणि वितरण करता था।
भक्ति सुधा से जो संताप हरण करता था॥
प्रभु का निर्भय सेवक था, स्वामी था अपना।
जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना॥
प्रबल प्रचारक था जो उस प्रभु की प्रभुता का।
अनुभव था सम्पूर्ण जिसे उसकी विभुता का॥
राम छोड़ कर और की, जिसने कभी न आस की।
'राम चरित मानस कमल' जय हो तुलसीदास की॥

—जयशंकर 'प्रसाद'

(ए) मानस इतिहास में महाकाव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय अनुराग का नक्षत्रोज्जवल ताजमहल है, जिसमें श्री सीताराम की पुण्यस्मृति चिरंतन सुप्ति में जाग्रत है।

—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

(ऐ) हिन्दी साहित्य में एक से एक बढ़कर संत कवियों ने अपनी रचनाओं का योगदान दिया है। उन सबमें कबीर, सूर और तुलसी बहुत प्रसिद्ध हैं। इन तीनों में भी तुलसीदास जी की ख्याति विशिष्ट है।

—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र

(ओ) वे आदर्शवादी ही नहीं, आदर्श स्रष्टा थे, और अपने काव्य से भावी समाज की नींव डाल रहे थे। वे उस देश में पैदा हुए थे जहाँ कल्पना की जा सकती है कि राम के जन्म होने के हजारों वर्ष पहले रामायण लिखी गई थी, अर्थात् जहाँ कवि भविष्य का द्रष्टा और स्रष्टा समझा जाता है। तुलसीदास ऐसे ही भविष्य द्रष्टा थे। आज तीन साढ़े तीन सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह गया कि उन्होंने सचमुच ही भावी समाज की सृष्टि की थी। आज का उत्तर भारत तुलसीदास के आदर्शों पर गठित हुआ। वही उसके मेरुदण्ड हैं।

—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

की थी।[१] इसी प्रकार सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी तुलसी को गौतम बुद्ध के बाद सबसे बड़ा लोकनायक माना है तथा उनका विचार है कि आधुनिक काल में तुलसीदास के समान अन्य दूसरा ग्रन्थकार नहीं हुआ।[२] इतना ही नहीं अन्य पाश्चात्य विचारकों ने भी तुलसीदास की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है तथा डॉ० के० ने अपनी कृति 'हिन्दी लिटरेचर' में लिखा है "हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान निस्सन्देह सर्वोच्च है और उनकी रामायण न केवल भारत में ही वरन् समस्त संसार में

---

(और) रामचरित मानस मानव जीवन का महाकाव्य है। इसके द्वारा गोस्वामी जी ने हमारी आध्यात्मिक और भौतिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है।

—डॉ० भगीरथ मिश्र

1 It is a relief to turn from the triviality and impurity of most of the versifiers in Perian to the virrle, pure work of a great Hindu—the tallest tree in the magic garden of mediaeval Hindu Poesy. His name will not be found in the Ain-a-Akbari, or in pages of any muslim annalist, or in the books by European authors based on the narratives of the Persian historians. Yet that Hindu was the greatest man of his age in India—greater even than Akbar himself, in as much as the conquest of the hearts and minds of millions of men and women affected by the poet was an ahievement infinitely more lasting and important than any or all of the victories gained in war by the monarch.

—Akbar, the Great Moghul—V. A. Smith (P. 417)

2 Indian Antiquary; 1893; P. 85.

और भी—

I give much less than the usual estimate when I say that fully ninety millions of people base their theories of moral and religious conduct upon his (Tulsidas') writings. If we take the influence exercised by him at the present time as our test, he is one of the three or four great writers of Asia···· over the whole Gangetic Valley his great work ( The Ramayana ) is better known than the Bible is in England.

—Encyclopaedia of Religion and Ethics, 1921, Edition; P. 471.

सुविख्यात है।"[1] डॉ० जे० एम० मैक्फी ने भी अपनी पुस्तक 'दि रामायण ऑफ तुलसीदास' और 'दि बाइबिल आफ नार्दर्न इंडिया' की भूमिका में लिखा है "गोस्वामी तुलसीदास जी के ग्रन्थों में भक्ति का जो उच्च और विशुद्ध भाव आता है उससे बढ़कर उच्चभाव और कहीं नहीं दिखलाई देता।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल भारतीय साहित्य में अपितु विश्व-साहित्य में तुलसी का उल्लेखनीय स्थान है।

स्मरण रहे तुलसी के कवि रूप का मूल्यांकन करते समय सर्व-प्रथम समस्या हमारे सामने यह आ उपस्थित होती है कि उन्होंने कौन-कौन सी कृतियों का प्रणयन किया है। यों तो तुलसीदास के नाम पर अभी तक लगभग अढ़ाई दर्जन पुस्तकें प्राप्त हो चुकी हैं लेकिन चूँकि तुलसी ने अपनी किसी भी रचना में अपनी अन्य कृतियों के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं किया है अतएव रचना सम्बन्धी अन्तस्साक्ष्य की अलभ्यता के अभाव में बाह्य साक्ष्यों का ही सहारा लेना पड़ता है। बाबा बेणीमाधवदास के 'मूल गोसाईं चरित' में तुलसी की निम्नांकित कृतियों का कालक्रमानुसार उल्लेख किया गया है—रामगीतावली तथा कवितावली के कुछ छन्द (सं० १६२८ से ३१ तक); कृष्णगीतावली (सं० १६२८), रामचरितमानस (सं०१६३१), दोहावली (सं० १६४०), सतसई और रामविनयावली-विनयपत्रिका (सं० १६४२), रामलला नहछू, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल (सं० १६४३), बाहुक (सं० १६६९), वैराग्यसंदीपिनी, रामाज्ञाप्रश्न और बरवै रामायण (सं० १६६९)। इसी प्रकार शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है "इनके बनाये ग्रन्थों की ठीक-ठीक संख्या हमको मालूम नहीं हुई। केवल जो ग्रन्थ हमने देखे हैं अथवा हमारे पुस्तकालय में हैं, उनका जिक्र किया जाता है। प्रथम ४९ काण्ड रामायण बनाया है, इस तफसील से १ चौपाई रामायण ७ काण्ड, २ कवितावली ७ काण्ड, ३ गीतावली ७ काण्ड, ४ छन्दावली ७ काण्ड, ५ बरवै ७ काण्ड, ६ दोहावली ७ काण्ड, ७ कुण्डलियाँ ७ काण्ड, और सेवाय इन ४९ काण्ड के १ सतसई, २ रामसलाका, ३ संकटमोचन, ४ हनुमतबाहुक, ५ कृष्णगीतावली, ६ जानकीमंगल, ७ पारवतीमंगल, ८ करखा छन्द, ९ रोला छन्द, १० झूलना छन्द इत्यादि और भी ग्रंथ बनाये हैं; अन्त में विनयपत्रिका महाविचित्र मुक्तिरूप प्रज्ञानन्दसागर ग्रंथ बनाया है।'[2] सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'इण्डियन एन्टिकरी' में प्रकाशित अपने निबन्ध 'नोट्स आन तुलसीदास' में उनके केवल २१

---

१ हिन्दी लिटरेचर (पृ० ४७)

२ शिवसिंह सरोज—श्री शिवसिंह सेंगर (पृ० ४२७-४२८)

ग्रंथों का उल्लेख किया है—रामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, दोहावली, छप्पय रामायण, रामसतसई, जानकीमंगल, पार्वतीमगल, वैराग्य संदीपनी, रामललानहछू, बरवै रामायण, रामाज्ञाप्रश्न या रामसगुनावली, संकटमोचन, विनयपत्रिका, बाहुक, रामशलाका, कुंडलिया रामायण, करखा रामायण, रोला रामायण, झूलना, श्रीकृष्ण गीतावली लेकिन 'एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' में उन्होंने अधिक मान्य बारह ग्रंथों की ही सूची दी है तथा इन ग्रंथों को भी दो भागों में—बड़े और छोटे ग्रंथ--विभाजित किया है; देखिए :

बड़े ग्रंथ--कवितावली, दोहावली, गीतावली, कृष्ण गीतावली, विनय पत्रिका और रामचरित मानस ।

छोटे ग्रंथ – रामललानहछू, वैराग्य संदीपिनी, बरवै रामायण, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामाज्ञा ।

'बंगवासी' के मैनेजर की ओर से उपहारस्वरूप तुलसी के ये सत्रह ग्रंथ भेंट किए गए थे—मानस रामायण, श्री रामललानहछू, वैराग्य संदीपिनी, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, श्रीराम गीतावली, श्रीकृष्ण गीतावली, दोहावली, श्री रामाज्ञा प्रश्न, कवित्त रामायण, कलिधर्माधर्म-निरूपण, विनय पत्रिका, छप्पय रामायण, हनुमान बाहुक, हनुमान चालीसा, संकट मोचन । कालान्तर में इस सूची में कुंडलिया रामायण, छंदावली, तुलसी सतसई नामक तीन ग्रंथ और जोड़ कर कुल बीस ग्रंथ तुलसी के माने गए । डॉ० ग्रियर्सन की सूची से इस तालिका का मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसमें तीन नई पुस्तकों का उल्लेख हुआ है तथा चार नाम कम गिनाए गए हैं अतः इन सभी नये ग्रंथों को मिला कर जोड़ने पर तुलसी के कुल २४ ग्रंथ माने जा सकते हैं । मिश्रबन्धुओं ने तो इस तालिका में 'पदावली रामायण' नामक एक ग्रन्थ और जोड़कर कुल संख्या पचीस तक पहुँचा दी है परन्तु वे स्वयं अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी नवरत्न' में राम चरित मानस, कवितावली, गीतावली, जानकी मंगल, कृष्णगीतावली, हनुमान बाहुक, हनुमान चालीसा, रामशलाका, राम सतसई, विनय पत्रिका, कलिधर्माधर्मनिरूपण और दोहावली नामक बारह ग्रन्थों को प्रमाणित तथा कड़खा रामायण, कुण्डलिया रामायण, छप्पय रामायण, पदावली रामायण, रामाज्ञा, रामलला नहछू, पार्वती मंगल, वैराग्य संदीपिनी, बरवै रामायण, संकट मोचन, छंदावली रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण इत्यादि तेरह ग्रन्थों को अप्रमाणित मानते हैं ।[1] नागरी प्रचारिणी सभा की खोज

१ हिन्दी नवरत्न--मिश्रबन्धु (पृ० ८१-१०१)

रिपोर्टों के अनुसार तुलसी के नाम से प्रचलित लगभग पैंतीस ग्रन्थ मिलते हैं जो कि एक ही तुलसी के नहीं हैं अपितु तुलसी नामधारी कई व्यक्तियों द्वारा रचे गए हैं। इस प्रकार तुलसी के निम्नांकित बारह ग्रन्थों को ही उनकी प्रमाणिक रचनाएँ मानकर 'तुलसी ग्रंथावली' के रूप में उन्हें प्रकाशित किया गया है। वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१. रामचरितमानस, २. रामलला नहछू ३. वैराग्य संदीपिनी ४. बरवै रामायण ५. पार्वती मंगल ६. जानकी मंगल ७. रामाज्ञा प्रश्न ८. दोहावली ९. कवितावली १०. गीतावली ११. श्रीकृष्ण गीतावली १२. विनय पत्रिका ।

स्मरण रहे इन्हीं ग्रंथों को आज तक विद्वानों और हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों द्वारा मान्यता दी जाती है।

जैसा कि डॉ० भगीरथ मिश्र का विचार है कि "तुलसी की जागरूक चेतना ने समाज की आवश्यकता और अभिरुचि का ध्यान रखकर विविध ग्रंथों की रचना की थी"[1] हमें यह स्मरण रहना चाहिए कि तुलसी का प्रादुर्भाव जिस समय हिन्दी साहित्य में हुआ उस समय काव्य-क्षेत्र में कई शैलियाँ प्रचलित थीं। वीरगाथाकालीन कवियों ने छप्पयों की प्रणाली चलाई और वीर काव्य की रचना की। मैथिल कोकिल विद्यापति ने सुमधुर गीतों की रचना की तथा एक सर्वथा नूतन शैली को पल्लवित किया जिसके फलस्वरूप उन्हें हिन्दी गीति काव्य एवं हिन्दी साहित्य में कृष्ण काव्य का जन्मदाता माना जाता है। यों तो सन्तों ने भी पदों की रचना की थी पर उपदेश के लिए दोहा छन्द ही उन्होंने अपनाया तथा कबीर ने अपने नीति-परक दोहों से काव्याकाश की शोभा वृद्धि की। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अपभ्रंशकालीन कवियों ने भी इसी दोहा-पद्धति को अपनाया था। प्रेममार्गी शाखा के कवि जायसी ने दोहों और चौपाइयों में 'पद्मावत' की रचना कर अवधी का मधुर स्रोत प्रवाहित किया, यद्यपि दोहे चौपाइयों में प्रबंध-काव्य लिखने वाले प्रथम कवि ईश्वरदास थे जिन्होंने कि 'सत्यवती कथा' नामक काव्य की रचना दोहे चौपाइयों में की। इन चार शैलियों के अतिरिक्त भाटों की कवित्त सवैया पद्धति भी उस समय प्रचलित थी और अपने आश्रयदाताओं के गुणगान हेतु भाटों ने इसी पद्धति को अपनाया था। इस प्रकार तुलसी के समय में ये पाँच प्रकार की अभिव्यंजन शैलियाँ हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रचलित थीं और तुलसी ने इन पाँचों प्रकार की शैलियों को ग्रहण किया है। यद्यपि वीरगाथाकालीन कवियों की छप्पय पद्धति पर तुलसी

---

१ तुलसी रसायन—डॉ० भगीरथ मिश्र (पृ० १९)

की रचनाएँ बहुत कम हैं लेकिन इतनी थोड़ी सी रचनाएँ ही यह सिद्ध करने में सक्षम हैं कि तुलसी को इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। तुलसी का यह निम्नांकित छप्पय देखिए जिससे पता चलता है कि वीरगाथा-कालीन कवियों के सदृश्य छप्पय लिखने में वे पूर्ण निपुण थे—

डिगति उर्बि अति गुर्बि, सर्व पब्बै समुद्र सर ।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर ॥
दिग्गंयद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर ।
सुरबिमान, हिमभानु भानु संघटित परस्पर ॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि, जबहिं राम सिवधनु दल्यौ ॥

गोस्वामी जी ने हिन्दी गीतिकाव्य को भी अलंकृत किया है तथा विनयपत्रिका, गीतावली और कृष्ण गीतावली में गीत-पद्धति को ही अपनाया है। इन गीति काव्यों की रचना रागरागनियों के आधार पर पद शैली में हुई है। विनयपत्रिका तुलसी का प्रसिद्ध ग्रंथ है और डॉ० सरनाम-सिंह शर्मा के शब्दों में "यह गोस्वामीजी की सुप्रौढ़ रचना है। यहाँ प्रौढ़ता भाषा विषयक ही नहीं, भावविषयक भी है। यह उनकी जीवनगोधूलि में प्रकट हुई विमल, शीतल ज्योति है।"[1] इस ग्रंथ में विनय और आत्म-निवेदन के साथ-साथ समस्त देवी-देवताओं की स्तुति भी की गई है। मानस की अव्यक्त भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने में भी कवि पूर्ण सफल रहा है तथा विश्व के माया जाल से ऊब कर वह इस प्रकार कहता है—

केसव ! कहि न जाइ का कहिये ।
देखत तव रचना विचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये ॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे ॥
रबिकर-निकर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥

---

१ हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव—डॉ० सरनाम सिंह शर्मा (पृ० ८२-८३)

गीतावली के सृजन में तुलसी ने सूर का अनुसरण सा किया है,[1] तथा बाललीला का वर्णन जो सूर के पदों से मिलता-जुलता सा है और कई पद तो ज्यों के त्यों 'सागर' में मिलते हैं केवल राम और श्याम का अन्तर है। उत्तरकांड में तुलसी के राम भी सूर के कृष्ण की भाँति हिंडोला झूलते और होली खेलते दिखाए गए हैं। राम और सीता का नख-शिख सौंदर्य वर्णन भी उन्होंने किया है।[2] यद्यपि गीतावली में मानस के सदृश्य कथा का पूर्ण निर्वाह नहीं है तदपि कहीं-कहीं सुन्दर-सुन्दर गीत अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं तथा "भावुकता और कलात्मकता के युगान्तर समन्वय की दृष्टि से

---

१ "यह निश्चित प्राय है कि तुलसीदास ने गीत पद्धति को सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों से ग्रहण किया था। यही नहीं सूर के पदों का उन पर अत्यधिक प्रभाव था। यही कारण है कि सूरसागर के अनेक पदों के भाव और कहीं-कहीं तो शब्द और चरण भी गीतावली में हमें ज्यों के त्यों मिलते है।"

—तुलसीदास और उनका साहित्य : डॉ० विमलकुमार जैन (पृ० १७८)

२ देखिए—

दूलह राम, सीय दुलही री।
धन-दामिनि बर बरन, हरन-मन,
सुन्दरता नख सिख निबही री॥
ब्याह विभूषन-बसन-विभूषित,
सखि अवली लखि ठगि सी रही री।
जीवन जनम लाहु लोचन फल,
है इतनोइ लह्यो आजु सही, री॥
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि,
मयन अमियमय कियो है दही री।
मथि माखन सिय-राम सँवारे,
सकल भुवन छबि मनहुँ मही, री॥
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा,
अतुल न जाति कही, री।
रूप-रासि विरची बिरंचि मनों,
सिला लवनि रति काम लही री॥

गीतावली राम-काव्य-परम्परा की अनुपम विभूति है।"[1] राम के विरह में व्यथित सीता अशोकवाटिका में त्रिजटा से इस प्रकार कहती हैं—

अबलौं मैं तोसौं न कहे री।
सुन त्रिजटा! प्रिय प्राननाथ बिनु, बासर निसि दुख दुसह सहे री॥
बिरह बिषम बिष बेलि बढ़ी उर सुख सकल सुभाय दहे री।
सोइ सींचिबे लागि मनसिज के रहँट नयन नित रहत नहे री॥
सर सरीर सूखे प्रान-बारिचर जीवन आस तजि चलनु चहे री।
तैं प्रभु-सुजस सुधा सीतल करि राखे तदपि न तृप्ति लहे री॥
रिपु रिस घोर नदी बिबेक-बल-धीर सहित हुते जात बहे री।

'कृष्ण-गीतावली' पर भी सूरदास के सूरसागर का प्रभाव पड़ा है परन्तु वह गीतावली से अधिक स्वाभाविक, सुमधुर और सरस है। स्मरण रहे सूरदास के सदृश्य तुलसी ने भी कृष्ण-गीतावली में बालवर्णन, सौन्दर्य-वर्णन, रास-लीला और भ्रमर-गीत आदि का मनोहर वर्णन किया है। विरह-व्यथित गोपियां कृष्ण के वियोग में कहती हैं—

जब तें ब्रज तजि गए कन्हाई।
तब तें बिरह-रवि उदित एक रस सखि बिछुरनि-वृष पाई।

इस प्रकार तुलसी गीति-काव्य के सृजन में भी पूर्ण सफल रहे हैं तथा कबीर आदि संतों के सदृश्य उन्होंने दोहा-पद्धति को भी अपनाया है। यों तो रामचरित मानस में भी दोहे हैं परन्तु दोहावली नामक इनकी एक कृति और है जिसके दोहों में रामभक्ति का उपदेश है। स्मरण रहे तुलसी की दोहावली में भावुकता और कल्पना का सुन्दर योग है तथा मार्मिकता भी दर्शनीय है। कुछ उदाहरण देखिए—

हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट-संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥
राम नाम अवलम्ब बिनु परमारथ की आस।
बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥
भुज तरु-कोटर-रोग-अहि बरबस कियो प्रवेस।
बिहँगराज-बाहन तुरत काढ़िय, मिटइ कलेस॥

---

१ साहित्य सम्राट तुलसीदास—श्री गंगाधर मिश्र (पृ० ३३)

मुख मीठे मानस मलिन कोकिल मोर चकोर ।
सुजस धवल, चातक नवल, रह्यो भुवन भरि तोर ।।
रीझि आपनी बूझ पर खीझि विचार विहीन ।
ते उपदेश न मानहीं, मोह-महोदधि मीन ।।

जिस प्रकार जायसी ने दोहे-चौपाई के क्रम से पद्मावत नामक प्रबन्ध काव्य की रचना की उसी प्रकार तुलसी ने भी दोहे-चौपाई के क्रम से 'रामचरित मानस' नामक प्रबन्ध-काव्य की रचना की है जो कि आज भी भारत के ही नहीं विश्व के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में गिना जाता है। तुलसी ने भाटों की कवित्तसवैया पद्धति को भी अपनाया है और कवितावली जैसे सुन्दर ग्रन्थ की रचना की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन छन्दों के प्रयोग में उन्हें अप्रतिम सफलता मिली है। साथ ही रहीम की बरवै-शैली भी उन्होंने अपनायी है और अपनी बरवै रामायण की रचना बरवै छन्दों में की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी ने हिन्दी काव्यक्षेत्र में प्रचलित तत्कालीन सभी प्रकार की काव्य प्रणालियों को अपनाया है और वास्तव में हरिऔध जी ने उचित ही लिखा है---

कविता करके तुलसी न लसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला।

वस्तुतः किसी भी कवि की काव्य-कला की समीक्षा करते समय यह अवश्य देखना चाहिए कि वह बहिर्जगत और अन्तर्जगत के चित्रण में कितना अधिक सफल रहा है अर्थात् बाह्य जगत और आभ्यन्तरिक जगत में प्रविष्ट हो उत्तम-उत्तम भावों का संचय कर उन्हें वह कुशलता से अपनी लेखनी द्वारा व्यक्त कर सका है या नहीं। कवि को बाह्य जगत के चित्रण में यदि सफलता मिल गई तो वह अन्तर्जगत का भी चित्रण कुशलता से कर सकेगा। वास्तव में कवि के बाह्य जगत का अनुभूत ज्ञान ही उसके अन्तजर्गत का मूल आधार है। कालिदास और शेक्सपियर दोनों विश्व कवियों की रचनाओं का अनुशीलन करने पर प्रतीत होता है कि जहाँ कालिदास बाह्य जगत के चित्रण में अत्यधिक सफल रहे हैं वहाँ शेक्सपियर ने एकमात्र अन्तर्जगत का ही सफल चित्रण किया है। इस प्रकार दोनों का क्षेत्र बहुत कुछ एकांगी ही रहा परन्तु तुलसी को दोनों क्षेत्रों में सामान्य रूप से सफलता मिली है और बाह्य जगत के साथ-साथ आभ्यन्तरिक जगत का चित्रण भी उन्होंने कुशलता से किया है तथा ऐसा कोई भी विषय अवशिष्ट नहीं रहा जिसका कि वर्णन उन्होंने न किया हो। तुलसी की इस वर्णन

शैली की प्रशंसा करते हुए श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा भी है—"तुलसीदास में वर्णन शक्ति अद्भुत थी। बाह्य जगत का सूक्ष्म निरीक्षण किये बिना कवि में ऐसी वर्णन शक्ति का विकास नही हो सकता। तुलसीदास ने जिस विषय को हाथ में लिया उसका उन्होंने एक जीता-जागता चित्र सा खींचकर खड़ा कर दिया है। इससे उनकी सुरुचि और प्रत्येक विषय को सांगोपांग देखने और उसमें निहित सौन्दर्य को हृदयंगम करने की अद्भुत पिपासा का प्रमाण मिलता है।"[1] साथ ही "तुलसी का जीव सम्बन्धी ज्ञान बहुत विस्तृत था और विशेष था।"[2] स्मरण रहे कि साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण करते समय जो उसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, दिन, अन्धकार, प्रातःकाल, मृगया, पर्व , ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम-यात्रा, विवाह आदि का यथानुसार सांगोपांग वर्णन होना आवश्यक माना है; हम देखते हैं कि रामचरित मानस' मे इन समस्त विषयों का वर्णन दृष्टिगोचर होता है तथा प्रसगानुसार कवि ने इन सभी का वर्णन किया है।

यद्यपि तुलसीदास एक भक्त अवश्य थे लेकिन साथ ही कवि—महाकवि—भी थे। यों तो जहाँ तक कलात्मक दक्षता का प्रश्न है उसके प्रदर्शन से उन्होंने अपने को बिलकुल ही अलग रखना पसन्द किया है और कवि-कर्म की महिमा तथा उसकी दुरूहता के व्यंजनार्थ अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए कहा है—

कवि न होऊँ नहिं चतुर प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

.... .... .... ....

कवि न होउँ नहिं चतुर कहाउँ। मति अनुरूप रामगुन गावउँ॥

.... .... .... ....

कवित रीति नहिं जानौं कवि न कहावौं।
संकर चरित सुर सरित मनहिं अन्वाहुँ॥

इस कथन को देखकर यह अनुमान करना कि तुलसी को कला-सम्बन्धी या काव्यशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान नहीं था अज्ञानता ही समझा जाएगा क्योंकि इन पंक्तियों में उन्होंने अपनी दीनता ही प्रदर्शित की है और

---

१ तुलसीदास और उनकी कविता—श्री रामनरेश त्रिपाठी
२ साहित्य सरोवर—डॉ॰ गोपीनाथ तिवारी (पृ० ६८)

प्रत्येक सत्कवि इसी प्रकार की विनम्रता व्यक्त करता है।[1] वस्तुतः इन पंक्तियों द्वारा यही भास होता है कि तुलसी का लक्ष्य कविता करना न था और न उनमें यशोलिप्सा ही थी। अतएव उनकी भक्ति-भावना ही उनकी काव्य-कृतियों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है और जिस प्रकार वे भक्ति क्षेत्र में महान थे उसी प्रकार कविता जगत में भी उनका अद्वितीय स्थान था। वस्तुतः कवि वही है जिसकी भावनाएँ आप ही आप जाग्रत होकर उद्‌गारों के रूप में प्रकट हो उठें और उनकी अभिव्यक्ति के हेतु कवि को विशेष परिश्रम न करना पड़े। तुलसी की 'स्वांतः सुखाय' कृतियाँ इसीलिए आज तक आदर की दृष्टि से देखी जाती रही हैं और बाल वृद्ध सभी को आनन्द प्रदान कराती रही हैं क्योंकि स्वयं तुलसी ने ऐसे उक्ति-वैचित्र्य को तनिक भी महत्व नहीं दिया जिसके भीतर सत्य का समावेश न हो अथवा जिसके भीतर जीवन का मार्ग प्रदर्शन करनेवाले उदात्त चरित्र का चित्रण न हो। वे कोरे कागज में सत्य का लिखना ही अपना उद्देश्य मानते हैं और उनकी दृष्टि में काव्य-कला का यही व्यापक एवं उदात्त आदर्श हो सकता है कि जो समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति का कल्याण कर सके वही कला है।[2] तुलसी का यह भी विचार है कि नर-काव्य सज्जनों के लिए अग्राह्य होता है अतएव सुकवि उसके फेर में न पड़कर शारदा के अनुग्रह से हृदय में उत्पन्न सविचारजन्य कविता में रामचरित पिरो कर उनका कण्ठहार प्रस्तुत करता है—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौ बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥

---

१ इसी प्रकार कालिदास ने भी अपनी निरभिमानता इन शब्दों में व्यक्त की है—

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्यामुपहास्य ताम्।
प्राशंलभ्ये फले लोभादुढाहुरिक वामनः॥
(रघुवंश)

प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर ने भी अपनी नम्रता प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

Thus far with rough and all unable pen,
our bending author hath pursued the story
(King Henvry V.)

२ देखिए—
कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

जुगुति बोधि पुनि पोहिअहि राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन विमल उर सोभा अति अनुराग॥

यद्यपि बहिर्जगत का चित्रण करते समय तुलसी ने प्राकृतिक दृश्यों की सुषमा भी अंकित की है किन्तु उनके चित्रण में कलात्मकता की अपेक्षा गूढ़ उपदेश ही दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः उन्होंने प्रकृति को उपदेश और नीति का माध्यम माना है तथा प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में उन्हें उपदेश ही उपदेश दृष्टिगोचर होते हैं। पावसवर्णन में गिरि-उपत्यकाओं, नीलवारिदों और विद्युच्छटा की रमणीयता का चित्रण करने की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं गया बल्कि विद्युत की चंचलता देखकर उन्हें दुर्जनों की प्रीति का स्मरण होता है, पावस पयोदों को देख उन्हें विद्वानों की नम्रता की स्मृति होती है, पर्वतों की सहिष्णुता से उन्हें सन्तों की सहिष्णुता का ध्यान होता है, थोड़ी सी ही वृष्टि से सरिताओं में आने वाली बाढ़ से उन्हें थोड़ा सा ही धन पा जाने पर इतराने वाले दुष्टजनों की याद आती है और सरोवरों के जल ग्रहण करने से उन्हें उन सज्जनों का स्मरण होता है जो कि सुन्दर-सुन्दर विचारों को ग्रहण करते हैं। यद्यपि प्रकृति को उपदेश और नीति के माध्यम के रूप में सर्वप्रथम श्रीमद्भागवत में ही विस्तार सहित अंकित किया गया है तथा तुलसी का वर्षा वर्णन और शरद वर्णन दोनों ही श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के बीसवें अध्याय के वर्षा और शरद वर्णन से प्रभावित से हैं[1] किन्तु तुलसी

---

१ महर्षि व्यास का वर्षा-वर्णन देखिए—

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद ब्राह्मण नियमात्यये॥
आसन्नुत्पथ वाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः।
पुन्सो यथाऽस्वतन्त्रस्य देह द्रविण सम्प्रदः॥
गिरयो वर्ष धाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभयमाना व्यसनैर्य थाऽधोक्षजचेतसः॥
मेघ गमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दाज्छिखण्डिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विराणा यथाऽच्युत जनागमे॥

—श्रीमद्भागवत, स्कंध १० पूर्वार्द्ध, अध्याय २०

अब तुलसी के वर्षा-वर्णन की ये पंक्तियाँ देखिए—

दामिनी दमक रही घन माहीं।
खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं॥

के ऋतु वर्णन में विशदता है तथा कहीं-कही नूतन मौलिक विचारों का भी संगुफन किया गया है। चूंकि उनकी दृष्टि में समस्त प्रकृति उपदेशिका है अतः पम्पा सरोवर में अपनी प्यास शान्त करने के लिए आए हुए मृगों के झुंड

बरषहिं जलद भूमि निअराए।
जथा नवहिं बुध विद्या पाए।।
बुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के बचन सन्त सह जैसे।।
क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई।
जस थोरेहुँ धन खल बौराई।।
सिमिट सिमिट जल भरहिं तलावा।
जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।।
दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई।
बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई।।
लछिमन देखहुं मोरगन, नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरत रत हरुष जस, विष्णु भगत कहुँ पेखि।।

इसी प्रकार महर्षि व्यास का यह शरद् वर्णन देखिए—

गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्शरद कर्जम।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः।।
सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।
यथात्यक्तर्षणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्विष।।
गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचः शिवम्।
यथा ज्ञानामृत काले ज्ञानिनो ददते न वा।।
वाणीङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यर्थन प्रपेदिरे।
वर्ष रुद्धो यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते।।

—श्रीमद्भागवत स्कंध १०, पू०, अ० २०

अब तुलसी के शरद् वर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

उदित अगस्त पंथ जल सोपा।
जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा।।
सरिता सर निर्मल जल सोहा।
संत हृदय जस गत मद मोहा।।
रस रस सूख सरित सर पानी।
ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी।।
जानि शरद् ऋतु खंजन आए।
पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए।।

को देखकर उन्हें उदार गृहस्थ के द्वार पर एकत्रित याचकों का ध्यान आता है--

जहँ तहँ पिअहिं बिबिध मृगनीरा।
जनु उदार गृह जाचक भीरा॥

परन्तु इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन में प्रकृति का स्थान गौण ही रहता है और उपदेशात्मक तथा नीतिपरक भावनाओं को ही प्रधानता मिलती है। यद्यपि तुलसी का प्रकृति-वर्णन विशेष रूप से इसी शैली का है किन्तु उन्होंने एक-दो स्थलों पर आलम्बन रूप में भी प्रकृति का चित्रण किया और उसका सूक्ष्म निरीक्षण कर उसकी प्रत्येक वस्तु का परिगणन न कराकर सबको एकत्रित कर संश्लिष्ट योजना द्वारा एक मनोरम दृश्य उपस्थित कर दिया है, देखिए--

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु, प्रबेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत॥
चहुँ दिसि बन संपन्न, बिहँग मृग बोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देस-पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत॥
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृंगनि।
मनहु आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि भृंगनि॥
सिखर परस घन घटहिं, मिलति बग पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहार बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥
जल जुत बिमल सिलनि झलकत नभ-बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहु जग रचना बिचित्र बिलसति बिराट अंग-अंग॥
मन्दाकिनिहि मिलत झरना झरि-झरि भरि-भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत-सुख लगि मानों राम-भगति के पाछे॥

---

पंक न रेनु सोह असि धरनी।
नीति निपुन नृप कै जस करनी॥
जल सँकोच बिकल भइ मीना।
अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा।
हरिजन इव परि हरि सब आसा॥
चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥

इसी प्रकार तुलसी के रूपवर्णन में भी कल्पना और भावुकता का सुन्दर संयोग दीख पड़ता है तथा अप्रस्तुत विधान की सहायता से यद्यपि उन्होंने सीता का रूपवर्णन अलंकार पूर्ण ही किया है किन्तु वे सर्वथा संयत रहे हैं और उन्होंने मर्यादा का अतिक्रमण कहीं भी नहीं किया।

किसी भी कवि की भावुकता का परिचय इसी बात से लग सकता है कि वह अपने काव्य में अधिक से अधिक कितने मर्मस्पर्शी प्रसंगों को अंकित कर सका है तथा प्रबन्ध-काव्य वही सफल हो सकता है जिसमें कि मर्मस्पर्शी स्थलों की बहुलता हो। तुलसी को इस दिशा में भी अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है और 'मानस' में राम वनगमन, राम-भरत भेंट, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम विलाप आदि कई हृदयस्पर्शी वर्णन हैं। तुलसी वस्तुतः पूर्ण रूप से भावुक थे और इसीलिए उनकी भावुकता उनकी कृतियों में सर्वत्र ही झलक उठती है। एक चित्र देखिए—

राम-बास थल बिटप बिलोकें।
उर अनुराग रहत नहिं रोकें॥

राम से भेंट करने के लिए भरत नंगे पैरों दौड़े चले जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ कहीं उन्हें यह विदित होता है कि इस स्थल पर ठहरकर राम ने विश्राम किया था; उस स्थल को देखते ही प्रेम से गद्‌गद् हो वे नैनों से नीर प्रवाहित करने लगते हैं। दाम्पत्य-प्रेम के पुनीत चित्र भी तुलसी की लेखनी ने प्रस्तुत किए हैं लेकिन उनमें शृंगार रस की अभिव्यंजना होते हुए भी रीतिकालीन कवियों की सी उच्छृंखलता नहीं है। शृंगार रस का एक उदाहरण देखिए--

दूलह श्री रघुनाथ बने,
दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावहिं गीत सबै मिलि सुन्दरि,
वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकि,
कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूल गई,
कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥

संयोग शृंगार की ही भाँति विप्रलंभ शृंगार की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना भी तुलसी की कृतियों में हुई है लेकिन उनके विरहवर्णन में जायसी के विरहवर्णन की भाँति न तो वीभत्सता ही है और न बिहारी आदि

ह्वै है सिला सब चन्द्रमुखी
परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे ।
कीन्हीं भली रघुनायक जू,
करुना करि कानन को पगु धारे ॥

जनक के 'बीर बिहीन मही मैं जानी' कहने पर लक्ष्मण की आकृति में जो रौद्रता आई वह तुलसी ने इस प्रकार अंकित की है--

माखे लखन कुटिल भईं भौंहें ।
रदपट फरकत नयन रिसौंहें ॥
रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई ।
तेहि समाज अस कहै न कोई ॥

इन पंक्तियों में देखिए कि शोक, स्थायी भाव, आलम्बन और उद्दीपन विभाव तथा संचारियों से पोषित होकर, अपनी पूर्णावस्था की प्राप्ति से करुण रस की निष्पत्ति किस प्रकार कर रहा है--

पति सिर देखत मंदोदरी ।
मुरछित बिकल धरनि खसि परी ॥
जुबति बृन्द रोवत उठि धाईं ।
तेहि उठाइ रावन पहिं आईं ॥
पति गति देखि ते करहिं पुकारा ।
छूटे कच नहिं बपुष सँभारा ॥
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना ।
रोवत करहिं प्रताप बखाना ॥

यद्यपि वीररस के चार भेदों में से युद्ध वीर के वर्णन गोस्वामी जी ने अनेक प्रसंगों में किए हैं लेकिन उन्होंने राम में वीर रस के चारों भेदों के लक्षण भी घटित किए हैं । इतना ही नहीं अन्य रसों के भी उदाहरण तुलसी की कृतियों में सरलता के साथ उपलब्ध हो सकते हैं ।

तुलसी चरित्र-चित्रण में भी पूर्ण सफल रहे हैं[1] तथा मानव जीवन की समस्त परिस्थितियों का स्वाभाविक चित्रण ही उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है । जैसा कि डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है "बाह्य

---

१ "मानस के चरित्र इतने जीते-जागते और आकर्षक हैं कि उनके भीतर से तुलसी का जीवन और आकर्षक व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से उद्भासित होता है ।"

—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास--डॉ० शम्भूनाथ सिंह
(पृ० ५४५)

प्रकृति से भी अधिक गोसाईं जी की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि अन्तःप्रकृति पर पड़ी थी। मनुष्य स्वभाव से उनका सर्वांगीण परिचय था। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पड़ कर मन की क्या दशा होती है इसको वे भली-भाँति जानते थे। इसी से उनका चरित्र-चित्रण बहुत पूर्ण और दोषरहित हुआ है।"[१] तुलसी के चरित्र-चित्रण की महत्वपूर्ण विशेषता तो यह है कि उन्होंने प्रत्येक पात्र का भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में नैसर्गिक विकास दिखाया है जिससे कि उसमें स्वाभाविकता आ सके। इसी प्रकार मानस के सभी पात्रों में रामभक्ति की व्यापकता भी दीख पड़ती है। श्रीरामचन्द्र के पारिवारिक व्यक्तियों, आत्मीय जनों और भक्त अनुयायियों के हृदय में तो रामभक्ति विद्यमान थी ही किन्तु साथ ही उनके (राम के) विरोधियों और विपक्षियों में भी रामभक्ति की भावना दीख पड़ती है। विभीषण, माल्यवान और शुक्र तो राम को अखिल लोक का नायक समझते ही थे, स्वयं रावण की पत्नी मन्दोदरी ने भी सीताहरण कर्म की निन्दा की थी और रावण को राम का विरोध न करने की राय दी थी। मन्दोदरी ने रावण के सामने विस्तार के साथ राम के विशद रूप का वर्णन किया था। मारीच और कालनेमि ने भी राम की ईश्वरता स्वीकार की थी तथा कुम्भकर्ण, मेघनाद और स्वयं रावण भी राम के महत्व को मानते थे। रावण ने राम से बदला लेने का निश्चय अवश्य कर लिया था परन्तु वह यह भी सोचता है कि—

> खर दूषन मो सम बलवंता।
> तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥

अतएव—

> सुर रंजन भंजन महि भारा।
> जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा॥
> तो मैं आइ बैरु हठि करऊँ।
> प्रभु सर प्रान तज भव तरऊँ॥

क्योंकि—

> होइहिं भजनु न तामस देहा।
> मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥

साथ ही "तुलसीदास ने भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के साथ ही साथ अलंकार और मानवजीवन की व्याप्ति को व्यक्त किया है और यह भी प्रकट दिखा दिया है कि मानव का पशु से और पशु का मानव

---

१ कल्याण (मासिक) सितम्बर १९३८ (पृ० ९७०)

से कितना गहरा लगाव है और संसर्ग में बने रहने के कारण एक दूसरे को कहाँ तक और कितना प्रभावित करते हैं। मर्यादा के क्षेत्र में वर्ण की दृष्टि से चाहे निषाद और द्विज में जितना भेद हो पर हृदय के व्यापार में उनमें कहीं कोई बन्धेज नहीं।"[1]

भावपक्ष के साथ-साथ तुलसी की कविता का कलापक्ष भी प्रौढ़ था और इसीलिए तत्कालीन काव्य-क्षेत्र में प्रचलित प्रत्येक प्रकार की अभिव्यंजन शैलियों को अपनाने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। मानस जहाँ महाकाव्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की गौरवान्वित कृति है और उसे हिन्दी की अक्षय निधि माना जाता है वहाँ गीतिकाव्य की दृष्टि से श्रीकृष्ण गीतावली, राम गीतावली और विनय-पत्रिका भी उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। श्रीकृष्ण गीतावली इकसठ पदों की एक छोटी-सी पुस्तक है जिसके स्फुट पदों में कृष्ण-कथा के हृदयस्पर्शी प्रसंगों का चित्रण किया गया है। श्रीकृष्ण गीतावली के पद बाललीला, भ्रमर-गीत, नेत्र-वर्णन और द्रौपदी चीर हरण नामक चार भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। इसी प्रकार राम गीतावली में तुलसी ने राम-कथा का वर्णन किया है और उसमें प्रबन्धात्मकता की ओर भी उन्होंने विशेष ध्यान दिया है। विनय-पत्रिका तो निस्सन्देह उनकी सर्वतोकृष्ट कृति ही है जिसमें कि उनके धार्मिक सिद्धान्तों और भक्तिभावना के साथ-साथ शुद्ध कवित्व की भी झलक देख पड़ती है। डॉ० रामरतन भटनागर के शब्दों में "विनयपत्रिका में तुलसी के उन विचारों को ही स्तोत्रात्मक और गीतात्मक रूप मिला है जो उनके मानस की आधार-भूमि हैं। परन्तु जहाँ मानस में उनका रूप वर्णनात्मक है याने तर्क-समन्वित है, वहाँ विनय-पत्रिका में उनका रूप भावात्मक है और वे सिद्धान्त तुलसी के प्रेम विश्वास को पाकर जगमगा उठे हैं।"

जिस प्रकार तुलसी ने तत्कालीन प्रचलित समस्त काव्य-शैलियों को अपनाया है उसी प्रकार वे अवधी और ब्रजभाषा दोनों में ही सफलतापूर्वक काव्य-सृजन कर सके हैं। तुलसी के समय में काव्य-भाषा के ये दोनों रूप प्रचलित थे। वीरगाथाकाल के कवियों की कृतियों में भी ब्रजभाषा की झलक दीख पड़ती है और पृथ्वीराज रासो की भाषा पर तो उसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा है, यद्यपि ब्रजभाषा उस समय उतनी परिपक्व न हो सकी थी। नाथ-पंथियों ने जिस सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया है उसमें भी राजस्थानी और पंजाबी के साथ-साथ ब्रजभाषा भी झलक उठती है। कबीर के पदों की भाषा भी ब्रजभाषा ही है तथा सूर ने भी इसी ब्रज की चलती बोली

१ तुलसीदास—श्री चन्द्रबली पांडे (पृ० २२५)

को साहित्यिक बाना पहना कर काव्य-भाषा के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया। यद्यपि सूर की ब्रजभाषा में क्रियाओं के कतिपय प्राचीन रूप और प्राकृत के शब्द भी दृष्टिगोचर होते हैं पर सूर ब्रजभाषा को सार्वदेशिक भाषा बनाने मे सफल अवश्य रहे हैं। इधर ब्रजभाषा के इस मधुर स्रोत के साथ-साथ अवधी का स्रोत भी प्रवाहित हो रहा था तथा प्रेममार्गी शाखा के कवियों ने अपनी प्रेमगाथाएँ अवधी मे ही लिखी हैं। जायसी के पद्मावत की भाषा ठेठ अवधी ही है। स्मरण रहे संस्कृत का अत्यधिक ज्ञान होते हुए भी तुलसी का देश भाषा को अपनाना सराहनीय कार्य ही माना जाएगा। उस समय सभी प्रसिद्ध विद्वान देश भाषा में रचे हुए काव्य को हीन दृष्टि से देखते थे परन्तु तुलसी ने देश भाषा मे ही काव्य रचना कर दूसरों के उपहास की तनिक भी चिन्ता न की –

भाषा भनिति मोर मति थोरी।
हँसिबे-जोग हँसे नहिं खोरी॥

तुलसी ने कवितावली, रामगीतावली, कृष्ण गीतावली और विनय-पत्रिका की रचना ब्रजभाषा मे की तथा रामचरित मानस, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल और रामलला नहछू की रचना अवधी में। ठेठ अवधी का जो माधुर्य जायसी की 'पद्मावत' में है वही रामलला नहछू, बरवै रामायण, जानकी मंगल और पार्वती मंगल में भी है। यद्यपि पद्मावत और रामचरित मानस दोनों ही अवधी में लिखे गए हैं परन्तु दोनों की भाषा में कुछ अन्तर भी है। जायसी की अवधी ठेठ अवधी है जब कि तुलसी की अवधी संस्कृतमिश्रित साहित्यिक अवधी है और उन्होंने जगह-जगह पर संस्कृत की कोमलकांत पदावली का अनुसरण किया है। यद्यपि तुलसी के पूर्व ही अवधी में प्रेमगाथायें लिखी जा चुकी थीं परन्तु इसका श्रेय तुलसी को ही है जो कि उन्होंने इसे साहित्यिक साँचे में ढाल काव्य-भाषा के उपयुक्त बना दिया और इस प्रकार अवधी में 'मानस' की रचना कर अवधी को सदा के लिये अमर कर दिया।

तुलसी ने ब्रजभाषा को भी साहित्यिक साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार उन्होंने ब्रजभाषा का केवल ढाँचा मात्र ग्रहण कर मुहावरों और अन्यदेशीय शब्दों के योग से उसे सामान्य काव्य-भाषा बनाने का प्रयास किया है। उनकी भाषा में स्वाभाविकता इतनी अधिक है कि यह प्रतीत ही नहीं होता कि उसमें अन्य देशी और विदेशी भाषाओं के भी शब्द हैं। तुलसी ने प्रचलित और अप्रचलित कई शब्दों को ब्रजभाषा का बाना पहिना दिया है। संस्कृत तथा प्राकृत के भी कुछ अप्रचलित शब्द

तुलसी की कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु इतने पर भी दुरूहता कहीं नहीं आ सकी है।

तुलसी की भाषा की प्रमुख विशेषता तो यह है कि उन्होंने सर्वथा भावानुकूल भाषा ही लिखी है। जो तुलसीदास इस प्रकार की कोमलकांत पदावली का व्यवहार करते हैं—

वर दन्त की पंगति कुन्दकली,
अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै,
छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर,
कुण्डल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करैं तुलसी,
बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

वही वीर या भयानक रस की अभिव्यंजना करते समय इस प्रकार की शब्द-योजना करते हैं--

मत्त भट-मुकुट दसकंध-साहस-सइल,
सृङ्ग-विरहनि जनु ब्रज-टाँकी।
दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ,
सेप संकुचित, संकित पिनाकी॥
चलित मेह मेरु, उच्छलित सागर सकल,
बिकल विधि बधिर दिसि बिदिसि झाँकी।
रजनिचर-घरनि-घर गर्भ-अभर्क स्रवत,
सुनत हनुमान की हाँक बाँकी॥

तुलसी की रचनाओं में आवश्यकतानुसार उत्तम भाषा के तीनों प्रधान गुणों की अधिकता है। वीर, रौद्र, वीभत्स एवं भयानक रस की अभिव्यक्ति में ओज, गुण और शृंगार, करुण, शान्त तथा हास्यरस की व्यंजना में माधुर्य गुण आवश्यकीय हैं। उनकी भाषा में ये दोनों गुण तो दृष्टिगोचर होते ही हैं; साथ ही प्रसाद गुण की भी बहुलता-सी है।

तुलसी की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों की प्रचुरता है। कहीं-कहीं प्रान्तीय मुहावरे भी हैं अन्यथा सर्वत्र सार्वदेशिक मुहावरों का ही प्रयोग हुआ है। मुहावरों, लोकोक्तियों और कहावतों के प्रयोग में वस्तुतः उनको अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है, तुलसी शब्द-योजना के सहारे कहीं-कहीं बड़ा सुन्दर चित्र-सा खींच देते हैं। चित्रकूट में राम के सामने जाते

समय भरत की दशा का कितना सुन्दर चित्र तुलसी ने यहाँ प्रस्तुत किया है—

बिलोके दूर तें दोऊ वीर।
मन अगड़ हूँ, तन पुलक सिथिल भयो,
नयन नलिन भरे नीर।
गड़त गोड़ मनो सकुच पंक महँ,
कढ़त प्रेम बल धीर॥

संस्कृत की कोमलकांत पदावली का प्रयोग करने से भाषा में साहित्यिकता, सुघरता और सुमधुरता का समावेश हुआ है। विनय-पत्रिका की भाषा संस्कृत गर्भित अवश्य है परन्तु केशव की भाँति तुलसी ने अप्रयुक्त संस्कृत शब्दों को ठूँसने का प्रयास नहीं किया। तुलसी अलंकार-व्यंजना में भी पूर्ण सफल रहे हैं और प्रायः सभी प्रकार के अलंकार उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं।

साथ ही तुलसी की भाषा में अन्य दूसरी भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं और अरबी के गरीब, गनी, साहिब, हलक, कहरी, गुलाम, हराम, किसब, हवूथ, नफीरि तथा फारसी के कागर, दगाबाज, दराज, नेवाज, सालिम, कागद, जहान, असवार, बकसीस, सहिदानी, कोतल, सहम जैसे बहुत से शब्द उनकी कृतियों में दीख पड़ते हैं। इनके साथ-साथ बँगला के खटना, वैसा, गुजराती के माँगी, लाधे तथा भोजपुरी के विहल, रौरे और राउर शब्द भी उनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। बुन्देलखण्डी शब्द और मुहावरे दोनों ही प्रचुर संख्या में तुलसी की कृतियों में दीख पड़ते हैं। तुलसी आवश्यकतानुसार नई क्रियाएँ बनाने में भी निपुण थे। श्री रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में—"भाषा की दृष्टि से तुलसीदास परम स्वतन्त्र कवि थे। जहाँ उन्होंने जैसी आवश्यकता देखी, वहाँ वैसी क्रिया ढाल दी।"[1] तुलसी ने तुकान्त के लिये शब्दों को बहुत कम विकृत किया है और यदि कहीं शब्द तोड़-मरोड़े भी गये हैं तो भी उनका स्वरूप विकृत न हो सका। तुलसी ने नये शब्द भी गढ़े हैं पर उनसे दुरूहता कहीं नहीं आई। इस प्रकार तुलसी की भाषा में गुणों की बहुलता-सी है। सर्वत्र ही सुमधुर, सरस, संगीतमय, सुकोमल, सजीव और सशक्त शब्दावली ही तुलसी की कृतियों में दृष्टिगोचर होती है। भाषा की दृष्टि से तुलसी की यह महान विशेषता है कि वे अवधी और ब्रज दोनों में समान निपुणता से रचना कर

१ तुलसीदास और उनकी कविता—श्री रामनरेश त्रिपाठी

सके हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि न तो सूरदास का ही अवधी पर कुछ अधिकार था और न तो जायसी का ब्रजभाषा पर।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी प्रबन्ध-पटुता, रस-व्यंजना, अलंकार-व्यंजना, तल्लीनता, भाषाभिव्यक्ति, वर्णन शैली और मनोहर भाव-व्यंजना आदि सभी काव्यगत विशेषताओं की सराहना करनी ही पड़ती है। रस-व्यंजना के हेतु वे विभाव, अनुभाव, आलंबन, उद्दीपन आदि जुटाने नहीं बैठे थे वरन् स्वाभाविक ही उनकी रचनाओं में रस-पयोधि उमड़ उठा है। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी तथा साधारण से साधारण भावों को भी उन्होंने जगमगा दिया है। उनकी काव्यकला की प्रशंसा तो पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से की है तथा हिन्दी काव्य साहित्य में ही नहीं वरन् विश्वसाहित्य में उनका आदरणीय स्थान है। वस्तुतः डॉ० राजपति दीक्षित ने उचित ही लिखा है—"तुलसी ने अपनी अद्वितीय कवित्व-शक्ति और अनन्य साधुता के संयोग का अपूर्व अमृतमय सुभग फल हिन्दी साहित्य को देकर उसे युग युगान्तर के लिये अमर कर दिया है।"[1]

---

१ तुलसीदास और उनका युग—डॉ० राजपति दीक्षित (पृ० ४९३)

# रीतिकाल में पूर्ववर्ती काव्य-परम्पराओं का विकास

"कविता के प्रेमियों के लिए रीतिकाल मृत नहीं, सजीव है तथा उसकी भी कितनी ही कविताओं में वही रस और आनन्द विद्यमान है, जिसके लिए हम नवयुग के काव्य-रसिक इतने लालायित रहते हैं।"

—दिनकर

जैसा कि डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी ने अपने शोध-प्रबन्ध 'रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचन' में लिखा है "रीति से तात्पर्य काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों, रस ध्वनि, अलंकार काव्य के गुण-दोष आदि के विवेचन से होता है। हिन्दी साहित्य में सन् १६०० से लेकर सन् १८५० तक के समय में ऐसे ही रीतिबद्ध और रीतियुक्त ग्रन्थों की रचना हुई थी, इसी कारण उसे रीतिकाल कहा गया है। इन ग्रन्थों में काव्य-लक्षण, रस-निरूपण, भाव-भेद, नायक-नायिका भेद, ध्वनि, अलंकार, पिंगल, काव्य के गुण-दोष आदि समस्त काव्यांगों की विशद चर्चा है।"[१] वस्तुतः हिन्दी साहित्य के दो सौ वर्षों (सं० १७००-१९०० वि०) का समय रीतिकाल के नाम से जाना जाता है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन करते हुए इस काल को रीतिकाल कहना ही अधिक उपयुक्त समझा है परन्तु जब हम उनके विवेचन का अवलोकन करते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि भक्तिकाल की भाँति रीतिबद्ध रचना-परम्परा के भी उपविभाग करने की इच्छा उन्हें थी। उन्होंने कहा भी है "रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परम्परा चली है उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है? .........रीतिबद्ध ग्रन्थों की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्य्यालोचना करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय, पर अभी तक मुझे नहीं

१ रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचना—डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी (पृ० ३२१)

मिला है।"[१] शुक्ल जी के इतिहास-ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरांत तो बहुत दिनों तक हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों में रीतिकाल नाम ही प्रचलित रहा पर कालांतर में उसे शृंगारकाल या अलंकृतकाल के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। 'अलंकृत काल' नाम के सम्बन्ध में तो कोई पुष्ट आधार नहीं दिए गए पर रीतिकाल को शृंगारकाल माननेवालों की संख्या कुछ कम नहीं है। यों तो स्वयं शुक्ल जी ने ही अपने इतिहास-ग्रन्थ[१] के पृष्ठ २४१ में यह मान लिया था कि रस के विचार से इस काल को शृंगारकाल कहा जा सकता है और कालांतर में आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने उसे शृंगारकाल कहना ही अधिक उपयुक्त समझा है तथा 'बिहारी' 'घनानन्द कवित्त' व 'वाङ्मय विमर्श' आदि समीक्षात्मक कृतियों में उन्होंने रीतिकाल नामकरण की अनुपयुक्तता पर विचार करते हुए 'शृंगारकाल' नाम की सार्थकता ही प्रतिपादित की है। उन्होंने कहा भी है "प्रेम लक्षणा भक्ति में शृंगार को हाथ पैर फैलाने का पूरा अवसर मिला। अपभ्रंशकाल की शृंगारी प्रवृत्ति, जो समय पाकर दबी हुई थी, धीरे-धीरे सिर उठाने लगी। शृंगार की रचनाएँ बराबर होती आई हैं। आदिकाल में विद्यापति की रचनाओं की चर्चा हो चुकी है। भक्तिकाल में स्वयं सूरदास ने राधाकृष्ण के शृंगार का भक्ति-मिश्रित वर्णन किया। फल यह हुआ कि कवि भक्ति की आड़ लेकर शृंगार की रचनाओं में प्रवृत्त होने लगे। उन्होंने शृंगारवर्णन को 'रधिका कन्हाई के सुमिरन' का बहाना बना लिया और घोर शृंगार की रचनाएँ चल पड़ीं। यद्यपि शृंगार की रचनाएँ सं० १६०० के आस-पास से ही स्वच्छन्द रूप में दिखाई पड़ती हैं तथापि १६०० से १७०० तक उसका प्रस्तावनाकाल ही समझना चाहिए। शृंगार की प्रवृत्ति एक तो रीतिशास्त्र का सहारा लेकर बढ़ी, दूसरे भक्तिकाल की अधिकतर फुटकर रचनाओं के परिणामस्वरूप सूफियों के प्रबन्धकाव्य की ओर जाकर मुक्तकों की ओर लपकी। नायिकाभेद और अलंकार का निरूपण इसी से उपयुक्त दिखाई पड़ा। नायिका-भेद या रस-निरूपण पर जो रचनाएँ हुई हैं वे तो शृंगार-मय थी हीं, अलकार-निरूपण में भी उदाहरण-स्वरूप शृंगार की ही रचनाएँ अधिक परिमाण में निर्मित हुई।

सं० १५९८ में कृपाराम ने 'हित तरंगिणी' नाम की और उसी समय के आसपास मोहन मिश्र ने 'शृंगारसागर' नाम की पोथियाँ शृंगार की

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ० ५-६)

ही लिखीं, जिनमें रस-निरूपण किया गया है। स्वयं सूरदास ने 'साहित्य-लहरी' में दृष्टिकूट के कितने ही पद ऐसे रखे हैं जिनके अन्त में किसी नायिका का नाम और उसका लक्षण निकलता है। इन पदों में शृंगार लीला ही गाई गई है। रहीम ने भी बरवै-नायिकाभेद लिखा। केशव ने रसिकप्रिया का निर्माण किया और सेनापति ने भी कवित्तरत्नाकर में शृंगार की ही तरंगें लहराईं। सं० १७०० से आसपास भक्ति की रचनाएँ प्रायः बन्द हो गईं और शृंगार की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में होने लगीं।

शृंगारकाल में दो प्रकार के कवि स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक वे जो रीति का सहारा लेकर शृंगार की रचना करते थे, दूसरे वे जो रीतियुक्त स्वच्छन्द रचना करने वाले थे। रीतिबद्ध रचना करने वालों में भी दो प्रकार के कवि दिखाई पड़ते हैं। कुछ तो रीतिशास्त्र का कोई लक्षण ग्रन्थ लिखने बैठते थे और उसके उदाहरणों के रूप में अपनी शृंगार की रचना प्रस्तुत करते थे और कुछ स्फुट रचनाएँ ही करते थे लक्षण-ग्रन्थ नहीं बनाते थे, पर उन पर रीति का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। रीतिमुक्त रचना करने वालों की रचनाएँ रीति की पद्धति पर नहीं चली हैं। वे उनके स्वच्छन्द उद्गार हैं। अधिक संख्या रीति का अनुगमन करने वालों की है और जो शृंगार की रचना करने वाले नहीं थे वे भी रीति का सहारा लेकर चले। इसी से ऐतिहासिक इसे 'रीतिकाल' कहते हैं। उतर मध्यकाल को 'रीतिकाल' कहना ठीक ही है, पर रीतिकाल में अपनी स्वच्छन्द उद्भावना दिखाने वाला कोई नहीं हुआ। वस्तुतः वे लोग रीति के आचार्य न होकर कवि-मात्र थे। संस्कृत से रीति की पकी-पकाई सामग्री लेकर वे अपनी कवित्वशक्ति का ही प्रदर्शन करना चाहते थे। अतः वर्ण्य इनके पास शृंगार ही था। रीतिकाल कहने से इनकी रचनाओं के विभाजन का कोई मार्ग नहीं मिलता। पर शृंगारकाल कहने से स्पष्ट विभाग दिखाई पड़ते हैं। अतः इसे वर्णन प्रणाली के विचार से रीतिकाल न कह कर वर्ण्य के विचार से शृंगारकाल कहना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है।"[1] उधर लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के विभाग के प्राध्यापक डॉ० ब्रज-किशोर मिश्र ने भी अपने शोधप्रबन्ध 'अवध के प्रमुख कवि' में इसका शृंगार-काल नाम ही उपयुक्त माना है।[2]

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो 'शृंगारकाल' नाम अधिक उपयुक्त व सामान्य-प्रवृति निरूपण करने वाला प्रतीत नहीं होता और डॉ० बच्चन सिंह

१ वाङ्मय विमर्श—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (पृ० २४३-२४५)
२ अवध के प्रमुख कवि—डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र (पृ० ५३-५६)

ने अपने शोध-प्रबन्ध 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना' में इसे स्पष्ट भी किया है। उनका कहना है "रीति शब्द के कारण पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या संस्कृत के रीति सम्प्रदाय से इसका कुछ सम्बन्ध है ? संस्कृत के आचार्यों ने रीति को 'विशिष्टापद रचना' कहा है। इसमें रचना का कौशल ही काव्य का सर्वस्व मान लिया गया है। लेकिन हिन्दी में रीति शब्द इस अर्थ में ग्रहण नहीं किया गया। यह संस्कृत के काव्य-शास्त्र या अलंकार-शास्त्र का बहुत कुछ समानार्थी भी कहा जाता है क्योंकि संस्कृत के काव्य-शास्त्र की भाँति इसमें भी काव्य-रचना की विधि वर्णित होती है। पर संस्कृत के काव्यशास्त्र की परिष्कृत रचनाशैली और गम्भीर विवेचना-पद्धति हिन्दी के रीति ग्रन्थों में नहीं दिखाई पड़ती। यद्यपि हिन्दी के रीति ग्रन्थकारों ने लक्षण निरुपरण में संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों को ही मूल आधार माना है फिर भी उनमें विवेचन की वह सूक्ष्मता और गहराई नहीं आ सकी जो संस्कृत में दिखाई पड़ती है, संस्कृत के पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रों में उदाहरण साधारणतः विभिन्न कवियों की कृतियों से संगृहीत किए गए हैं, किन्तु संस्कृत के परवर्ती अलंकार ग्रंथों में उनके रचयिताओं ने स्वचरित लक्षण-उदाहरण ही रखे। हिन्दी के रीति ग्रंथों में इन्हीं परवर्ती अलंकार ग्रंथों का अनुकरण दिखाई पड़ता है। संस्कृत के काव्यशास्त्रों में जहाँ शास्त्रीय विवेचन पर बल दिया गया है वहाँ हिन्दी के रीति ग्रन्थों में उदाहरणों के उपस्थापन पर। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी का रीति शब्द न तो संस्कृत के रीति संप्रदाय से सम्बद्ध है और न तो रीति ग्रंथ संस्कृत के अलंकारशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र का समानार्थी है। हिन्दी में यह अपने विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में रीतिकाल का सामान्य परिचय देते हुए केशव के सम्बन्ध में लिखा है—'इसमें सन्देह नहीं कि काव्य रीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया।' 'काव्य-रीति,' 'रस-रीति, अलंकार-रीति आदि का प्रयोग इस काल के अनेक कवियों ने स्वयं किया है। दास की प्रायः उद्धृत पंक्ति 'काव्य की रीति सिखी सुकबीन सों देखी सुनी बहु लोक की बातें' के अतिरिक्त चिंतामणि, देव, प्रतापसाहि, सुन्दर आदि ने 'रीतिसुभाषा कवित्त की,' 'कवि रीति', कवित्त रीति आदि का प्रयोग किया है—

१—मेरे पिंगल ग्रन्थ ते समुझे छन्द विचार।
रीति सुभाषा कवित्त की, बरनत बुधि अनुसार॥

—चिन्तामणि, कविकुल कल्पतरु, पृष्ठ ३

२—सुर बानी याते करी, नर बानी में ल्याय।
जाते मग रस रीति को, सब ते समभयो जाय॥
—सुन्दर शृंगार, छं० ३६४

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ये कवि रीति के अन्तर्गत रस, अलंकार, ध्वनि आदि के निरूपण का समावेश करते थे। शुक्ल जी को 'रीति' शब्द इन कवियों से एक बँधे बँधाए अर्थ में मिल चुका था, सम्भवतः इसीलिए अपनी ओर से बिना किसी विवेचना के ही उन्होंने उसको उसी अर्थ में स्वीकार कर लिया। 'रीति' शब्द स्वयं इतना सर्व परिचित था कि आवश्यकता ही नहीं हुई। फिर भी शुक्ल जी की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय एवं वैधानिक विधान दिया, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उनसे पूर्व 'रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षणग्रंथों के लिये भी, जिनमें रीतिकथन तो नहीं हैं, परन्तु रीति बन्धन निश्चित रूप से है, रीति संज्ञा शुक्ल जी के पूर्व अकल्पनीय थी। शुक्ल जी के कुछ अंशों में वामन के रीति शब्द का अर्थ-संकेत भी ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान में, जिसने रीति ग्रंथ रचा हो केवल वही रीतिकवि नहीं है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीतिकवि है।' इसीलिए बिहारी को भी उन्होंने रीतिबद्ध कवियों में रखा।

शुक्लजी के पश्चात् कुछ लोगों ने उस काल को शृंगारकाल कहना अधिक उचित समझा। उनका कहना है कि रीतिकाल की विशेषतायें अपनी सीमा में घनआनन्द, ठाकुर, बोधा आदि को सन्निविष्ट नहीं कर सकतीं। इसीलिए शुक्लजी को इनके लिए फुटकल खाता खोलना पड़ा। 'शृंगारकाल' नाम की व्याप्ति रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनों प्रकार के कवियों को अपने आच्छादन में ढँक लेती है। पर वस्तुतः इस काल को 'शृंगारकाल' की संज्ञा देना इन आलोचकों की नई उद्भावना नहीं है। स्वयं शुक्लजी ने अपने इतिहास में इस ओर संकेत करते हुए लिखा है—'वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है।' बाद में शुक्ल जी की इस उक्ति के आधार पर 'शृंगारकाल' के पक्ष में जो भाष्य किया गया वह सामान्यतः मान्य नहीं हुआ। यदि शृंगारकाल नाम स्वीकृत कर लिया जाय तो भी फुटकल खाता बन्द नहीं होता, कम से कम भूषण

तथा अनेक नीति और उपदेश-परक-काव्य लिखने वालों के लिए इसे खोलना ही पड़ेगा।

रह गये घनआनन्द, जिन्हें कुछ लोग एकदम रीतिमुक्त और विशुद्ध स्वच्छन्दतावादी समझ कर यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि शृंगारकाल नाम इस प्रकार के स्वच्छन्दतावादी कवियों को अपनी व्याप्ति में भलीभाँति समेट लेता है। लेकिन कठिनाई केवल यह है कि घनआनन्द और प्रवृत्ति की दृष्टि से उनसे कुछ मिलते-जुलते कवि स्वच्छन्दता दिखाने पर भी रीतिकाल के प्रभाव से नहीं बच सके हैं। उन पर स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में रीतिकालीन रूढ़ियों का निश्चित प्रभाव लक्षित होता है। अतः घनआनन्द का अवलम्ब लेकर भी रीतिकाल के समक्ष शृंगार काल नाम का औचित्य नहीं सिद्ध होता।

वस्तुतः साहित्यिक काल-विशेष का नामकरण उस मुख्य प्रवृत्ति के आधार पर होना चाहिए जो उस काल के प्रमुख और अधिकांश कवियों को काव्य लिखने की प्रेरणा देती रही है। भक्तिकाल नाम इसलिए उपयुक्त और संगत है कि उस काल के अधिकांश और प्रमुख कवियों की काव्य-रचना की मूल प्रेरक शक्ति भगवद्भक्ति रही। इसी प्रकार विक्रम की १७वीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं तक के प्रमुख और बहुसंख्यक कवियों को प्रेरणा उस काव्यशैली से मिली थी जिसे संक्षेप में और अवितर्क रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीति कहा था।"[1] इस प्रकार रीतिकाल नाम ही सर्वथा उपयुक्त है और हमें यह स्मरण रहना चाहिए कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त डॉ० श्यामसुन्दर दास[2], डॉ० नगेन्द्र[3],

---

१ रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना—डॉ० बच्चन सिंह (पृ० ४-७)

२ "............पीछे के जो कवि हुए, उन्होंने काव्य-कला की परि-पुष्टि को ही प्रधान मानकर शेष सब बातों को गौण स्थान दिया और मुक्तकों के द्वारा एक-एक अलंकार, एक-एक नायिका अथवा एक-एक ऋतु का वर्णन किया है। आगे चलकर यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि बिना रीति ग्रंथ लिखे कविकर्म पूरा नहीं समझा जाने लगा। हिन्दी साहित्य के इसकाल को हम इसीलिये रीतिकाल कहते हैं।"

—हिन्दी साहित्य : डॉ० श्यामसुन्दर दास (पृ० २४१)

३ "शुक्ल जी के उपरान्त कुछ आलोचकों ने इस काल को रीतिकाल की अपेक्षा अलंकार काल या शृंगारकाल कहना अधिक उपयुक्त माना, परन्तु हिन्दी में उनका अनुसरण नहीं हुआ। फलतः आज हिन्दी के लगभग

डॉ० गुलाबराय[1] तथा डॉ० भगीरथ मिश्र[2] ने भी इसे रीतिकाल कहना अधिक युक्तिसंगत समझा है।

स्मरण रहे "हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य की सामाजिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से हमें मालूम होता है कि यह बड़ी अव्यवस्था का युग था। मुगल साम्राज्य के वैभव का सूर्य अस्ताचल की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा था। सारा देश युद्ध और विप्लव का क्षेत्र बना हुआ था। औरंगजेब के बाद गिरते हुए मुगल साम्राज्य के विशाल भवन को सँभालने वाला कोई दृढ़ स्तम्भ न था। नादिरशाह और अब्दाली के आक्रमणों ने इस नाश और अव्यवस्था को अधिक गति प्रदान की। सामन्तशाही जर्जर थी पर जनता को दलित किए जा रही थी। औरंगजेब की धार्मिक सहिष्णुता से हिन्दू दुर्बल हो गये थे और मुसलमान विलास में अपनी शक्ति नष्ट कर रहे थे। सामान्य जनता की दशा असन्तोष-जनक थी। कृषक वर्ग सोने की फसल पैदा करके भी भूखा रहता था। यह सारा काल मुगल राज्य के क्रमिक ह्रास, हिन्दू शक्तियों के उत्थान और पतन तथा अंग्रेज शक्ति के क्रमिक विकास का इतिहास है। आये दिन युद्धों के नीचे निरीह भारतीय जनता पददलित हो रही थी। अराजकता का वह युग ही था। सम्पूर्ण देश में ठगों, चोरों, डाकुओं और युद्धजीवी वर्गों का बोलबाला था। समाज की आत्मा संकुचित हो गई थी। वह आत्मनिष्ठ और रूढ़िग्रस्त था। राष्ट्र की नवचेतना का मार्ग अवरुद्ध था। इसी परिस्थिति में साहित्य सर्जना नवीन एवं जनमंगलकारी पथ का अन्वेषण न कर सकी।

रीतिकालीन काव्यधारा नूतन धारा नहीं मानी जा सकती। वह वस्तुतः भक्तिकाल की काव्य-परम्परा का विकृत स्वरूप है जो अतीव सज-धज के साथ अपनी सत्ता उद्घोषित करने लगी। ............भक्तिकाल में निर्गुणोपासना एवं राम की साकारोपासना को कभी काव्य में वह विस्तृत व्यापक स्वरूप न प्राप्त हुआ जो कृष्ण की उपासना को सहज ही

---

सभी विद्वान, आलोचक एवं इतिहासकार केशव, बिहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्य-विशेष को जिसमें रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन अथव. उन नियमों का बन्धन है, रीति-काव्य के ही नाम से पुकारते हैं।"

——रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र (पृ० १३०)

१ हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—डॉ० गुलाबराय (पृ० ११८)

२ हिन्दी रीति साहित्य—डॉ० भगीरथ मिश्र (पृ० २०-२१)

प्राप्त हो गया था। कृष्ण-काव्य में शृंगार और भक्ति का अपूर्व समन्वय था। दोनों अन्योन्याश्रित प्रतीत होने लगे थे। माधुर्य भाव में जनसामान्य की वृत्तियों को आकर्षित करने की अद्भुत क्षमता है। कृष्ण-काव्य की इसी माधुर्य भावना की बहुमुखी अभिव्यंजना ने लोक मानस को अभिभूत कर दिया था। यह कहना भ्रममूलक होगा कि कृष्ण भक्तों के वासनापूत हृदय ने ही अपने स्वरूप को आवृत्त करने के लिये प्रेम में अलौकिकता का आरोप क: दिया; वे वास्तव में उच्चकोटि के भक्त और निष्ठावान थे। साथ ही यह कहना कठिन है कि उनके शृंगारपूर्ण कवित्व ने अनिवार्य रूप से सामान्य जनता की भक्ति-भावना को ही उद्दीप्त किया। आगे चलकर हम देखते हैं कि पहले भक्त कवि जिस माधुर्यपूर्ण कविता को भक्ति का अंग मानकर चले थे वही अनेक कवियों द्वारा उद्देश्य रूप में मान ली गई। शृंगारिक कविता आने वाले कवियों के लिये व्यसन के रूप में परिणत हो गई। हृदय को भक्ति-रस में विभोर करने के लिए जिन राधाकृष्ण को आलम्बन रूप से अपनाया गया था वे केवल विलासी नायक और नायिकाओं के रूप तक सीमित रह गये। भक्तिकाल के भक्त कवियों का ध्येय तीव्र भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति था, कवित्व उनके लिए साधन के रूप में गृहीत हुआ था, किन्तु रीतकाल के कवियों ने काव्य के बाह्य स्वरूप को ही एकमात्र लक्ष्य बना लिया।

मुगल सल्तनत अपने वैभव और विलास के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। इस वैभव ने अनेकांश में भक्ति-रसपूर्ण शृंगारिक भावनाओं को लौकिक शृंगार का रूप प्रदान करने में सहयोग प्रदान किया। रीतिकाव्य की दूतियाँ शाही हरम के लिए कुटनी का काम करने वाली स्त्रियों का ही परिवर्तित और छद्म रूप हैं। इन रीतिकालीन कवियों ने अपनी विलासपूर्ण भावनाओं पर भक्ति का आवरण डालने की चेष्टा की। उनकी कविता 'स्वान्तः सुखाय' न बनकर आश्रयदाता सामन्तों एवं राजाओं की भोगवृत्ति को उत्तेजित करने का साधन बन गईं। काव्य के बाह्य उपकरणों के सजाने में तथा उसके द्वारा अनूठे चमत्कार के उत्पादन में कवियों ने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली। मुगल साम्राज्य में शिल्पकला, चित्रकला और संगीत ने अपने-अपने क्षेत्र में काफी उत्कर्ष प्राप्त किया। कला प्रेमी मुगल सम्राटों ने फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से विलासपूर्ण मुगलशैली का निर्माण किया जिसकी छाप तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन आदि ललित कलाओं और जवाहरात सोने-चाँदी के काम, कढ़ाई, बुनाई इत्यादि प र स्पष्ट अंकित है। इन सबमें ऐश्वर्य का उल्लास, अलंकरण और शृंगार

का रसीलापन है। काव्य में भी हमें विराट गम्भीर तत्व का अभाव और स्त्रैण शृंगारिकता का भाव परिलक्षित होता है।"[१]

रीतिकाल की इस पृष्ठभूमि का अनुशीलन कर जब हम रीतिकालीन काव्यधारा पर विचार करते हैं तब हम यही देखते हैं कि इस काल में प्रधानतः निम्नांकित आठ प्रकार की रचनायें मिलती हैं—

"(१) शृंगार रस की रचनायें रचनेवाले कवि—रसखान, घनानन्द, ठाकुर आदि।

(२) शृंगार रस की लक्षण बद्ध रचनायें रचने वाले कवि—पद्माकर, बेनी आदि।

(३) प्रबन्ध काव्य—१ चन्द्रशेखर का हम्मीर हठ
२ गोरेलाल का छत्रप्रकाश
३ जोधराज का हम्मीररासो
४ सूदन का सुजान चरित्र आदि

(४) वर्णनात्मक प्रबन्ध—दानलीला, मानलीला, जलविहार, मृगया, झूला, होली, जन्मोत्सव, विवाहादि पर (लगभग रीतिकाल के सभी कवि।

(५) नीति और ज्ञान के पद्य—वृन्द, गिरिधर, घाघ, बैताल, भगवत रसिक।

(६) भक्ति काव्य—महाराज विश्वनाथसिंह (३० ग्रन्थ)
भक्तवर नागरीदास (५० ग्रन्थ)

(७) वीर रस की रचनाएँ—लाल का 'छत्रप्रकाश',
भूषण का 'शिवराज भूषण' आदि

( ) गद्य ग्रन्थ—वैष्णव वार्ताएँ—गोसाइयों द्वारा।"[२]

रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों पर विचार करते समय यद्यपि डॉ० नगेन्द्र ने रीति-काव्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ मानी हैं[३] और डॉ० भगीरथ

---

१ हिन्दी-साहित्य-अनुशीलन प्रो० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (पृ० ९१-९३)

२ हिन्दी काव्य की अन्तश्चेतना—प्रो० राजाराम रस्तोगी (पृ० ७७-७८)

३ "रीति-काव्य में दो प्रवृत्तियाँ अभिन्न रूप से गुँथी हुई मिलती है—रीति निरूपण अथवा आचार्यत्व—और (२) शृंगारिकता।"
—रीति-काव्य की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र (पृ० १३३)

मिश्र उसकी चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ मानते हैं[3] पर इस दिशा में हमें यह भी स्मरण रहना चाहिए कि रीतिकाल में यदि पूर्ववर्ती काव्य परम्पराएँ प्रबलता न धारण कर सकीं तो पूर्णतः निर्जीव भी नहीं हो गईं बल्कि उनका विकास ही होता रहा। अतः यहाँ इन पूर्ववर्ती काव्य-परम्पराओं के विकास की संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत करना आवश्यक है क्योंकि जब तक हम इन काव्यधाराओं का परिचय न प्राप्त कर लेंगे तब तक रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों का अनुशीलन उचित न होगा।

---

३ "मध्ययुगीन रीति-काव्य का विश्लेषण करने पर हमें इन प्रमुख प्रवृत्तियों का पता चलता है। पहली प्रवृत्ति तो यह है कि इस समय का अधिकांश काव्य राजाश्रय में लिघा गया, जिससे जहाँ एक ओर कवि-प्रतिभा को निखार और कला को संरक्षण मिला, वहीं दूसरी ओर झूठी प्रशंसापूर्ण तथा श्रृंगार और विलास का खुलकर चित्रण भी हुआ। इन गुणों और दोषों में कोई भी नगण्य नहीं है। दूसरी प्रवृत्ति अलंकृत काव्य लिखने की है जो प्रथम प्रवृत्ति का परिणाम है। आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए उक्ति-चमत्कार एवं शब्दों की बाजीगरी भी खूब प्रदर्शित की गई है। दूसरे शब्दों में, वह अलंकार-प्रधान काव्य है। कवि अपने काव्य को सजाने और सँवारने में पूर्णत: सचेत है और अधिकांश में कवि का अलंकार प्रयोग सहज नहीं। तीसरी प्रवृत्ति है श्रृंगार की, जिसके अन्तर्गत काम-वासना और नारी-सौन्दर्य का चित्रण हुआ है। काम-शास्त्र के ग्रंथों की अनेक बातें नायिकाभेद और संयोग-श्रृंगार-वर्णन में संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों द्वारा ही सम्मिलित कर ली गई थीं, अत: उनका उल्लेख भी इन ग्रंथों में हुआ है जोकि काव्य के अन्तर्गत कहीं-कहीं अत्यन्त सफल रूप में व्यंजित हुआ है। कहीं-कहीं काम-सम्बन्धी यह पक्ष काव्य-सौन्दर्य के उज्ज्वल रूप में कालिमा लगाता है और काव्य इस पक्ष को केवल सीमित और एकान्त पाठ के ही उपयुक्त बना देता है। चौथी प्रवृत्ति भक्तिभावना की है। चाहे मंगलाचरण के रूप में अथवा मध्य काव्य के भीतर, कहीं-कहीं भक्तिभावना अवश्य आ जाती है। इस युग में भक्त कवि अनेक हुए, सो तो हुए ही। विशुद्ध श्रृंगारी काव्य लिखने वाले देव, बिहारी,दास, पद्माकर आदि के भी भक्ति-सम्बन्धी छन्द महत्व के हैं। दास की यह पंक्ति 'आगे के कवि, रीझिहैं तो कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' रीति-काव्य के अधिकांश के लिए खरी उतरती है।"

—हिन्दी-रीति-साहित्य : डॉ० भगीरथ मिश्र (पृ० १३१-१३२)

परम्परागत प्रवृत्तियों की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि रीतिकाल में वीर-काव्य की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई और इसमें कोई सन्देह नहीं कि तत्कालीन वीर-काव्य धारा के ग्रंथों का ऐतिहासिकता की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्व है। वस्तुतः सन् १६५० से १८५० ई० तक का समय युद्ध और विलासिता दोनों ही प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने वाला था अतः युद्धादि के वर्णनों में वीर-भावना का स्वाभाविक ही स्फुरण हुआ है।

रीतिकालीन वीर-काव्य धारा के उल्लेखनीय कवियों में भूषण मान, लाल, श्रीधर, सूदन, हरिकेश, जोधराज, चन्द्रशेखर वाजपेयी आदि की गणना की जाती है। भूषण तो रीतिकालीन प्रशंसनीय कवि हैं और इन्हें रीतिग्रंथकारों में भी उल्लेखनीय स्थान प्राप्त है पर रस-व्यंजना की दृष्टि से विचार करने पर इन्हें वीर रस का निपुण गायक ही मानना होगा और समीक्षकों ने तो उन्हें रीतिकालीन वीर रस के कवियों में शीर्षस्थ स्थान प्रदान किया है।[१] वस्तुतः भूषण की उक्तियाँ अत्यधिक ओजपूर्ण हैं और उनमें एक विलक्षण प्रवाह व प्रभावोत्पादकता के साथ-साथ उत्साह संचार की अद्वितीय शक्ति है।[२]

---

१ "...............पद्माकर, ग्वाल, बनवारीलाल, सूदन, जोधराज इत्यादि कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीर रस को अपनाया है किन्तु भूषण ने तो वीर रस के स्पष्टीकरण के ही लिए जन्म लिया था। भक्ति और रीतिकाल के वीर-काव्यकारों में भूषण का स्थान अद्वितीय है और जब कभी हिन्दी के पाठकों या विद्वानों में कवि चर्चा होती है तो वीर रस के कवि के रूप में भूषण का नाम तुरन्त वहाँ पहुँचता है। भूषण ने यह स्थान विज्ञापन के बल पर प्राप्त नहीं किया है। वास्तव में भूषण की वीर रस की कविता अन्य कवियों से बढ़चढ़ कर है जिसमें वीर रस का परिपाक बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है, जिसमें वीर भाव की विविध श्रेणियाँ बल, ओज और आतंक के साथ खड़ी दिखाई देती है, जिसमें भाषा वीर भावों के पीछे पीछे चलती हुई दर्शकों को आकृष्ट करती है।'

—साहित्य सरोवर: डॉ० गोपीनाथ तिवारी (पृ० १३७)

२ उदाहरणार्थ—

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
उग्ग पर उग्ग नीचे रुंड मुंड फरके।
भूषन भनत बाजे जीत के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके ॥

मान कवि ने महाराज राजसिंह की प्रशंसा में अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजविलास' की रचना की और उनका काव्य ओजपूर्ण उक्तियों व स्वाभाविक अलंकारों के प्रयोग से दीप्त है तथा षट्ऋतु, नखशिख, दुर्भिक्ष तथा युद्ध आदि के वर्णन भी सुन्दर हैं।[1]

---

मारे सुनि सुभट पनारे वारे उदभट,
तारे लगे फिरन सितारे गढ़ धर के।
बीजापुर वीरन के गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम से दर के॥

और भी—

रैया राव चंपति को चढ़ो छत्रसाल सिंह,
'भूषन' भनत गजराज जोम जमकैं।
भादों की घटा सी उड़ि गरद गगन घिरे,
सेलैं समसेरैं फिरैं दामिनी सी दमकैं॥
खान उमरावन के आन राजा रावन के,
सुनि सुनि उर लागैं घन कैसी घमकैं।
बैहर बगारन की, अरि के अगारन की,
लाँघती पगारन नगारन की धमकैं॥

१ 'राजविलास' के 'नवम विलास' से जोधपुर युद्ध-वर्णन का कुछ अंश देखिए—

परे धाइ अरि सेन पर रोस पूरं।
सजे सेन सायुद्ध रट्ठोर सूरं॥
किये कंठ लंकालि कंकालि कूरं।
झनंकी यु पगौ बजी झाक झूरं॥
मची मार मारं जनं मूख मूखे।
मिले जानि जो मंडलं सीह भूखे॥
सरं सोक बज्जी नभं ढंकि सारं।
भठक्के घनं सोर आराब भारं॥
घटक्कै धरा धुन्धरं पूरि धोमं।
बढ़े बीर बीरार सलग्गि व्योमं॥
फुरे योध हत्थं महा कूह फुट्टी।
इतें आजुरी सेन पच्छी उलट्टी॥
धये धींग धींगं धरालं धमक्के।
चहो कोद तें लोकपालं चमक्के॥

लाल कवि का पूरा नाम गोरेलाल या गौरीलाल था और उनकी छत्र-प्रशस्ति, छत्रछाया, छत्रकीर्ति, छत्रछन्द, छत्रसाल-शतक, छत्रहजारा, छत्रदण्ड, छत्रप्रकाश तथा राजविनोद आदि कृतियाँ कही जाती हैं परन्तु छत्रप्रकाश

---

जपे इट्ठ जप्पं जुरे जोध जोधं ।
करो कंक बंके भरे भूरि क्रोधं ।।
मुरे सार सारं ननं मुष्ष मोरे ।
पटे टटटरं बान सन्नाह फोरे ।।
धरे सीस नच्चैं कमंधं प्रचंड ।
मही भिन्न भिन्नं करे रुंड मुंडं ।।
लरें दोन के शीश पच्छै लटक्के ।
कहुं कंठ ज्यों हड्ड जुडे कटंके ।।
घने घाउ लग्गे किते बीर घूमें ।
झुकंते धुकंते किते फेरि झूमें ।।
हहक्कं तहक्कं किते हाय हायं ।
परे घंपि षित्तं झरे हत्थ पायं ।।
परे दीप मज्झे किते ज्यों पतंगा ।
उछं छेनि छंछे करे होम अंगा ।।
भभक्कंत श्रोनं कठे के भसुंढं ।
बिना दंत दंती परे व्है बिहुंडं ।।
बहे बान बेधे कुनंनन्ति बाजी ।
गए चून व्है पैदलं भी गाजी ।।
शिवे संग है ऊतगंगा सरोजा ।
चवंसट्ठि लागी टगी चित्त चोजा ।।
पिये श्रोन पानं बहे बाह पूरं ।
बहे बाहु जंघा भुजंतं बिरूरं ।।
बिना सत्थ केते परे लत्थ बत्थें ।
रनं रास रत्ते रुपे पाइ हत्थे ।।
भये मुट्ठ युद्धं मनौ मल्ल मल्लं ।
अरे मत्त माहिष्ष ज्यों द्वै अडुल्लं ।।
किते कातरा काय ज्यो एन कंपै ।
नचे नारदं तुंबरु जैत जंपै ।।
गहक्कै शिवा चित्त गोमायु गिद्धं ।
लहक्कै पशु पंखिनी मंख लुद्धं ।।

ही उनका सर्वविख्यात ग्रंथ है। डॉ० उदयनारायण तिवारी के शब्दों में "कविवर गोरेलाल की सभी रचनाओं में छत्रप्रकाश की रचना सर्वाधिक प्रौढ़ तथा काव्यगुणोपेत है। लाल ने इसकी रचना छत्रसाल की ही आज्ञा से की थी..........ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से छत्र-प्रकाश एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।"[१] यद्यपि दोहा-चोपाई-पद्धति पर रचना करने वाले अधिकांश कवियों ने अवधी भाषा को ही अपनाया है। पर लाल ने ब्रजभाषा में अपनी इस काव्यकृति की रचना की है और भाषा को सरल बनाने के लिए बुन्देलखण्ड के शब्दों

किते डूब जमदाढ़ कट्टै कटारी।
भरं झुंअग भीम ज्यों रोग भारी॥
तिनं मोह माया तजे गेह तीयं।
पुकारे बकारे मनू छक्क पीयं॥
सराहे रुबाहे किते सेल सेलं।
चुवै रत्त आरत्त ज्यों नीर चैलं॥
तुटें चाप चर्म धजा तेग आनं।
बरं युद्ध आनुद्ध में भो बिहानं॥
फिरे पील सूने परे पीलवानं।
लुटै लच्छि लुटाक पिक्खें सु प्रानं॥
हय नंपि रुंडं नियं छंद हिंडै।
वली तत्थ बड़ हत्थ रट्ठोर तंडै॥
मनो पाथ पाथोधि छडी मृजादा।
सबै सेन सत्थे भगे साहिजादा॥
भगी सेन सुलतान की सन्निभीतं।
बढ़ी जेति कमज्ज सत्थे वदीतं॥
नियं जेति मन्नी यु बग्गै निसानं।
जपै देव जे जे सुरगे न यानं॥
पलं षंडि पग्गें वरं खेत सुज्झ्यो।
लहू लुत्थि अलुत्थि किन जाइ बज्झयो॥
परे मीर सैयद्दरन इक्क पत्ती।
गिन्नै कोन है पैदलं और दंती॥
भयो षेम पेम सबै अप्प सत्थें।
कहे मान यो छन्द रट्ठोर कत्थें॥

१ वीरकाव्य—डॉ० उदयनारायण तिवारी (पृ० ३२३)

को भी निःसंकोच ग्रहण किया है। दोहा-चौपाई-पद्धति में रचित इस प्रबन्ध काव्य में वर्णन की विशदता व प्रसाद गुण की प्रधानता है और हम देखते हैं कि कवि ने छब्बीस अध्यायों के एक सौ तिरसठ पृष्ठों में वीर रस के उद्रेक के लिए कहीं भी बलात् शब्द-नाद और टकार-डकारादि लोमहर्षक वर्णों को अस्वाभाविक रूप में नहीं प्रयुक्त किया बल्कि सरल से सरल व स्वाभाविक से स्वाभाविक रचना द्वारा भावों का समुचित विकास दिखाया है।[1] केवल वीर-रसात्मक प्रसंगों में ही नहीं अपितु अन्य स्थलों में भी लाल की भावाभिव्यंजना सफल है और छत्रसाल की बालक्रीड़ा के वर्णन में तो कवि सूर की भाँति अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षणी शक्ति का परिचय देता है।[2]

---

१ तहवर-युद्ध का यह अंश देखिये—

उतहि पठान चढ़त गिरि आवैं।
इत छत्रसाल बान बरसावैं॥
इक इक बान दुद्वै भट फूटैं।
झुक झुक तऊ झपट रन जूटैं॥
बान बेग जगतेस हुँकार्यो।
त्यौं करबान झरष झुक झार्यो॥
घाउ ओड़ि भुज ऊपर लीनैं।
उमड़ि पाँइ रन सनमुख दीनैं॥
गिरे पठान डील त्यौं भारे।
गोलनि सेल्ह सरन के मारे॥
जंघा घाउ छतारे ओढ़्यौ।
भुजडंडन रन सिन्धु बिलोड़्यौ॥
पिले तुरक जे बखतर बारे।
ते रन गिरे छता के मारे॥
बढ़े गिरिन स्रोनित के नाले।
धर धमकन धरतीतल हाले॥

२ उदाहरणार्थ—

घुटनुनु चलत घूँघुरू बाजैं।
सिंजित सुनत हंस हिय लाजैं॥
गहि पलका की पाटी डोलैं।
किलिकि किलिकि दसननि दुति खोलैं॥

श्रीधर का दूसरा नाम मुरलीधर था और जंगनामा उनकी उल्लेखनीय काव्य-कृति है। लगभग १६३० पंक्तियों की इस रचना में फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के बीच के तीन युद्धों का वर्णन किया गया है तथा कवि ने दोहा-चौपाई छन्दों के अतिरिक्त अन्य छन्दों को भी अपनाया है। यद्यपि ग्रंथ में नामों और युद्ध वर्णनों की भरमार सी है परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह काव्य ओजपूर्ण है[1] और घटनाओं का सजीव चित्रण भी है।[2]

---

१ उदाहरणार्थ—

भारी पातशाह दोऊ, अगारे अगारी लरैं,
धौंसन की दुहूँ ओर श्रीधर धुकार है।
बाजैं बीर बीर गोला बान तरवारि तीर,
बाजै सार सार होत सोर मार मार हैं॥
शेख खैरुल्लाह अलेख रन कीनो कँई दिनों,
जुगनि के भूखे मसहारिन अहार है।
धाय खाये बेसुमार पैठि दल अरि कैंसु,
मारत गिराये बीर बाँके बेसुमार हैं॥
बखतरपोस पखरैत फीलस्वारन को,
कारी घटा भारी ज्यों पयोद प्रलैकाल को।
श्रीधर भनत गोला बान सर झर भर,
बरखत थाँभै को करेरी तरवार को॥
दिलाजाक डपटि हलीमखाँ बरग जाइ,
दल मिडि मार्‌यो भौजदीन विकराल कों।
श्रोनित सलिल तट नाचै प्रेत पहपट,
घट धट घूंटै कर खप्पर कपाल को॥

और भी—

भालनि सों भाला भिर्‌यौ बरछा सों बरछानि,
सरे समसेर समसेरनि सुरखंग मैं।
तीरन को कीनों तन तीरनि तुनीरु तोरु,
तोरादार जोरन न पावतु सुफंग मैं॥
जंग सुलतानी मैं कहानी कैसो कीनो काम,
श्रीधर छबीले राम राजा रन रंग मैं।
साढ़े तीनि हाथ कद दस हाथ हाथी चढ़्यौ,
दोई हाथ होत हैं हजार हाथ जंग मैं॥

२ एक उदाहरण देखिए—

यह सुनत एजुद्दीन भाग्यो फौज संग सबै भगी।
वह सकल मजलिस मौज मैं इक बारगी दुखसों पगी॥

सूदन भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह (सूरजमल) के राजकवि थे तथा इन्होंने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में सुजान-चरित या सुजान-विलास नामक ग्रंथ की रचना की है। इस काव्य-कृति में विस्तार-पूर्वक सूरजमल के सन् १७४५ से लेकर सन् १७५३ तक की आठ वर्ष की घटनाओं का वर्णन है और कृति में वर्णन विस्तार होते हुए भी सुजान चरित के अनेक प्रसंग चित्र को उबा देने वाले भी हैं। कवि ने कहीं-कहीं अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करने की अनधिकार चेष्टा की है अतः पाठकों को इससे अरुचि-सी हो जाती है और अनेक स्थलों पर वस्तुओं व जातियों की लम्बी-लम्बी सूची-सी प्रस्तुत की है जो स्वाभाविक ही पाठकों को उबा देती है। स्मरण रहे सात जंगों के इस काव्य ग्रन्थ में छै बार लम्बी-लम्बी सूचियों की गणना की गई है और सर्वाधिक लम्बी सूची षष्ट जंग में है जो पाँच पृष्ठों तक चली गई है।[1] इतना होते हुए भी युद्ध-वर्णन में सूदन को अवश्य सफलता मिली है और आचार्य शुक्ल ने उनकी प्रशंसा भी की है[2] तथा युद्ध का स्वाभाविक व सजीव वर्णन इस कृति में मिलता भी है[3] परन्तु

---

तब लगी मुख विष सों बिरी अरु गीत गारी सी लगी।
अँग कमल की लाली बटी तदबीर औडर रिस जगी॥
कहुँ परी ठिनगत ढोलकी सुधि ताल घुंघरू गई।
सब गयो मद छूटि छाक सो रहि ऊहि आहि दई दई॥

१ कुछ पंक्तियाँ देखिए—

काथ करौजी कारी जीरी।
काइफरौ कुचिला कनकोरी॥
कुकरौंदा करहरी कहीरा।
कनट कटाई कारी जीरा॥
कुलथी कमलगटा सुकबेला।
ककरासिंगी कन्द सुकेला॥
कमलमूल किरवार कसेरू।
काचनून कर मूल कनेरू॥

२ "सूदन में युद्ध, उत्साहपूर्ण भाषण, चित्त की उमंग आदि वर्णन करने की पूरी प्रतिभा थी।"

—हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० ३६४)

३ उदाहरणार्थ—

अनी दोऊ बनी घन लोह कोह सनी धनी,
धर्मनु की मनी बान बीतन निसंग में।
हाथी हटि जात साथी संगन थिरात श्रौन,
भारती में न्हात गंग कीरति तरंग में॥

युद्ध-वर्णन में भी अधिकतर शब्दों की तड़ातड़ और भड़ाभड़ से जी ऊबने लगता है।"[1] वस्तुतः वीर रस के उद्रेक के लिए बीहड़, अर्थहीन, कर्णकटु शब्दों की आवृत्ति ही पर्याप्त नहीं बल्कि सच्चे आन्तरिक उत्साह व ओज की आवश्यकता होती है लेकिन 'सुजान चरित्र' के युद्ध-सम्बन्धी अधिकांश स्थल 'कड़कड़' 'धड़धड़' से ही पूर्ण हैं तथा सात जंगों के वर्णन में सूदन ने बारह बार शब्द नाद का प्रयोग किया है।[2] छन्दयोजना में कवि केशव का अनुयायी-सा जान पड़ता है और उसने अनेक प्रकार के छन्दों का सफल प्रयोग किया है तथा इकतीस अंकों के इस काव्य में लगभग निन्नावे प्रकार के छन्दों का प्रयोग है। इतना अवश्य है कि छन्दों की इस विविधता से नीर-सता अवश्य कुछ कम हो गई है। साथ ही कवि ने सुजान-चरित में विभिन्न भाषाओं का भी प्रयोग किया है। यद्यपि सूदन की भाषा साहित्यिक ब्रज-भाषा ही है और सुजान-चरित में प्रयुक्त कवित्त सवैयों में ब्रजभाषा का निखरा हुआ रूप ही दीख पड़ता है[3] लेकिन ब्रजभाषा का पूर्ण प्रभाव होते

भानु की सुतासी कवि सूदन निकासी तेग,
बाहत सराहत करहत न अंग में।
बीर-रस रंग यौं आनन्द उमंग में सो,
पगु पगु प्रान होत जोधन को जंग मे।।

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० ३६४)

२ एक उदाहरण देखिए—

धड़धद्धर, धड़धद्धरं भड़भब्भरं भड़भब्भरं।
तडतत्तरं तडतत्तरं कड़क्कक्कर कड़क्कक्करं।।
घड़घग्घरं घड़घग्घरं, झड़झज्झरं झड़झज्झर।
अररर्रर अररर्ररं सररर्ररं सररर्रर।।

३ उदाहरणार्थ—

अदिति असोक भरी सोक भरी दिति और,
दोष भरी पूतना अदोष भरी ओपिका।
कंस हिये भौ भरी अभौ भरी अंधबंस,
पंडव कै कीरति अकीरति की लोपिका।।
लाज भरी द्रोपदी सुराज भरी ब्रजभूमि,
कूबरी इलाज सो अवाज करी कोपिका।
देवकी अनन्द भरी झगे ब्रजचन्द धरी,
भाग भरी जसुदा सुहाग भरी गोपिका।।

हुए भी पंजाबी[1], मारवाड़ी[2], पूर्वी[3] और फारसी रबी[4] के प्रयोग प्रचुर परिमाण में हैं। साथ ही अलंकारों के प्रयोग में भी कृत्रिमता व शिथिलता है और

१ किथ्थे जला पेउ किथ्थे ऊज्जले भिड़ाउ असी,
तुसी कोलग्रीवाँ असी जिन्दगी बचावांहां।
भट्ट ररा साहि हुआ चदला बजीर वेखो,
एहा हाल कीता वाह गुरु नू मनावांहां॥
जांवां किथ्थे जांवां अम्मा बात्रे के ही पांवां जली,
एही गल्ल अष्षैं लष्यौं लष्यौं जली जांवांहा।

२ आव्या तमे आगल न ल्याव्या माटी कागलनैं,
डागला नड्टू की कठामरुन ली ध्यूं छैं।
डोकरी न छैंया साथैं मोकल्या न मामी हाथैं,
घरण् न आथे भूड़ा पोतियौं दी ध्यूं छैं॥
बबुआ न आवा मोर भैयन न पावा याक,
तु हक को न लावा गाँठ डीबू आन द्यावा है।
चाकरी की लकरी की फकरी बिहानी कीन्ह,
मनई न कनई दिहान या बतावा है॥
अस कस कीन्ह म्वार दिल्ली का नवाब ख्वार,
चीन्हत न सार मनसूर जट्ट ल्यावा है।
तुहिकाँ न मुहिकाँ कपीं लुहिकाँ रही न जाग,
भाग कुल और तोपखान बाघ ब्यावा है॥

४ महलसराइ सैंरबाने बूआ बू करो,
मुझे अफसोस बड़ा बड़ी बीबी जानी का।
आलम मैं मालुम चकत्ता का घराना यारों,
जिसका हवाल है तनैया जैसा तानी का॥
खाने खाने बीच से अमाने लोग जाने लगे,
आफत ही जानों हुआ ओज दहकानी का।
रब की रजा है हमैं सहना बजा है बख्त,
हिन्दू को गजा है आया और तुरकानी का॥

अनुप्रास-प्रियता तो कवि में इतना अधिक है कि वह सूची-परिगणन में नामों को भी अनुप्रास की दृष्टि से ही सजाता है।[1]

हरिकेश बुन्देलखंड के निवासी और महाराज छत्रसिंह के आश्रित कवि थे। 'ब्रजलीला' और 'जगतसिंह दिग्विजय' नामक इनके दो ग्रन्थ कहे जाते हैं तथा स्फुट रचनाएँ भी इनकी प्राप्त हुई हैं। वस्तुतः हरिकेश की उक्तियों में ओज-पूर्ण प्रवाह अपने उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है[2] तथा इनकी कुछ उक्तियाँ तो तुलना में भूषण के समकक्ष रखी जा सकती हैं।

---

१ सोमनाथ सूरज सनेही सेख स्यामलाल,
साहिब सुमेर सिवदास सिवराम हैं।
सेनापति सूरति सरबसुख सुखलाल,
श्रीधर सुबलसिंह श्रीपति सुनाम हैं॥
हरिपरसाद हरिदास हरिबंस हरी,
हरिहर हीरा से हुसेन हितराम हैं।
जस के जहाज जगदीस के परममीन,
सूदन कबिन्दन कौं मेरो परनाम हैं॥

२ उदाहरणार्थ—
डहडहे डंकन को सबद निसंक होत,
बहबही सत्रुन की सेना आनि सरकी।
हाथिन के झुण्ड मारु राग को उमंड इतै,
चंपति को नन्द चढ़्यो उमड़ि समर की॥
कहै हरिकेस काली ताली दै नचत ज्यों-ज्यों,
लाली परसत छत्रसाल मुख वर की।
फरकि फरकि उठैं बाहु अस्त्र बाहिबे को,
करकि करकि उठैं कड़ी बखतर की॥

और भी—
दौरे काल किंकर कराल करतारी देत,
दौरी काली किलकत सुधा की तरंग ते।
कहै हरिकेस दाँत पीसत खबीस दौरे,
दौरे मंडली के गीध गीदर उमंग ते॥
चंपति के नन्द छत्रसाल आजु कौन पर,
फरकाई भुजा औ चढ़ाई भौंह भंग ते।
भंग डरि मुख ते भुजा ते भुजंग डारि,
दौरे हर कूदि डारि गौरी अरधंग ते॥

जोधराज अलवर राज्य में नीमराणा (नींवगढ़) के राजा चन्द्रभान चौहान के आश्रित कवि थे और उन्होंने अपने आश्रयदाता के आदेश पर 'हम्मीर रासो' ग्रन्थ की रचना की जिसमें रणथम्भौर के राजा हम्मीरदेव और अलाउद्दीन के युद्धों का ओजपूर्ण वीर-काव्यशैली में वर्णन है। यह ग्रन्थ सरस और प्रभावोत्पादक प्रसंगों से पूर्ण है तथा हम्मीर की उक्तियों में अनूठा आकर्षण है।[1] यद्यपि इस काव्य-कृति में इतिहास विरुद्ध अनेक घटनाएँ व तिथियाँ भी मिलती हैं और कुछ अस्वाभाविक घटनाएँ भी दीख पड़ती हैं पर सूदन व मान की भाँति उसमें नीरसता व उबा देने वाली बात नहीं है। स्वयं शुक्ल जी ने भी इसकी प्रशंसा करते हुए कहा है "हम्मीर रासो की कविता बड़ी ओजस्विनी है। घटनाओं का वर्णन ठीक-ठीक और विस्तार के साथ युद्ध है।........प्राचीन वीरकाल के अन्तिम राजपूत वीर का चरित जिस रूप में और जिस प्रकार की भाषा में अंकित होना चाहिए था उसी रूप में उसी प्रकार की भाषा में जोधराज अंकित करने में सफल हुए हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।"[2] इस प्रकार जोधराज का 'हम्मीर रासो, वीर-काव्यशैली की उल्लेखनीय कृति है।[3]

यों तो चन्द्रशेखर वाजपेयी के हम्मीर-हठ, राजनीति, नखशिख, रसिक विनोद, वृन्दावन शतक, गुरु पचाशिका, तांत्रक

---

१ पच्छिम सूरज उग्गवै, उलटि गंग बहै नीर।
कहो दूत पति साह सों, हठ न तजै हम्मीर॥

× × × ×

अनहोनी नहि होय, होय होनी है सोइय।
रजक मोहि हरि हथ्थ, उर सु मानव क्यों कोइय॥
नहि तजूं शेख कौ प्रण करिव, सरन धरम क्षत्रिन तनौं।
मन है विचित्र महिमा तनो सत्य बचन मुख तें भनौं॥

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० ३५१-३५२)

३ उदाहरणार्थ—

लरै नो मयद्दं रणथ्थंभ देवा,
करै क्रोध भारी पिलै हर्ष भेवा।
गरज्जंत घोरंत आ[illegible] भारी,
घनै घोर वर्षन्त वर्षा करारी॥
कभू हल्लवै भुम्म गज्जंत वीरं,
कभू घोर अं[illegible]र वर्षन्त पीरं।
गणन्नाथ हथ्थं लिए तिक्षि फर्सी,
पिनाकी पिनाकी किए आप दर्सी॥

( ज्योतिष ग्रन्थ ), माधवी वसन्त और हरिभक्ति विलास नामक ग्रन्थ कहे जाते हैं परन्तु हम्मीर-हठ ही उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है[१]

धरै मुद्गरं हथ्थ भैरव अमानो,
इसे दैव जुट्टे सु कट्टे अमानो।
इतें पीर हजरत्त के सथ्थ पिल्ले,
अबदल्ल एकं हुसैनं सुमिल्ले ॥
रहीमं सायद्दं सुलत्तान जक्की,
अहमद्द कानीर सूलं स मक्की।
इतै बीर जुट्टे सु कट्टे पुरानं,
भयो जुद्ध भारी सु भूले कुरानं ॥
परे खेत नौ सैद दट्ठे धरन्ना,
हंसे शंकरं भैरवं की करन्ना।
परे पीरं यूं नौ रसूलं सु अल्ला,
पर्‌यौ पीर दूजो कुतब्बं सु चल्ली ॥
पर्‌यौ जो हुसैनं कर्‌यौ जुज्झ भारी,
परे हरि हिम्मत्ति अल्ली सुधारी।
सयद्दं सुलत्तान आयो जु मक्का,
अदल्ली परे और तुक्कं सु बंका ॥
पर्‌यौ दूरसी जो रसूलं सु खेतं,
तवै बादस्याहू भयों सो अचेतं।
परै मीर नौ सैद जानतं साहं,
लरै अट्ट बीरं हटै बैन कहं ॥
अजंमत्त भारी हमीरं सु जानी,
तबै कुच्च किन्नौ दरै छाडि कानी।
उलट्टे परे जोय किन्नो दिवानं,
जुरे खान जेते सु तेते अमानं ॥
वजीरं अमीरं सबै खान बुल्ले,
सबै बात मंत्र सु मंत्री सु खल्लै।

२ "हमीर-हठ की रचना, बड़ी ही सबल प्रौढ़ तथा प्रभावोत्पादक शैली में हुई है। कवि ने यद्यपि शृंगार तथा नीति-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों की भी रचना की है किन्तु प्रातःस्मरणीय राव हम्मीरदेव को आलम्बन बनाने से हम्मीर हठ में उसकी स्वाभाविक काव्य-प्रतिभा निखर उठी है। कवि की कीर्ति को चिरकाल तक स्थिर रखने के लिए यह एक ही ग्रन्थ पर्याप्त है।"

—वीर काव्य : डॉ० उदय नारायण तिवारी ( पृ० ४८७ )

तथा कवि ने दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, सवैया, झूलना, त्रिभंगी, भुजंग-प्रयात, पद्धरि, छप्पय, त्रोटक, मोतियदाम आदि छन्दों की योजना कर अपनी कृति में सर्वत्र सरसता व ओजस्विता का प्रवाह प्रवाहित किया है। यद्यपि हम्मीर-हठ वीर रस का ही सुन्दर महाकाव्य है और उसमें युद्ध वर्णन सम्बन्धी सुन्दर छन्द भी उपलब्ध होते हैं[1] पर कहीं-कहीं शृंगार रस के भी सुन्दर सरस छन्द मिलते हैं।[2] साथ ही कवि रौद्र, भयानक, वीभत्स व शान्त रस की भी प्रसंगानुसार व्यंजना करने में पूर्ण सफल रहा है और भाषा व शैली की दृष्टि से भी हम्मीर-हठ एक उत्कृष्ट कृति है।[3] वीर

१ युद्ध वर्णन सम्बन्धी यह कवित्त देखिए—

गहर गराव नक थहरत भूमि मढ़ी,
गगन गरद्द में न भान सरकत हैं।
बरषत गोली बरषा में ज्यों जलद ज्वान,
मारैं बान बानत कमान मरकत हैं॥
केते लोट पोट भए समर सचोट केते,
बाहन पै बिकल बिहाल लरकत हैं।
फाटे परे रेजा लों करेजा टूक टूक कढ़े,
छाती छेद बिसिख बिसारे करकत हैं॥

२ उदाहरणार्थ—

थोरी थोरी बैसवार नवल किसोरी सबै,
भोरी भोरी बातन बिहँसि मुख मोरतीं।
बसन विभूषन विराजत विमल वर,
मदन मरोरति तरकि तन तोरतीं॥
प्यारे पातसाह के परम अनुराग रंगी,
चाय भरी चायल चपल दृग जोरतीं।
काम अबला सी, कलाधर की कला सी चारु,
चम्पक लता सी चपला सी चित चोरतीं॥

३ "उत्साह की, उमंग की व्यंजना जैसी चलती, स्वाभाविक और जोरदार भाषा में इन्होंने की है वैसे ढंग से करने में बहुत ही कम कवि समर्थ हुए हैं। वीर रस वर्णन में इस कवि ने बहुत ही सुन्दर साहित्यिक विवेक का परिचय दिया है।............भाषा भी पूर्ण व्यवस्थित, च्युत संस्कृति आदि दोषों से मुक्त और प्रवाहमयी है।... ...... चन्द्रशेखर जी का साहित्यिक भाषा पर बड़ा भारी अधिकार था। अनुप्रास की योजना प्रचुर होने पर भी भद्दी कहीं नहीं हुई, सर्वत्र रस में सहायक ही है। युद्ध

**रसात्मक प्रसंगों की सफलता को देखते हुए हमें चन्द्रशेखर वाजपेयी को वीर रस के अमर कवि भूषण की कोटि में ही रखना अधिक न्याय-संगत जान पड़ता है क्योंकि प्रत्येक दृष्टि से विचार करने पर वह वीर रस के उत्कृष्ट कोटि के कवि सिद्ध होते हैं[1] तथा आधुनिककालीन सुप्रसिद्ध ब्रजभाषा**

---

मृगया आदि के वर्णन तथा सम्वाद सब बड़ी मर्मज्ञता से रखे गए हैं। जिस रस का वर्णन है ठीक उसके अनुकूल पद-विन्यास है। जहाँ शृंगार का प्रसंग है वहाँ यही प्रतीत होता है कि किसी सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि की रचना पढ़ रहे हैं। तात्पर्य यह है कि हम्मीर-हठ हिन्दी साहित्य का एक रत्न है।"

—हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल
(पृ० ३८९-३९१)

१ एक उदाहरण देखिए—

दुहुँ ओर सों घोर यों तोप बाजैं।
प्रलैकाल के से मनो मेघ गाजैं॥
हलै मेरू डोलै मही सेस कंपै।
उठी धूम धारा धुजै भानु झंपै॥
भई बान बन्दूक की मार भारी।
मनौ वारिधारा महा मेघ बारी॥
उड़ै सोर प्याले निराले चम्मकै।
घटाजोट मै दामिनी सो दम्मकै॥
लगै कोट मै आनि कै जोर गोला।
न पाषान टूटै कहूँ एक तोला॥
जहीं साह की फौज मैं आनि लागै।
उड़ै केतिको केतिकौ दूर भागैं॥
लगै बान गोली गिरैं सूर ऐसे।
गिरह खात पंछी गिरहबाज जैसे॥
परी मार ऐसी दुहू ओर भारी।
खरे साह की फौज में खग्गधारी॥
फटें टोप कुन्डी तनं त्रान फूटे।
कटे अंग अंग नरं प्रान छूटै॥
उठावन्त एकै करैं एक जंगं।
लुरै एक लोटैं परे अंग भंगं॥

काव्यमर्मज्ञ 'रत्नाकर' ने भी उनकी काव्य रचना की मुक्त कंठ से सराहना की है।[1]

भक्तिकालीन कविता की विभिन्न शाखायें भी रीतिकाल में विकसित हुई हैं और निर्गुण भक्तिशाखा के अन्तर्गत संत-काव्य-धारा भी इस काल में प्रवाहित होती रही है तथा सुन्दरदास,[2] रज्जबदास,[3]

---

१ "इस ग्रन्थ की कविता बड़ी मनोहर और उमंग वर्द्धिनी है। ओज, माधुर्य और प्रसाद तीनों गुण अपने अपने स्थान पर सुशोभित हैं।"
—जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

२ उदाहरणार्थ—

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तो तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिए॥
गाइए तौ तब जब गाइबे को कंठ होय,
श्रवण के सुनत ही मनै जाय गहिए।
तुक भंग, छन्द भंग, अरथ मिलै न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहिं कहिए॥

और भी—

पति ही सूं प्रेम होय, पति ही सुं नेम होय,
पति ही सूं छेम होय, पति ही सूं रत है।
पति ही है जज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति ही सूं मिटै सोग, पति ही को जत है॥
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्य दान,
पति ही है तीर्थ न्हान, पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
सुन्दर सकल विधि एक पतिव्रत है॥

३ उदाहरणार्थ—

पीत बाइ जब दृष्टि है, तब पीला संसार।
त्यूं रज्जब रामहि मिल्यूं, बाहिर भीतर राम॥

× × × ×

रज्जब धर्मशास्त्र दिल दया, वैद्यक अल्प अहार।
कोक शास्त्र कामिनि कथा, लेखा यहु सुलझार॥

यारी साहेब,[1] पलटू साहेब,[2] मलूकदास,[3] प्राण-

उत्तम आतम देह है उत्तम ही गति साध।
उत्तम संगति कीजिये, उत्तम हरि आराध॥
× × × ×
ज्यूं चाकी चौढ़े घर्‌यूं सब पीसा उड़ि जाय।
त्यूं रज्जब सुणि जतन बिन, कहो सुकृत को खाय॥

१ एक उदाहरण देखिए—

बिरहिनी मन्दिर दियना बार।
बिनु बाती बिनु तेल जुगुति सो बिन दीपक उजियार।
प्रान पिया मेरे घर आयो रचि पचि सेज सँवार॥
सुखमन सेज परम तन रहिया पिय निरगुन निरंकार।
गावहु री मिलि आनन्द मंगल, यारी मिलिकै यार॥

२ उदाहरणार्थ —

जेकरे अँगने नौरंगिया सो कैसे सोवै हो।
लहर लहर बहु होय सबद सुनि रोवै हो॥
जेकर पिय परदेस नींद नहिं आवै हो।
चौंकि चौंकि उठि जागि, सेज नहिं भावै हो॥
रैन दिवस मोरे बान पपीहा बोलै हो।
पिय पिय लावै सोर सवित होइ डोलै हो॥
बिरहिन रहै अकेल, सो कैसे कै जीवै हो।
जेकरे आमो कै चाह जहर कस पीवै हो॥
अभरन देऊ बहाय, बसन धै फारो हो।
पिय बिनु कौन सिंगार, सीस दै मारो हो।
भूख न लागै नीर विरह हियै करकै हो॥
माँग सेंदुर मसि पोंछ, नैन जल ढरकै हो॥
कायर करै सिंगार, सो काहि दिखावै हो।
जेकर पिय परदेस, सो काहि रिझावै हो॥
रहै चरन चित लाय सोई धन आगर हो।
पलटुदास के सबद, बिरह कै सागर हो॥

३ कुछ पंक्तियाँ देखिए—

सबहिन के हम सबै हमारे।
जीव जन्तु मोंहि लगैं पियारे॥
तीनों लोक हमारी माया।
अन्त कतहुँ से कोई नहिं पाया॥
छत्तिस पवन हमारी जाति।
हमही दिन औ हमहीं राति॥
हमहीं तरवर कीट पतंगा।
हमही दुर्गा हमही गंगा॥

नाथ,[१] जगजीवन दास,[२] चरनदास,[३] सहजोबाई,[४] दरिया

हमहीं मुल्ला हमही काजी।
तीरथ बरत हमारी बाजी।।
हमही दसरथ हमही राम।
हमरे क्रोध औ हमरे काम।।
हमही रावन हमही कंस।
हमही मारा अपना बंस।।

१ एक उदाहरण देखिये--
चन्द बिन रजनी सरोज बिन सरवर,
तेज बिन तुरंग मतंग बिन मद को।
बिन सुत सदन नितम्बिनी सुपति बिन,
धन बिन धरम नृपति बिन पद को।।
बिन हरि भजन जगत सोहै जग कौन,
नोन बिनु भोजन विटप बिना छद को।
प्राननाथ सरस सभा न सोहै कवि बिन,
विद्या बिना बात न नगर बिना नद को।।

२ उदाहरणार्थ—
ऐसे साईं की मैं बलिहरिया री।
ए सखि सग रंग रस मानिउँ मैं, बिनु दीपक उजियरिया री।
झलकि चमकि तहँ रूप बिराजै, मिटी सकल अँधियरिया री।।
कहा कहौ कहिबे की नाहीं, लागि जाहि मन पहियाँ री।
जग जीवन वह जोती निरमल, मोती हीरा बरियाँ री।।

३ एक उदाहरण देखिए—
ब्राह्मन सो जो ब्रह्म पिछानै,
बाहर जाता भीतर आनै।
पाँचौ बस करि झूठ न भाखै,
दया जनेऊ हिरदे राखै।।
आतम विद्या पढ़ै पढ़ावै,
परमातम का ध्यान लगावै।
काम क्रोध मद लोभ न होई,
चरनदास कहै ब्राह्मन सोई।।

४ उदाहरणार्थ—
मुकुट लटक अटकी मन माहीं।
निरतत नटवर मदन मनोहर, कुंडल झलक पलक बिथुराई।
नाक बुलाक हलत मुक्ताहल, होठ मटक गति भौंह चलाई।।
ठुमुक ठुमुक पग धरत धरनि पर, बाँह उठाय करत चतुराई।
झुनुक झुनुक नूपुर झनकारत, ताताथेई रीझ रिझाई।
चरनदास सहजो हिये अन्तर भवन करौ जित रहौ सदाई।।

साहेब,[1] शिवनारायण,[2] तुलसी साहेब[3] और शिवदयाल आदि कवियों का तत्कालीन संत-काव्यधारा में उल्लेखनीय स्थान है।

---

१ उदाहरणार्थ—

कौन झुलावै कौन झूलहिं हो, कौन बैठलि खाट।
कौन पुरुष नहिं झूलेहिं हो, कौन रोकहिं बाट॥
मन रे झुलावै जिव झूलहिं हो, सक्ति बैठलि खाट।
सत्त पुरुष नहिं झूलहिं हो, कुमति रोकै बाट॥
सुर नर मुनि सब झूलहिं हो, झूलहिं तीनि देव।
गजपति फनपति झूलहिं हो जोगी जती सुखदेव॥
जीव जन्तु सब झूलहिं हो,झूलहिं आदि गनेस।
कल्प कोटि लै झूलहिं हो कोई न कहे संदेस॥
सत्त सब्द जिन पावल हो, भयो निरमल दास।
कहै दरिया दर देखिय हो, जाय पुरुष के पास॥

२ उदाहरणार्थ—

फूल एक फुलेला बलम जी के देसवा,
सतगुर दिहले लखाय हो।
नैन सनेहिया सोइ फूल निरखत,
मन मोरा रहले लोभाइ हो॥
नयन कँवल जल तीनों सोहावन,
भौंरा गुंजेला तेहि बीच हो।
वाके डार पात नहिं साखा,
नहीं काँटौं नहिं कीच हो॥
एक दिन मन मोरा उलटि समाना,
देख लौं मैं पिया के अवेस हो।
झिलमिल जोती झलामल लाके,
पावल बास विलास हो॥
सुषमन घटिया के साँकर बटिया,
हम धन अलप बयेस हो।
हमरो बलमवा नयनवा के सागर,
जहँवा गहल मोरी बाँह हो॥
घटिया उपर एक बंगला छबउलों,
सुन्दर सेज बिछाये हो।
शिव नारायन मंगल गावत,
सन्तन लेहु विचार हो॥

३ उदाहरणार्थ—

बड़े बड़ाई पाय करि, रोम रोम हंकार।
सतगुरू के परचे बिना, चारो बरन चमार॥
जल मिसरी कोइ ना कहै सर्बत नाम कहाय।
यों घुल के सतसग कर, काहै भरम समाय॥

सन्त-काव्यधारा की भाँति प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा भी रीतिकाल में विकसित हुई है और डॉ० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "इस परम्परा को हम दो धाराओं में देख सकते हैं। एक सूफी प्रेमाख्यान धारा या रूपकात्मक (Allegorical) प्रेमाख्यान धारा है। इस धारा के कवि अधिकांश मुसलमान हैं। दूसरी धारा शुद्ध प्रेमाख्यान काव्य की है जिसके लेखक अधिकांशतः हिन्दू हैं। काव्य-परम्परा, कथा-प्रबन्ध, वर्णन आदि की दृष्टि से इन दोनों धाराओं के काव्य में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही धारा के कवियों ने ऐतिहासिक, काल्पनिक या पौराणिक कथाओं को अपनाया है। संयोग वियोग के विभिन्न पक्षों का दोनों ही में चित्रण है। दूत या दूती, गुरु, मार्ग में विविध बाधायें, रूप का आकर्षण, नायक पक्ष के प्रयत्न आदि बातें दोनों ही प्रेमाख्यानों में मिलती हैं। सभी में तो नहीं परन्तु अधिकांश में दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया गया है। दोहा-चौपाई की भाषा अवधी है परन्तु हिन्दू प्रेमाख्यानकारों ने अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया है। इनमें भाषा ब्रजभाषा या राजस्थानी है।

दोनों में भिन्नता भी कुछ बातों में मिलती है। मुसलमान कवियों के प्रेमाख्यान मसनवी पद्धति पर हैं जिनमें ईश्वर की वन्दना, पैगम्बर का महत्व, शाहे वक्त की प्रशंसा तथा कवि परिचय के साथ विभिन्न प्रसंगों में कथा कही जाती है। ये प्रसंग छोटे बड़े हो सकते हैं। इनमें अधिकतर दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग किया गया है। इन कवियों पर सूफी मत, वेदान्त और नाथसंप्रदाय का प्रभाव परिलक्षित होता है, परन्तु प्रमुखतया योग और सूफी साधना का स्वरूप इनमें प्रकट किया गया है। इस तथ्य के कारण ये प्रेमाख्यान रूपकात्मक हैं जिनके अंतर्गत अंत में प्रेम की पीर का चित्रण अधिक है अतः इनमें भावुकता एवं स्वाभाविकता अधिक देखने को मिलती है। इनकी नायिकायें अधिकांश में परमात्मा की प्रतीक हैं जिसका संकेत कवि नखशिख-चित्रण तथा अन्य प्रसंगों में करते हैं। इनमें कहीं-कहीं मुस्लिम विश्वासों और इस्लामी धारणाओं का भी संकेत है। इनमें हिन्दू पौराणिक कथाओं को व्यक्त करने में भी औचित्य का निर्वाह सर्वत्र नहीं हो पाया। फिर भी इनमें हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का प्रयत्न स्पष्ट दिखलाई देता है। कहानियाँ और पात्र प्रायः हिन्दू समाज में प्रचलित कथाओं से लिये गये हैं।

---

तुलसी या संसार मे पाँच रतन हैं सार।
साधु संग सतगुरु सरन, दया दीन उपकार।।
घड़ी घड़ी स्वासा घटै आसा अंग बिलाय।
चाह चमारी चूहड़ी, धर घर सबको खाय।।

हिन्दू प्रेमाख्यानों में अधिकांश शुद्ध प्रेमाख्यानों का रूप है और रूपकात्मकता नहीं है। इनमें स्वाभाविकता और भावुकता उतनी नहीं जितनी कलात्मकता और अलंकरण है। इनमें विविध छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। हिन्दू प्रेमाख्यानों में प्रेम की पीर के स्थान पर विलास-चेष्टाओं तथा काम-क्रिया-कलापों का अधिक वर्णन है। कथानक का भी वियोग पक्ष उतना विस्तृत नहीं जितना मुस्लिम सूफी कवियों का। इनमें कुछ अधिक शास्त्रीयता भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। हिन्दू आख्यानों में प्रेमोद्दीपन की परम्परा और सामग्री का अधिक उपयोग किया गया है। संयोग पक्ष के वर्णन में शृंगार के शरीर पक्ष की प्रधानता है, मानस अनुभूतियों का उतना वर्णन नहीं। हिन्दू प्रेमाख्यानों ने संवादात्मक, नाटकीय तथा पौराणिक शैली को भी अपनाया है, जब कि मुस्लिम प्रेमाख्यान मसनवी पद्धति पर ही हैं।"[1]

इस प्रकार रीतिकालीन प्रेमाख्यानों को हम सहज ही रूपकात्मक प्रेमाख्यानक काव्य और शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य नामक दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। रूपकात्मक प्रेमाख्यानक रचयिताओं की दृष्टि से इस काल के सर्वप्रथम कवि न्यामतखाँ जान कवि हैं जिनके लगभग साठ ग्रंथ कहे जाते हैं पर इनमें से इक्कीस प्रेमाख्यान हैं और उनमें भी रतनावती, रतनमंजरी, कनकावति, कामलता, मधुकर मालती तथा छीता उल्लेखनीय हैं। जान कवि के प्रेमाख्यानों की भाषा ब्रज और है उनमें अनूठी वर्णनात्मकता व प्रवाह है।[2] साथ ही इस रूपकात्मक प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के

---

१ हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास—श्री रामबहोरी शुक्ल तथा डॉ० भगीरथ मिश्र ( खंड २, पृ० २०—२२ )

२ 'छीता' नामक काव्यकृति का यह उद्धरण देखिये—

राजै हेर्‌यो अद्‌भुत रूप।
चेरो होइ रह्यो है भूप ।।
लघु यौंसन मैं दीरघ नैन।
बोलत भोरे भोरे बैन ।।
काचो कंचन जैसो अंग।
तपौ न अजहूँ अगिन अनंग ।।
नैन झरोखे मैन न आयो।
भोरी चितवन चित्त चुरायो ।।
अजहूँ मन न जन्मा मनोज।
उर में जामें नाहि उरोज ।।

मुहम्मद की इन्द्रावती[1] और अनुराग बाँसुरी[2], सूरदास की

ठाँवहि ठाँव भूमि जो रोई।
सोत सोत निकसी जल सोई।।
रोवा गिरि झरना भये आँसू।
रोवैं बनपक्षी बनवासू।।
अहि रोवत गये पैठ पतारा।
टपके आँसू कूप जल धारा।।
रोवैं वृक्ष झरैं पुनि पाती।
रोवैं नखत तराई राती।।
रोवत चन्द भयो हिय कारा।
रोवै मच्छ समंद भयो खारा।।
मेघ सो रोवै ताहि दुख, भूमि चुवावै आंस।
जग जाने बरखा भई, लागो भादों मास।।

१ 'इन्द्रावती' के प्रस्तुत प्रसंग में कवि ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि व्याधि में मानसिक उद्वेग शरीर पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता है और अंग का वर्ण विवर्ण हो जाता है—

इन्द्रावति सुकुमार कुमारी।
भार वियोग परा तेहि भारी।।
प्रेम सरीर बेयाध बढ़ावा।
दूबर पीत भयेउ धन काया।।
पान न खाय न पीवै पानी।
भूख पियास भुलायेउ रानी।।
व्याकुल भई रात दिन रोवै।
बदन करेज रक्त सों धोवै।।
प्रेम आग तन काठिय जारा।
मारै चाहा मन को पारा।।
भइउ दूबरी रानी, भै विवरन तन रंग।
बैरिन होइकै लागेउ, व्याध अंग के संग।।

२ 'अनुराग बाँसुरी' की इन पंक्तियों में कवि अपनी काव्यकृति की प्रमुख पात्री सर्व मंगला का रूप-चित्रण शास्त्रीय पद्धति पर कर रहा है—

स्तन जमल दाडिम फल सोहै,
कै बुल्ला गंगा जल कोहै।
कटि अति सात चिहुर की नाईं,
नाही है कीन्हा जगसाईं।।

नलदमन,[1] दुखहरनदास की पुहुपावती,[2] हुसेन अली की

जो कोउ नाहीं देखन चहै,
ता कटि देखे नाहीं अहै।
उरू जमल कनक के खम्भा,
कै पटवारिज ऊपर रम्भा ॥
रम्भा कंज ऊपर कित होंई,
इहां देखिये लागा सोई।

१ 'नलदमन' के प्रस्तुत अंश में उत्प्रेक्षाओं से अभिभूत स्वाभाविक प्रकृति-चित्रण की सुन्दर झांकी दीख पड़ती है—

महुआ टपक देखावह रोई।
मात मोह मद यह गत होई ॥
खिरनी कहै देह यह खिरनी।
चेतन बहुत खरी सो करनी ॥
अमले कहे मोहि मधु अमले।
जाग नींद मेटी पिउ मिलै ॥
महर जो प्रेम दाह दह रही।
तिन दुख सदा पुकारे दही ॥
मोरो निपट प्रेम दुखदाई।
निस दिन मेंउ मेंउ चिल्लाई ॥
कोकिल बिरह जरी भई कारी।
कुहू कुहू सब दिवस पुकारी ॥
चहु दिसि पाके पोख बनाई।
पाक पेम जनु मिटी कचाई ॥
जद्यपि पेम हिलो उठावै।
उमंग आंस जल ढरन न पावै ॥
नीरज नैन पेम रंग राते।
पुतरी चंवर मीत मद माते ॥
नारंग विन नन्ह पेमी सोइ।
फाँक फाँक जाकर हिय होई ॥
कहै देखाई दरार अनारा।
सो पेमी जो हिये दरारा ॥

२ यद्यपि दुखहरनदास ने दोहा चौपाई पद्धति में ही 'पुहुपावती' को

पुहुपावती[1], मुकुन्दसिंह की नल चरित्र[2] तथा शेख निसार की यूसुफ कथा लिखी है पर कहीं-कहीं सरसता लाने के हेतु कवित्त सवैया छन्दों का भी प्रयोग किया है; उदाहरणार्थ—

---

बन भयो भवन गवन जब कीन्हों पीव,
तन लागे तवन मदन लाइ तापनी।
भूत भयो भूखन वो चुरी चुरइल भई,
हार भयो नाहर करेजे छुटी काँपनी॥
दुखहरन पीव बिनु मरन की गति भई,
कासौं मैं बरनि कहौं बिथा कहौं आपनी।
फूल भवो सूल मूल कली भई काँटा ऐसी,
राता राकसिनी भई सेज भई साँपिनी॥

२ हुसेन अली की पुहुपावती से संयोग शृंगार का यह उद्धरण देखिए—

विरह विदग्ध जो परे फफोला।
ह्वै उस लसै अंगूर अमोला॥
तेइ गजक जनु करहिं बनाई।
सीत संजोग ज दये नसाई॥
छकि मदमाह भये सतगारे।
गये उघरि घट लाज के वारे॥
हँसि हँसि हैरत मद मनमाते।
बलकि बलकि मुख निकसहि बातैं॥
बोलत बचन ललक लिपटाहीं।
मानै नैनन फिरहिं फिराही॥
निपटि लजोली नवल सुर बाला।
हँसि हँसि झुकै हिए मदपाला॥
छाके मद छबि परै न छाकू।
अस मद पियो न हरै विपाकू॥

इसी प्रकार कवि एक स्थल पर मिलन में फना की झलक भी दिखाता है—

बहु वरि बस वहि तस . भई।
मैं मिलि एक दोन मिटि गई॥
रीझ रिझावन हार रिझ रीझ भये जो एक।
को रीझै रिझवावइ जहं मिलि मिट्यो विवेक॥

२ कवि ने नल-चरित्र में एक स्थल पर दमयन्ती का नखशिख वर्णन इस प्रकार किया है—

मध्य उदर परमान वित, धरेउ मूठि विधि जान।
तीनि रेख सोइ सोहइ, तृवली ताहि बखान॥

जुलेखा[1] आदि कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। यद्यपि रीतिकाल के पूर्व शुद्ध

ललित नितंब बर्तुला कारा।
मानहुँ बिधि निज पानि सँवारा॥
रवि रथ एक चक्र बिधि मानौं।
सीखन हेतु बनाये जानौं॥
लहि सिखा तब स्त्रोति बनाये।
काँची सहित महाछवि छाये॥
रंभा सम जंघा जुग सोहैं।
जात रूप के मनहु रह्यो है॥
जलज जुगल रवि व्रत मन लाई।
करैं बहुत दिन तप सो राई॥

१ 'यूसुफ जुलेखा' की इन पंक्तियों में कवि सांसारिक मिथ्या-मोह आदि से ऊपर उठ कर परमात्मा की एक मात्र सत्ता पर ही विश्वास प्रकट कर रहा है—

अलख छांड़ चित उन सौ लावे
ताकर फल मानुस अस पावै॥
दीनदयाल करै अस दाया।
दिये अनूप सुखो कर साया॥
तेहि दयाल कहँ दृश्य बिसारैं।
देखैं निसदिन नष्ट बिचारे॥
फुलवारी बहु फूल लगाये।
एक ते एक सुरंग बनाये॥
जो मन पुहुप एक तिन लावे।
जाय सूख कुछ हाथ न आवे॥
चित्र अनेक जो रच्यो चितेरे।
मोहित होय रूप रंग हेरे॥
आवे चित्र काज कछु नाहीं।
चित्रकाज संवारहु मन माही॥
काहे न चित्र चितेरे लावहु।
चित्र विचित्र रूप निरमावहु॥

जो कुछ रहे न हाथ महँ तेहि चित्त दीजिय काउ।
जान मरे नहिं बीछुड़े, तेहि ते प्रीति लगाउ॥

प्रेमाख्यान काफी लिखे गए हैं और बीसलदेव रासो, ढोला मारू, वेलि किसन रुक्मणी री, प्रेम विलास, प्रेमलता, रसरतन, छिताई वार्ता, उषा चरित आदि कृतियाँ इसी कोटि की हैं। इसी प्रकार रीतिकाल में भी केस की माधवा नल[1], हंस की चन्द्र कुंवर री बात[2], सुपरिचित स्वच्छन्दता-वादी

---

इसी प्रकार कवि ने जुलेखा की कटि-सूक्ष्मता का वर्णन निर्गुण सगुण भावना के सूक्ष्म भेद का आधार लेकर किया है--

निरगुन सरगुन पाव जस तस कटि परै न देखि।
अवर अंग देखैं नयन, माँगहिं लंक विसेखि ॥

१ 'माधवा नल' का यह संयोग चित्र देखिये--

टूटि गई लर मोतिन की सवा,
सारी सलोट परी अधिकाई।
छूटी लटैं अँगिया वर वंदन,
अंगनि अंग महा सिथलाई ॥
राति रमी पति के संग सुंदरि,
फूलनि माँग लरी बिथुराई।
फूली लता मकरवज की फरि,
फूलि गये मनु पौन फुलाई ॥

२ कवि ने इन पंक्तियों में कहा है कि अवगुंठन के मध्य कजरारे नेत्र इस प्रकार शोभायमान हैं जैसे जल के बीच मछली—

चम्पा बरणी अंग रंग रहे जस को।
हँसा चलण सम्भाव वखाणु तास को ॥
खंजन जहो नेण वेणुं जाणुं कोकिया।
त्यानु दीजे मुख कुंवर जी मोकला ॥

इसी प्रकार प्रस्तुत अंश में कवि संयोग श्रृंगार का वर्णन करते समय सुरतान्त का चित्रण कर रहा है—

हाँसी होट विचकर ऊँचे कीयेज नीचे नैन।
अरे ! अरे ! पिय को पिया लागैं बीरी मुख दैन ॥
दोउ कुच कर संग्रहे रहै जंग जुग जोर।
नाना उचरत नायिका नागर करत निहोर ॥

प्रेमी कवि मर्मस्पर्शी बोधा की विरह वारीश¹, जन कुंज की उषा

१ वियोगश्रृंगार की प्रधानता होते हुए भी 'विरह वारीश' में संयोग श्रृंगार के प्रसंग बहुत अधिक हैं और कवि ने प्रेमी प्रेमिका के मध्य होने वाले रति संग्राम को इन पंक्तियों में माघ मास के उमड़े हुए बादलों के रूपक में बड़ी कुशलतापूर्वक व्यक्त किया है—

घनघोर घुंघरुन के शोर छाये।
घटा से चटा के उमड़ मैन आये॥
खुले केश चारो दिशा श्याम तामी।
दिये देह दीपत तामें छटना सी॥
पर मोतियाँ ज्यों गिरें बूँद भारी।
मची स्वेद की कीच यों देहसारी॥
तहाँ इन्द्र पिनाक सी बंकि भौंहे।
तिन्हों के परे खौर त्रै रेख सोहैं॥
परें पांयते ओर से ब भारी।
धरा सी तहाँ जोर धरकैं है नारी॥
कपै शैल से दोउ उरोजैं।
बली सों चली है दुर्यें तो मनोजैं॥
तहाँ भूगिआ चूड़ियाँ चारु बोलैं।
मनो कोकिला मेष झिल्ली किलोलैं॥
हतें प्रेम संग्राम बोधा बखानों।
माघ मास कैसो तमासो बखानो॥

इतना ही नहीं कवि का ध्यान इस संग्राम के योद्धा और घायलों की आवाज पर भी गया है—

ववारें जैत वारे के बरैं या कुच,
मल्लयुद्ध के करैया कहूँ टारे न टरत है।
सुभट विकट जुरे जंघ बलवान,
तै भुजान सो लपटि रा नेकु विहरत है॥
बोधा कवि भृकुटि कमाम नैना,
बानदार तीक्षण कटाक्ष सर शैल से परबु है।
दम्पति सों रति विहार विहरत तहाँ,
घायल से पायल गरीब बिहरतु है॥

संयोग श्रृंगार की भाँति 'विरह वारीश' के विरह वर्णन में भी बड़ी सजीवता है और कवि ने यहाँ विरहिणो नायिका द्वारा ब्रह्मा की मूढ़ता पर

चरित्र[1] और किसी अज्ञात कवि की राजा चित्रमुकट व रानी चन्द्रकिरन की कथा[2] आदि शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य कृतियाँ रची गयीं।

---

झुंझलाहट व्यक्त कराई है जो उन्होंने उस कलमुही कोकिला को इतना सुन्दर कंठ प्रदान किया है—

मुख चार भुजा पुनि चार सुनें,
हद बाँधत बेद पुरानन की।
तिनकी कछु रीझ कही न परै,
इहि रूप या कोकिल तानन की।।
कवि बोधा सुजान वियोगी किये,
छवि खोई कलानिधि आनन की।
हम तौ तबहीं पहिचानी हती,
चतुराई सबै चतुरानन की।।

इसी प्रकार वियोगिनी को बाग-तड़ाग में विकसित कमल व पलाश के फूल अंगारे सदृश जान पड़ते हैं--

प्रफुलित कंज फुले जल माहीं।
मनहुँ पुत्र बड़वा के आंही।।
देखत दहत बियोगी लोचन।
बिनु सहाय ब्रजपति दुख मोचन।।
दशहुँ दिशि पलाश छबि छाई।
मनहुँ सकल बन लाइ लगाई।।
यह निर्धूम दवागिनि सोई।
पान कीन्ह गिरधारी सोई।।

१ 'उषा चरित्र' की इन पंक्तियों में कवि ने अपनी शिष्ट व परिमार्जित अभिरुचि का परिचय देते हुए नारी के स्थूल अवयवों के चित्रण के स्थान पर नायिका की वेशभूषा का ही वर्णन किया है--

अति सुन्दर कछु कहन न आवै।
थकित भये जब दरस दिखावै।।
कमल बदन पर अलग सवारे।
लोचन मधुप करत गुंजारे।।
अंग अंग भूखन वसन विराजै।
रति रम्भा छवि अति उति छाजै।।

२ प्रस्तुत अवतरण में कवि वियोगिनी नायिका का चित्रण करते हुये कह रहा है कि विरहिणी को काली रात नागिन के समान जान पड़ती है लेकिन वह विवश अबला अपने भाग्य को कोसने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकती है--

रैन भई अति ही अँधियारी।
पिय बिन मानो नागिन कारी।।
हाय हाय करि सांस लेवै।
फिरि फिरि दोस दई को देवै।।

सगुण भक्ति शाखा की राम काव्य धारा और कृष्ण काव्य धारा भी इस काल में बराबर प्रवाहित होती रही तथा राम काव्य की परम्परा में अनेक कृतियों का उल्लेख किया जाता है परन्तु इनमें भक्ति भावना की वह विशुद्धता व प्रबलता नहीं है जो गोस्वामी तुलसीदास की रामचरित मानस में थी।[१] वस्तुतः इन रचनाओं में शृंगति भावनाओं को ही अधिकता है

---

१ "तुलसी के उपरान्त आगे चलकर राम भक्ति की काव्यधारा में भक्ति भावना की वह विशुद्धता और प्रबलता न रह सकी जो तुलसी की मानस में थी। जैसा कि आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है "तुलसीदास जी ने भक्ति को अपने पूर्ण रूप में श्रद्धा प्रेम समन्वित रूप में सबके सामने रखा और धर्म या सदाचार को उसका नित्य लक्षण निर्धारित किया।" परन्तु आगे चलकर श्रद्धा की अपेक्षा भक्ति साधना में प्रेम की ही प्रधानता रही और इस प्रकार शनैः शनैः धर्म से विमुख हो शृंगारोपासना तथा माधुर्यभाव की ही ओर कवियों के आकर्षण में वृद्धि होने लगी। कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने तो कृष्ण के लोक रक्षक और लोक रंजक स्वरूप को त्याग कर केवल माधुर्य उपासना की ही ओर जनसाधारण को प्रेरित किया। बल्लभाचार्य ने यद्यपि तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुये 'पुष्टि मार्ग' की उपासना कर उचित ही कार्य किया था परन्तु बल्लभ सम्प्रदाय में साधना का जो स्वरूप स्वीकार किया गया उसमें भोग विलास के प्रदर्शन की ही प्रधानता रही और आगे चलकर तो भक्ति साधना की अपेक्षा विलासिता और ऐन्द्रिकता की ओर ही जन साधारण को प्रेरित किया गया। राधाकृष्ण की प्रेम लीला का ही गुणगान विशेष रूप से होने लगा और श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण के मधुर रूप की ही ओर आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। कृष्णोपासक कवियों की भक्ति साधना के इन सिद्धान्तों से राम भक्ति शाखा के कवि भी विशेष रूप से प्रभावित हुए और उन्होंने भी राम के केवल माधुर्य रूप की ही ओर ध्यान दिया तथा राम भक्ति के भी शृंगार की रसधारा से सिंचित कर दिया। यों तो तुलसी स्वयं भी 'सूरसागर' के शृंगार रस पूर्ण चित्रों से प्रभावित हुए हैं और उन्होने भी सूर का अनुसरण कर 'गीतावली' में राम को भी हिंडोला विहार करते और होली खेलते हुए चित्रित किया है परन्तु इतना होते हुए भी राम के प्रति पूज्य भाव ही उन्होंने यत्र तत्र व्यक्त किये है। पर तुलसी की सी भावनाएँ आगे अक्षुण्ण न रह सकीं और अयोध्या के बाबा रामचरण दास ने तो 'स्वसुखी' नामक भक्ति की नवीन शाखा को प्रारम्भ कर पति पत्नी भाव की उपासना पर जोर दिया है। इस नवीन शाखा

और रीतिकालीन राम-काव्य पर तो रसिक प्रवृत्ति का प्रभाव स्पष्टतया देख पड़ता है। रीतिकाल की राम-काव्य-धारा के अंतर्गत गुरु गोविन्द सिंह की गोविन्द-रामायण[1], रामप्रियाशरण की सीतावन या सीतारामप्रिया[2], जानकी

---

का प्रवर्तन करने वाले 'कोशलखंड' नामक एक ग्रंथ में तो स्पष्ट लिखा है कि रासलीला तो वास्तव में राम ने की थी और रामावतार में तो वे ९९ रास कर चुके थे केवल अवशेष एक के ही लिए उन्हें कृष्ण का अवतार लेना पड़ा। इस प्रकार इस नवीन शाखा के प्रवर्तकों ने राम की रासलीला आदि के कई वासनामूलक कल्पित वृत्तों का प्रसार करना प्रारम्भ किया। यही पति-पत्नी भाव की उपासना आगे चलकर 'सखी भाव' के नाम से संबोधित की जाने लगी और 'कृपा निवास पदावली' तथा 'श्री रामावतार भजन तरंगिणी' जैसी अश्लील तथा कुरुचि-उत्पादक पदों से परिपूर्ण पुस्तकें प्रकाश में आईं। गोस्वामी जी ने जिस रामभक्ति का पुनीत दिव्यालोक चारों ओर फैलाया था वह इस प्रकार की रचनाओं द्वारा धूमिल किया जाने लगा। एक उदाहरण देखिये—

हमारे पिय ठाढ़े सरजू तीर।
छोड़ि लाज मैं जाय मिली जहँ खड़े लखन के बीर॥
मृदु मुसकाय पकरि कर मेरो खैंचि लियो तन चीर।
झाऊ वृक्ष की झाड़ी भीतर करन लगे रति धीर॥"

—अनुभूति और अध्ययन : दुर्गाशंकर मिश्र (पृष्ठ ७४-७६)

उदाहरणार्थ—

भेंटि भुजा भर अंक भले भरि,
नैन दोऊ निरखे रघुराई।
गुंजत भृंग कपोलन ऊपर,
नाग लवंग रहे लव लाई।
कंज कुरंग कलानिधि केहरि,
कोकिल हेरि हिये हहराई।
बाल लखैं छवि लपट परै,
नहिं बाट चलैं निरखैं अधिकाई।

२ एक उदाहरण देखिए—

रसीले लाल रघुराई विराजे रास सुखदाई।
मनोहर जानकी संगे महासुख सिंधु उमड़ाई॥
सोहावन काछनी राजे रतनमय मौर सिर भ्राजे।
हरत मन नाक की मोती अधर अति अरुण पर छाजे॥

रसिक शरण की अवधसागर[1], सूरकिशोर की मिथिला विलास[2], सरजूराम पंडित की जैमिनि पुराण[3], भगवंतराय खींची की हनुमत

---

चिबुक बिच बिन्दु यक पीरा, लसत मुख पान की बीरा।
हँसत मन लेत तानन में, गले मुक्तावली हीरा॥
सखी सब राजती संग में, बजाती साज को रंग में।
रसिक सब मत्त छवि पीवे, सिया पिय वदन लखि जीवे॥
बढ़्यो आनन्द दस दिसिते, मगन प्रियासरन हीते।

१ उदाहरणार्थ—

झूलैं सिय पिय रंग हिंडोरैं
प्रीतम के संग रमक बढ़ावत,
रंग भरी सखियाँ चहुँ ओरैं।
घन गरजत बिजुली अति चमकत।
बरसत रिमझिम पवन झकोरैं॥
रस मालिनि प्रीतम मन मोहत,
बोलत खग रव मोर चकोरैं॥

२ उदाहरणार्थ—

जनक लली मधुरे सुर गावैं।
कोइ सखि रैनि दिवस सुधि भूलीं,
कोइ सखि ब्याह की बात चलावैं।
कोइ सखि रीझि रीझि गुन गावैं,
कोइ सखि मुख पर भँवर उड़ावैं।
कोइ सखि मधुर मधुर सुर गावै,
चन्द्र कला अलि बीन बजावैं।
सूर किशोर बलैया लेहीं,
बिन सखिया कोउ जान न पावैं।

३ उदाहरणार्थ—

गुरुपद पंकज पावन रेनू।
कहा कलपतरु का सुरधेनू॥
गुरु पद रज अज हरिहर धामा।
त्रिभुवन विभव विस्व विश्रामा॥
तब लगि जग जड़ जीव भुलाना।
परम तत्व गुरु हिय नहिं जाना॥
श्रीगुरु पंकज पाँव पसाऊ।
स्रवत सुधामय तीरथ राऊ॥

पचीसी[1], मधुसूदनदास की रामाश्वमेध[2], खुमान की हनुमानपंचक, हनुमत पचीसी, हनुमान नख-शिख व लक्ष्मण-शतक[3], गोकुलनाथ की सीताराम

---

सुमिरत होत हृदय असनाना ।
मिटत मोहमय मन-मल-नाना ।।

१ उदाहरणार्थ—

विदित विसाल ढाल भालु-कपि-जाल की है,
ओट सुरपाल की है तेज के तुमार की ।
जाही सो चपेटि के गिराए गिरि गढ़, जासों,
कठिन कपाट तोरे, लंकिनी सों मार की ।।
भनै भगवंत जासो लागि भेंटे प्रभु,
जाके त्रास लखन को छुभिता खुमार की ।
ओढ़े ब्रह्मअस्त्र की अवाती मह ताती बंदौ,
युद्ध-मद-माती छाती पवन कुमार की ।।

२ उदाहरणार्थ—

निरखि कालजित कोपि अपारा ।
विदित होय करि गदा प्रहारा ।।
महावेग युत आवै सोई ।
अष्ट धातुमय जाय न जोई ।।
अयुत भार भरि भार प्रमाना ।
देखिय जगपति दंड समाना ।।
देखि ताहि लव हति इषु चंडा ।
कीन्ही तुरत गदा त्रय खंडा ।।
जिमि नभ मांह मेघ-समुदाई ।
बरषहिं बारि महा झरि लाई ।।
तिमि प्रचंड सायक जनु व्याला ।
हने कीस तन लव तेहि काला ।।
भए विकल अति पवन कुमारा ।
लगे करन तब हृदय विचारा ।।

३ उदाहरणार्थ—

भूप दसरथ को नवेलो अलबेलो रन,
रेलो रूप झेलो दल राकस निकट को ।
मान कवि कीरति उमंडी खल खंडी,
चंडीपति सों घमंडी कुल कंडी दिनकर को ।।
इन्द्रगज मंजन को भंजन प्रभंजन तनै,
को मन रंजन निरंजन भरन को ।
राम गुन ज्ञाता मनवांछित को दाता हरि,
दासन को त्राता धनि भ्राता रघुवर को ।।

गुणार्णव, मनियारसिंह की हनुमत छब्बीसी[1] व सुन्दरकांड[2] ललकदास की सत्योपाख्यान[3], नवलसिंह की रामचंद्र विलास, रामायण कोश,

१ उदाहरणार्थ—

अभय कठोर बानी सुनि लछिमन जू की,
मारिबे को चाहि जो सुधारी खल तरवारि।
बार हनुमंत तेहि गरजि सहास करि,
झपटि पकरि ग्रीव भूमि लै परे पछारि॥
पुच्छ ते लपेटि फेरि दंतन दरदराई,
नखन बकोटि चोपि देत महि डारि डारि।
उदर विदारि मारि लुत्थन को टारि वीर,
जैसे मृगराज गजराज डारै फारि फारि॥

२ उदाहरणार्थ—

देख्यो जाय गढ़ महा दुर्गम अटूट जाको,
नाम सुने पुरहूत पाँय थहरात हैं।
कंचन दिवारैं दीह बुरुज बलंद चहुँ,
ओर छोर खंदक समुद्र घहरात हैं॥
यार कहैं अति उच्च द्वार दुरापार जर,
कलिस किंवार छवि पुंज छहरात हैं।
छत्र मेघ डंबर दिगम्बर निलय मानों,
अम्बर लौं अरुन पताके फहरात हैं॥

३ उदाहरणार्थ—

धरि निज अंक राम को माता।
कह्यो मोद लखि मुख मृदु गाता॥
देत कुन्द मुकता सम सोहैं।
बंधुजीव सम जीभ विमोहैं॥
किसलय सधर अधर छवि छाजैं।
इंद्रनील सम गंड विराजैं॥
सुन्दर चिबुक नासिका सोहै।
कुमकुम तिलक चिलक मन मोहै॥
काम चाप सम भृकुटि विराजै।
अलक कलित मुख अति छवि छाजै॥
यहि विधि सकल राम के अंगा।
लखि चूमति जननी मुख संगा॥

सीता स्वयंवर व राम विवाह खंड, जनकराज किशोरी शरण 'रसिक अली' की अनन्य तरंगिणी, सीताराम सिद्धांत मुक्तावली, आंदोल रहस्य दीपिका[1], सीताराम रस तरंगिणी, रघुवर करुणा भरण व मिथिला विलास[2], गणेश की वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश व हनुमत पचीसी, प्रेमसखी की

---

१ उदाहरणार्थ--

प्रीतम प्रियामुख सलिल श्रम कन
पोंछि हित सुख लेत ।
जनु नागराज सुइंदु अरचत
सुधा साधन हेत ।
जब लाड़िली कटि लचकि मचकति
झकत पिय की ओर ।
तब जात बलि बलि लाड़ली
गति होत चंद चकोर ।
जब परस बाल उरोज अंचल
उड़त सिय सकुचाय ।
पुनि हेरि पिय तन नमित चख
रहि रसन बसन दबाय ।
लखि हाव पिय कर भाव सरसत
चाव चित उमगात ।
सो निरखि दंपति सुख सरस
अलि मुदित उमँगी गात ।

२ उदाहरणार्थ--

सोहैं सीस प्यारी जू के चंद्रिका जटित नग,
जगमग जोति भानुकोटि उजियारी है ।
रतन किरीट राजै राघव सुजान सीस,
उदित विदित कोटि तरुन तमारी है ।।
दामिनी सघन घन वरन विराजैं दोऊ,
नील पीत वसननि जटित किनारी है ।
रसिकअली जू प्यारे राजत सिंगार कुंज,
सुषमा अमित पुंज छवि मोदकारी है ।।

श्रीराम तथा सीता जी का शिखनख[1], रामसखे की रूप रसामृतसिंधु[2], कृपानिवास की रासपद्धति[3], झूलन संग्रहा-

१ उदाहरणार्थ--

कलपलता के सिद्धिदायक कलपतरु,
कामधेनु कामना के पूरन करन है।
तीन लोक चाहत कृपा-कटाक्ष कमला की,
कमला सदाई जाको सेवत सदन है।।
चिंतामनि चिन्ता के हरन हारे प्रेमसखी,
तीरथ जनक वर बानिक वरन है।
नख विधु पूषन समन सब दूषन ये,
रघुवंस भूषन के राजत चरन हैं।।

और भी--

सेस महेस औ बानी विरंच,
थके गुण गावत जेते प्रवीन है।
सेइ रहे पद की रज को,
सनकादिक जो पद चाहे नवीन हैं।
प्रेमसखी मन वुद्धि मिलिन्द,
रहै सिय के पदपंकज लीन है।
देखत पाँयन की महिमा,
सुख पाइ नितम्ब भये अति पीन हैं।।

२ उदाहरणार्थ--

किते दिन ह्वै जु गये बिनु देखे।
मेचक कुटिल बदन जुलफन छबि राजमाधुरी बेपे।।
केसर तिलक कंज मुख श्रमजल ललित लसत दोउ देखें।
दसरथ लाल लाल रघुबर बिनु बहुत जियब केहि लेखै।।
डूबि डूबि उर स्याम सुरति कर प्रान रहै अवसेषै;
रामसखे बिरहिनि दोउ अँखियाँ चाहत मिलन विशेषै।।

३ उदाहरणार्थ--

सुलखि पिया गोहेरी सिया की मुसकानि।
नैन खिले मुख विकस मनोहर,
रस भृकुटिन धरि आन।।
अधर लसन छबि हंस असन की,
रसिक राम के अटके प्रान।
कृपा निवास सहज बस करनी,
प्यारी की यह बान।।

वली[1] व कृपानिवास पदावली, रामचरण दास की रसमालिका, राम पदावली, सियाराम रस मंजरी, कौशलेन्द्र रहस्य व राम नव रत्न संग्रह[2], शिवलाल पाठक की मानसमयंक[3] व मानस अभिप्राय

---

१ उदाहरणार्थ—

बनि ठनि आज नागरि बन जोबन नवला रस छाये ।
सावन तीज मनावन निकसी मनभावन पिय नैन सिराये ।।
चहुँ दिसि लोचन चपल चलत जनु खंजन अंजन मद के प्याये ।
कृपानिवास राम पटरानी रस दामिनि हँसि रस बरसाये ।।

२ उदाहरणार्थ—

सब तजि अवधपुरी रहिए ।
राम रूप हिय राम नाम मुख कर सेवा गहिए ।।
मज्जन पान सदा सरयू को सम दुख सुख सहिए ।
जहँ तहँ रामचरित सुनिए नित सहज सुखहिं लहिए ।।
श्री रामचरण रघुबीर कृपा ते कछु फल नहिं चहिये ।।

३ उदाहरणार्थ—

जय जय जय मुख चंद जू,
रसिकन आनंद कंद ;
बूझि लड़ैतनी राज जू,
गहि भुजा हरिये फंद ।।
जोरी लाड़िल लाड़िली,
रँगि सिंगार रस गात ।
रस बस मृदु बातैं करत,
हौं कहि जय जय जात ।।
सुनि मुसुकाइ बुलाइ ढिग,
जुग करुणा रस भेइ ।
कहे चन्द्रिका रस रचन,
जो मानस रस देइ ।।
लखो मारुती रुचि तकी,
सर रस रसिकन्ह चाह ।
बीज देव गुन शक्ति ढिग,
बैठि तड़ैती छाँह ।।

दीपक[1], शंकरदास की राम ना। माला, चन्द्रअली की अष्टयाम पदावली, रामगुलाम द्विवेदी की राम गीतावली[2], महाराज विश्वनाथ सिंह की गीत रघुनंदन शतिका, रामायण व आनंद रामायण, जुगलप्रिया की रसिक प्रकाश[3], काष्ठ जिह्वा स्वामी देव की जानकी

---

१ उदाहरणार्थ—

श्री सीता रस रसिक अरु, असिष भक्त रसराज ।
रची ससीय बिचारि कै, तुलसी रवि कुल राज ।।
पाँति विराजत आजु लगि, श्री सरयू के पार ।
पाठक श्री शिवलाल उर लसत उपासन हार ।।
क्षर क्षर अक्षर रहित, जानि निरक्षर पाइ ।
पार निरक्षर बैठि ढिग, जनक लली उर धाइ ।।

२ उदाहरणार्थ—

देखि हरि होरी रंग रसे ।
प्रभु मुख लखि सिय सखिन जूथ,
महँ लखन ए बन्धु धँसे ।।
झमकि लगी ललना गन उनते,
जलज सुहार खसे ।
नृप विदेह पुरते जे आईं,
तिन बहु भाँति हँसे ।।
जे अंग वसन सकल रंग बोरे,
अंजन बैन धँसे ।
राम गुलाम जानकी वर के,
नित जस अवध लसे ।।

३ उदाहरणार्थ—

मधुराचारज मधुर सुरस शृंगार उपासी ।
रंग महल रस केलि कुंज मानसी रनवासी ।।
निमि कुल जन्म उदार सुखद सम्बन्ध प्रतापी ।
पैहारी रसिकेन्द्र कृपा माधुर्य अलापी ।।
द्वादश वार्षिक रास रस लीला करि बहु सुख दिये ।
बिपुल ग्रंथ रचि रसिकता राम रस पद्धति पिये ।।

बिन्दु[1], उमापति त्रिपाठी की रम्य पदावली[2], महाराज रघुराज सिंह की राम स्वयंबर, रामरसिकावली व रघुराज विलास[3] और रसिकबिहारी की रामरसायन[4] आदि उल्लेखनीय कृतियों की गणना की जाती है।

---

१ उदाहरणार्थ —

सिय जू की टहल में नित रहिहो।
सतगुरु जस कछ राह बताई वाही रहति से ये अहिहों।।
काम क्रोध को मीत बनैहों काहूते कबहूँ न कछु चहिहों।
वादविवाद नहीं काहू से सब मत एकै कर गहिहों।।
सियपद में या चंचल मन को प्रेम रजू से धरि नहिहों।
इष्ट देवता श्री सिया जू की पद रज संतन से लहिहों।

२ उदाहरणार्थ--

झुलत दीने गल बाहीं।
रघुनंदन अरु जनकनंदिनी प्रेम पगे मुसुकाहीं।
आलि झुलावति गावति नाचति वारति तन मन चाहीं।।
धनि सावन धनि धनि यह विहरनि धनि सुर परि मुरछाहीं।
कोविद कवि छबि कवि मति मोहिनि बस्यो सदा मन माहीं।।

३ उदाहरणार्थ—

मच्योरी रंग महल में रंग।
केसरि कीच बीच नर नारी विछिलित उमँगि उमंग।।
एक ओर रघुवंशी राजे साजे अभरण अंग।
एक ओर जुवतिन को मंडल लीन्हें वीण मृदंग।।
गाइ रहै कोउ नाचि रहै कोउ करै खेलि खुलि जंग।
सरयू भई भारती धारा पाइ गुलाल प्रसंग।।
रह्यो न सुरति सम्हार सबन को ह्वैगै आनंद दंग।
श्री रघुराज मनोरथ पूरण भये सकल दुख भंग।।

४ उदाहरणार्थ—

ठौर ठौर मंजुल रसाल झौंर झौंर फूले,
तरुण भये है नव पल्लव लहलहे।
मुदित मलिन्द डोलैं निर्तत मयूर चारु,
करै कमनीय कीर कोकिल कहकहे।।
रसिकबिहारी सुखकारी है तयारी सब,
देव नर नारी भारी आनँद डहडहे।
औसर विलोकि रामजन्म को तिलोक चहूँ,
आप ही ते होन लागे मंगल गहगहे।।

वस्तुतः रीतिकाल में कृष्ण-काव्य का विकास अधिक व्यापक रूप से हुआ और राधा व कृष्ण अब भक्ति के ही आलम्बन नहीं रहे अपितु इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति शृंगारिकता के भी आलम्बन होकर प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार तत्कालीन कृष्ण-काव्य में शृंगार-भावना का समावेश अधिक मात्रा में हो गया और शुद्ध भक्ति-भावना अपने प्रखर रूप में कम हो गई। रीतिकालीन कृष्ण-काव्य परंपरा में ध्रुवदास[1] की सभामंडली, वृंदावन

---

१ 'सिंगार सत' का यह उद्धरण देखिए—

छबि ठाढ़ी कर जोरे, गुन-कला चौरै ढोरे,
दुति सेवै तन गोरे, रति बलि जाति है।
उजराई कुंज एन, सुथराई रची मैन,
चतुराई चितै नैन अति ही लजाति है॥
राग सुनी रागिनी हूँ होत अनुराग बस,
मृदुताई अंगनि छुवति सकुचाति है।
'हित ध्रुव' सुकुमारी, पुतरीन हूँ तें प्यारी,
जीवति देखें बिहारी सुख सरसाति है॥

'नेह मंजरी' का प्रस्तुत अंश देखिए—

महाप्रेम गति सब तें न्यारी।
पिय जानै, कै प्रान-पियारी॥
उरझै मन सुरझत नहिं केहू।
जिहि अंग ढरत होत सुख तेहू॥
एकै रुचि दुहूँ में सखि बाढ़ी।
पर गई प्रेम-ग्रंथि अति गाढ़ी॥
देखत देखत कल नहिं माई।
तिनकौ प्रेम कह्यो नहिं जाई॥
सहज सुभाइ अनमनी देखैं।
नमिपनि कोटि कलप-सम लेखैं॥
हँस चितवति जब प्रीतम माहीं।
सोई कलप निमिष ह्वै जाहीं॥
खेलनि हँसनि लाल को भावै।
नेह की देवी नितहि मनावै॥
कौतुक प्रेम छिनहि छिन होई।
यह रस बिरलो समुझै कोई॥
ज्यों ज्यों रूपहि देखत माई।
प्रेम तृषा की ताप न जाई॥

सत, सिगार सत, रहस्य मंजरी, सुखमंजरी, रसरत्नावली, नेहमंजरी, रति-मंजरी, वन विहार, रंग विहार, रस विहार, नृत्य विलास, रहसलता, प्रेमलता मान-रस-लीला, प्रेमावली, रसमुक्तावली, हित सिगार लीला, ब्रजलीला, आनंदलता, अनुरागलता, दानलीला व ब्याहलो, छत्रसाल[1] की श्रीकृष्ण कीर्तन, नागरिदास[2] की मनोरथ मंजरी, भक्तसार, ब्रजसार, बिहार चंद्रिका

---

१ एक उदारहण देखिए—

स्याम स्याम रंग एक ग्वाल ग्वालिनी अनेक,
गोद लै गुलाल लाल घालैं मुरि मुरि कै।
बोलत धमार मंजु फाग औ फबीलो राग,
स्यामा वनी स्याम, स्याम स्यामा नेह धुरि कै।।
कहै छत्रसाल ऐसो चूकिबे न दाँव आजु,
कीजै अनुराग फाग वाही ठौर जुरि कै।
रूप रसरंग की हिलोरनि मैं बोरो अंग,
जोरो नव नेह लाल रग मे हिलुरि कै।।

२ माधुर्यभावानन्यता से पूर्ण यह पद देखिए -

हमारे मुरली वारौ स्याम।
विनु मुरली बनमाल चद्रिका, नहिं पहिचानत नाम।।
गोप रूप बृंदाबन-चारी ब्रज-जन-पूरन काम।
याही सों हित चित बढ़ौ नित, दिन दिन पल छिन जाम।।
नंदीसुर, गोवर्धन, गोकुल, बरसानो बिस्राम।
नागरिदास द्वारिका-मथुरा इनसों कैसो काम।।

सूर की भी वात्सल्य-भावना से पूर्ण यह पद दृष्टव्य है—

नंद सुत नित्य रस बाललीला-मगन,
उदधि आनंद गोकुल कलोलैं।
गोर अरु स्याम अभिराम भैया दोऊ,
ललित लरिकान लिय संग डोलैं।।
भवन प्रति भवन चलि चोरहीं दूध दधि,
रतन भूषन बदन तन उजेरैं।
खात लपटात, ढरिकात फिर हँसि भजत,
चहत है भवन निज भवन हेरैं।।
कबहुँ गहि गहि चिरत पूँछ बछियान की,
किंकिनी कनक कटि मधुर बाजैं।
गोप-गोपीन मन दृगनि से खिलौना खिलत,
मुखकमल मुरि हँसनि भ्राजैं।।
बदन दधि छीट-छबि धूरि-धूसरित अँग,
अबहिं ते मदन-गति वगनि पेलैं।
कंठ बघना दिये पाय पैंजनि झनक,
दास नागर हिये आँगन खेलैं।।

गोपी प्रेम प्रकाश, सिंगार सार, ब्रज वैकुंठ तुला, जुगल रस माधुरी फूल विलास, फाग विलास, कृष्ण जन्मोत्सवी कवित्त, रास के कवित्त, गोवरधारण के कवित्त, गोपी वेन विलास, व रासरस लता, चाचा हित वृन्दावनदास[1] को हिंडोरा, छद्मलीला, चौबीस लीला, ब्रज प्रेमानंद सागर,

---

१ उदाहरणार्थ—

सोभा केहि विधि बरनि सुनाऊँ ।
इक रसना सोउ लोचन हानी ,
कहौ पार क्यों पाऊँ ॥
अंग अंग लावन्य माधुरी ,
बुधि बलि किती बताऊँ ।
अनुलित सुनति कहि गये क्यों दृग ,
पल रजि धरि जु उचाऊँ ॥
नव वयसंधि दुहुनि नित उलहत ,
जब देखौ तब औरे ।
यहि कौतुक मेरो सुनि सजनी ,
चित न रहत इक ठौरे ॥
लोक न सुनी दृगन नहिं देखी ,
ऐसी रूप निकाई ।
मेरी तेरी कहा चली ,
खग-मृग-मति प्रेम बिकाई ॥
कबहूँ गौर स्याम तन कबहूँ ,
लोचन प्यासे धावैं ।
कँह घटि जात सिंधु कौ ,
पंछी जो चौंचन भरि लावै ॥
सुन्दरता की हद मुरलीधर ,
वेहद छबि श्री राधा ।
गावै बपु अनंत धरि सारद ,
तऊ न पूजै साधा ॥
न्याइ काम करवट है निकसत ,
पिय अरु रूप गुमानी ।
वृन्दावन हित रूप कियो बस ,
सो कानन की रानी ॥

श्रीकृष्ण गिरिपूजन मंगल, श्रीकृष्ण-मंगल, रास रस व अष्टयाम, सुंदरि कुँवरि बाई[1] की नेह निधि, वृंदावन गोपी माहात्म्य, संकेत युगल, रसपुंज, प्रेम संपुट, सार संग्रह, गोपी माहात्म्य, रासरहस्य, अलबेली अलि[2] की

---

१ एक उदाहरण देखिए—

स्याम रूप सागर मैं नैन वार पार थके,
नचत तरंग अंग अंग रंगमगी है।
गाजन गहर धुनि बाजन मधुर बेनु,
नागिनि अलक युग सोहै सगबगी है॥
भँवर त्रिभगताई पानिप लुनाइ तामैं,
मोती मनि जालन की ज्योति जगमगी है।
काम पौन प्रबल धुकाव लोपी पाज तामैं,
आज राधे लाज की जहाज डगमगी है॥

२ उदाहरणार्थ—

बने दोउ रसिक रस-रास मंडल सरस,
सरद को रैन सुखदैन माई।
परम पावन पुलिन सरस स्वच्छ स्थलनि,
मदन मद दवनि ससि जोन्ह छाई॥
बनी अति चारु जरतारि सारी सुभग,
किरनि चौकोर मुख लहलहाई।
नीलपट, पीत फहरात अंगनि मिथुन,
तड़ित घन नील उद्दोति ताई॥
लेत ओघर सुधर ताल गति तान की,
जगमगत पीक मुख अरुनि माई।
ताल मिरदंग लिये संग सजनी खरी,
मुरलि मोहन मधुर सुर बजाई॥
देहि पग थाप आलाप सुर रँग भरी,
भूषननि अंग छनकनि मिलाई।
अलक अंगुष्ठ तरजनि गहें पलटि पग,
जात मुसक्यात सुन्दर सुहाई॥
परी रस भीर दृग धीर नाहिंन धरें,
निरखि अलबेली अलि छबि छटाई।

समय प्रबंध पदावली, बख्शी हंसराज[1] की सनेह सागर, श्रीकृष्णजू की पाती व चुरिहारिन लीला, भगवत रसिक[2] की अनन्य निश्चयात्मक, ब्रजवासीदास[3]

---

१ उदाहरणार्थ—

लोचन ललित प्रीति रस पागे
पुतरिन स्याम निहारे।
मानौं कमल दलन पर बैठे
उड़त न अलि मतवारे॥
चुभति चारु चंचल नैननि की
चितवति अति अनियारी।
अति सनेहमय प्रेम सरस लखि
कौन होत मतवारी॥
दमकनि दिपति देह दामिनि
चमकत चंचल नैना।
घूँघट बिच खंजन से खेलत
उड़ि उड़ि डीठि लगै ना॥
लचकति ललित पीठि पर बेनी
बिच बिच सुमन सँवारी।
देखे ताहि मैन सों आवनि
मनौं भुजंगिनि कारी॥

२ उदाहरणार्थ—

परम पावन करुना कौ पानी।
जाके पियत हृदय में आवत, मोहन राधा-रानी॥
अनुभव प्रगट होत क्रीड़ा कौ, मोद विनोद कहानी।
भगवतरसिक निकुंज महल की टहल मिलै मनमानी॥

३ उदाहरणार्थ—

बार बार जसुदा यों भाखै।
कोऊ चलत गोपालहि राखै॥
सुफलक सुत बैरी भो आई।
हरे प्राणधन बाल कन्हाई॥
हरेहु कंस नरु गोधन सारो।
कै करि मोहि बंध मैं डारो॥
ऐसे हू दुख स्याम सभागे।
खेलहिं मों नैनन के आगे॥

की ब्रजविलास, मंचित[1] की कृष्णायन, हठी[2] की राधासुधाशतक, सहचरिशरण[3] की ललितप्रकाश व सरस मंत्रावली, रत्नकुँवरि

---

लै गये मधु अक्रूर निकारी ।
माखी ज्यों सब दीन बिडारी ।।
देखत रहीं थकी टक लाई ।
जब लगि धूरि दृष्टि में आई ।।
भये ओट जब दृगन ते, मूर्छि परी बिलखाय ।
कहत गयो रथ दूरि अब, धूरि न परति लखाय ।।

१ उदाहरणार्थ—

अचरज अमित भयो लखि सरिता ।
दुतिय न उपमा कहि सम-चरिता ।।
कृष्णदेव कहँ प्रिय जमुना सी ।
जिमि गोकुल गोलोक-प्रकासी ।।
अति विस्तार पार, पय पावन ।
उभय करार घाट मनभावन ।।
बनचर बनज बिपुल बहु पच्छी ।
अलि-अवली-धुनि सुनि अति अच्छी ।।
नाना जिनिस जीव सरि सेवैं ।
हिंसा हीन असन सुचि जेवैं ।।

२ उदाहरणार्थ—

कोमल बिमल मंजु कंज से अरुन सोहैं,
लच्छन समेत सुभ सुद्ध नदिनो के है ।
हरी के मनालय निरालय निकारन के,
भक्ति बरदायक बखानै घर नीके हैं ।।
ध्यावत सुरेस संभु सेस औ गनेस, खुले
भाग अवनी के जहाँ मंद परे नीके हैं ।
कटैं जन फंदनीय द्वंदनीय हरि हर,
बंदनी चरन वृषभानुनंदिनी के हैं ।।

३ उदाहरणार्थ—

निरदय हृदय न होइ मनोहर,
सदय रहौ मनभावन ।
नवल मोहिलौ मोहि तजौ जिन,
तोहि सौंह प्रिय पावन ।।

बीबी[1] की 'प्रेमरत्न', कृष्णदास[2] की माधुर्यलहरी, गुणमंजरी

रसिक सहचरी सरन स्याम घन
बरु बरसावन सावन ।
दरस देहु बर बदन चंद्रमा
नख चकोर बिलसावन ।।

और भी--

कटि किंकिनि, सिर मुकुट बर,
उर बनमाल परी है ।
करि मुसक्यान चकाचौंधी चित,
चितवनि रंगभरी है ।।
सहचरि सरन सुबिस्व बिमोहिनि,
मुरली अधर धरी है ।
ललित त्रिभंगी सजल मेघ तनु,
मूरति मंजु खरी है ।।

१ उदाहरणार्थ—

तब ऐसे भाष्यो नँदराई ।
अबहरि होहिं न ब्रज की नाईं ।
मणि नख चित बैठत सिंहासन ।
चंवर छत्र कर गहे खवावन ।।
अतिहि भीर नृप वासन पावैं ।
द्वारहिं ते बहु फिर फिर जावैं ।।
छत्रपतिन्ह छरियन्ह बिलगावत ।
तहँ हम सब की कौन चलावन ।।
हाथन कोटि यहु छाँड़ि सँगाते ।
क्यों मानै घायन के नाते ।।

२ उदाहरणार्थ--

कौन काज लाज ऐसी करै अकाज अहो,
बार बार कहो नर देह कहाँ पाइये ।
दुर्लभ समाज मिलो सकल सिधात जानि,
लीला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइये ।।
बानी की सयानी सब पानी में बहाय दीजै,
जानी सों न रीति जासों दंपति रिझाइये ।
जैसी जैसी गही जिन लही तैसी नैनन हूँ,
धन्य धन्य राधा कृष्ण तिन ही गनाइये ।।

दास[1] की श्री युगलछद्म व रहस्यपद आदि कृतियों की गणना की जाती है।

इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकाल में पूर्ववर्ती काव्य-परम्पराओं का विकास भी अक्षुण्ण गति से होता रहा और जहाँ कि एक ओर रीतिकाल का स्वाभाविक प्रवृत्यात्मक विकास हुआ है वहाँ दूसरी ओर उस काल में उन कवियों की संख्या भी कुछ कम नहीं है जिन्होंने पूर्ववर्ती काव्य-परम्पराओं को गतिशील रखा है। हमारी दृष्टि में इसे रीतिकाल की एक उल्लेखनीय विशेषता समझना चाहिए।

---

१ उदाहरणार्थ—

प्यारी चरनन में नव बसंत।
दसनख ससि किरननि नित लसंत॥
अरुनित अँगुली है नव प्रवाल।
बिछुआ घुंघरू मुकलित रसाल॥
मेहँदी दुति केसू कौ प्रकास।
जावक नव बेली कर बिलास॥
छिप बोलत स्यामल मनि सुरूप।
कोकिल कुहकत है अति अनूप॥
दामन लामन मलया समीर।
सुरभित चहुँ दिसि मिलि हरत धीर॥
केसर उर की प्रिय लगी आय।
गुनगन गुनमंजरि मधुप धाय॥

# सेनापति का भाषा-सौन्दर्य

संस्कृत साहित्यज्ञों ने काव्य की व्याख्या करते हुए 'शब्दार्थौ काव्यम्' लिखकर शब्द और अर्थ अर्थात् भाषा और भाव दोनों के सम्मिलन को ही काव्य माना है। कहा तो यह जाता है कि काव्य में भाव की ही प्रमुखता होनी चाहिए और भाषा का महत्व तो गौण ही है, परन्तु प्राचीन आचार्यों से लेकर अर्वाचीन विचारकों तक ने भाषा का महत्व समान रूप से स्वीकार किया है। यों तो 'अग्निपुराण' साहित्यशास्त्र का सबसे अधिक प्राचीन ग्रंथ माना जाता है परन्तु पंडित रामदहिन जी मिश्र ने 'काव्यालोक' के द्वितीय उद्योत में लिखा है कि "ऐतिहासिक अनुसंधान से भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ही अलंकारशास्त्र का सर्वप्रथम ग्रंथ सिद्ध होता है।"[1] नाट्यशास्त्र में यद्यपि काव्य के लक्षणों का स्पष्ट रूप से चित्रण नहीं किया गया परन्तु वाग्भिनय नामक अध्याय में काव्य के छत्तीस लक्षणों का वर्णन किया गया है, जो वास्तव में स्वरूप-कथन मात्र है।[2] 'अग्निपुराण' में तो महर्षि व्यास ने 'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' लिखकर शब्दों की श्रेष्ठता को ही स्वीकार किया है और दंडी ने भी काव्यादर्श में 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' लिखकर सुप्रयुक्त शब्दों के अभाव में अभीष्ट अर्थ का प्राप्त होना असंभव माना है। यह अवश्य है कि दंडी के परवर्ती आचार्यों (रुद्रट और आनन्दवर्धन आदि) ने भामह की भाँति शब्द और अर्थ दोनों ही को काव्य कहा है परन्तु पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' लिखकर रमणीय अर्थ

---

१ काव्यालोक (द्वितीय उद्योत) पं० रामदहिन मिश्र (भूमिका, पृष्ठ २८)

२ देखिए—

एतानि वा काव्यविभूषणानि षट्त्रिंशदुद्देश्य निदर्शनानि ।
काव्येषु सोदाहरणानि तज्ज्ञैः, सम्यक प्रयोज्यानि बलानुरूपम् ।।
—नाट्यशास्त्र, काशी संस्करण १७।४२

इसका पाठांतर अन्य संस्करणों में इस प्रकार है—

षट्त्रिंशदेतानि हि लक्षणानि प्रोक्तानि वै भूषणसम्मितानि ।
काव्येषु भावार्थगतानीऽ तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथा रस तु ।।

का प्रतिपादन करने वाले शब्दों को ही काव्य माना है। 'कबिहिं अरथ-आखर-बल साँचा' के भी अनुसार कवि के हेतु भाषा ही एक यथार्थ और स्वाभाविक बल है। वस्तुतः भाव तो भाषा में ही विद्यमान रहता है और भाव चाहे कितना ही उत्तम क्यों न हो, परन्तु यदि उसको अभिव्यक्त करने वाली भाषा सबल और सजीव न हो, तो उस उत्तम भाव की अभिव्यंजना कवि के लिये दुस्तर ही रह जाएगी और पाठकों को रसास्वादन भी न हो सकेगा, अतः डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का यह कथन वस्तुतः उचित और सार्थक ही प्रतीत होता है— "हम समझते हैं कि हमें भाव की अपेक्षा उसको व्यक्त करने वाली भाषा की ही महत्ता तथा प्रधानता को अधिक मानना चाहिए।" यह स्वाभाविक ही है कि यदि कवि भाषा-मर्मज्ञ हुआ और उसका भाषा पर पूर्ण अधिकार रहा तो वह साधारण से साधारण भाव को भी सुन्दर शब्द-योजना की सहायता से चमत्कृत रूप में प्रस्तुत कर सकेगा। टेनीसन के इस कथन में कि बहुधा कविता में एक ही शब्द में सम्पूर्ण कलाओं का अशेष सौंदर्य उमड़ पड़ता है—"All the charm of all the muses often flowing in a lovely word" में यथार्थता और स्वाभाविकता ही प्रकट होती है।

सेनापति की काव्य-कला-कुशलता पर प्रकाश डालते समय सर्वप्रथम उनकी काव्य-भाषा पर ही विचार करना आवश्यक है और यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि साहित्याचार्यों ने प्रायः भाषा का विवेचन स्वतंत्र रूप से किसी स्थान पर न कर, भाषा-विषयक भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रसंगों के अन्तर्गत प्रकाश डाला है। रीति, गुण, अलङ्कार तथा वृत्ति आदि वे भिन्न-भिन्न प्रसंग हैं। वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली तथा लाटी आदि रीतियों पर विचार करना भाषा के ही अन्तर्गत आता है और प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुण का विवेचन करना भाषा के ही एक अङ्ग पर विचार करना है। शब्दालंकार प्रायः भाषा से ही सम्बन्ध रखते हैं क्योंकि वे भाव या विषय को चमत्कृत कर शब्दों को अर्थात् भाषा को ही चमत्कृत करते हैं। इस प्रकार किसी भी कवि की भाषा पर विचार करते समय इन उपर्युक्त बातों पर ध्यान देना आवश्यक है और यथासंभव उन पर प्रकाश भी डालना चाहिए।

सेनापति की भाषा व्रजभाषा ही है, जो कि उस समय काव्य-सिंहासन पर आरूढ़ थी। यद्यपि भक्ति-काल में अवधी भाषा भी विकसित हुई थी और तुलसी ने 'मानस' की रचना उसी भाषा में कर उसे सर्वदा के लिये अमर भी कर दिया था परन्तु व्रजभाषा की ही ओर अधिकाधिक कवियों की

रुचि रही। ब्रजभाषा उस समय साहित्य-क्षेत्र में एक सामान्य काव्य भाषा थी, जिसका प्रयोग प्रायः सभी हिन्दी कवि करते थे। ब्रजमंडल के अतिरिक्त अन्य प्रान्तवाले भी ब्रजभाषा में ही रचना करते थे, परन्तु अन्य प्रान्तों के अथवा ब्रज-प्रदेश से कुछ हट कर रहने वाले कवियों की भाषा में उनके देश की कुछ न कुछ छाप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। अवध प्रांत या उसके समीप रहने वाले कवियों की भाषा पर अवधी का प्रभाव पड़ा है। देव और भूषण आदि की भाषा में हम बैसवाड़ी का पुट पाते हैं तथा केशव और बिहारी की भाषा में बुंदेलखंडी की झलक दृष्टिगोचर होती है। दास जी को तो ब्रजभाषा का भाषा-शास्त्री माना जाता है और उनकी भाषा को विशुद्ध ब्रजभाषा भी कहा जाता है, परन्तु उन्होंने भी बुन्देलखंडी शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया है। एक उदाहरण देखिए--

जाती है तु गोकुल गोपाल हूँ पै जैबी नेकु,
आपनी जो चोरी मोहि जानती तू सही है।
पाय परि आप ही सों पूछबी कुशल छेम,
मो पै निज ओर तें न जात कछु कही है॥
दास मधु मासहु के आगम न आये तबै,
तिनसों संदेसनि की बातें कहा रही है।
एतो सखी कीबी यह अंब बौर दीबी अरु,
कहिबी का अमरैया राम-राम कही है॥

इसी प्रकार 'ताज' की भाषा पर पंजाबी का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है, देखिये--

नन्द के कुमार कुरबान तांणी सूरत पै,
तांणी नाल प्यार हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

ब्रजभाषा को काव्योपयुक्त बनाने की उस समय कोई आवश्यकता भी न थी क्योंकि वह पहले से ही मँजी-मँजाई चली आ रही थी। स्मरण रहे सूर ने ब्रजभाषा को एक सामान्य काव्य भाषा बना दिया था और तत्कालीन कृष्णभक्ति शाखा के कवियों का सहयोग पाकर वह और भी अधिक उन्नति कर रही थी। सूर ने ब्रजभाषा को स्थिरता प्रदान कर उसमें साहित्योचित एकरूपता लाने का जो प्रयत्न किया था वह रसखान, बिहारी, घनानंद द्वारा क्रमशः शनैः शनैः आगे बढ़ाया जाकर आधुनिक युग के ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि रत्नाकर जी द्वारा पूर्ण किया गया। भाषा को सार्वदेशिक बना देने [illegible] जाता है और यहाँ यह स्मरणीय है कि कोई भी सामान्य काव्य-भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही

सीमित नहीं रह सकती। इस प्रकार केवल व्रजप्रांत के ही कटघरे में बन्द रहने से व्रजभाषा प्रादेशिक हो जाती और उसका विकास भी अवरुद्ध हो जाता तथा सर्वसाधारण के लिये काव्य-सृजन भी दुरूह हो जाता इसीलिये सूर ने भी व्रजभाषा को सार्वदेशिक भाषा बनाने के हेतु अन्य प्रांतीय शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही तुलसी ने भी कवितावली और गीतावली में व्रज-भाषा का केवल ढाँचा मात्र ही ग्रहण किया है तथा अन्य देशीय शब्दों और प्रचलित मुहावरों के प्रयोग से भाषा को सामान्य काव्य-भाषा के रूप में प्रस्तुत किया है, परन्तु ऐसा करने से भाषा की स्वाभाविकता का तनिक भी ह्रास नहीं हुआ। रसखान ने भी इसी प्रकार देशी और विदेशी शब्दों को अपनी काव्य-भाषा में समान स्थान दिया है।

सेनापति ने भी देशी और विदेशी शब्दों को मुक्तहस्त से ग्रहण कर व्रजभाषा को सर्वमान्य काव्य-भाषा बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अरबी, फारसी के शब्दों को ग्रहण अवश्य किया है, परन्तु उनके तद्भव रूपों को ही अपनी भाषा में स्थान दिया है, तत्सम रूपों को नहीं। रीतिकालीन कवियों में भूषण में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से विद्यमान थी और उन्होंने अरबी-फारसी के शब्दों के तद्भव रूपों को ही ग्रहण किया है। रसखान ने भी 'ताक' को 'ताख', 'शुमार' को 'सुमार' और 'अजीब' को 'अजूबो' के रूप में ग्रहण किया है। सेनापति ने भी अरबी के 'अर्श' को 'अरस', 'एतबार' को 'इतबार' के रूप में तथा फारसी के 'आशना' को 'आसना', रुख' को 'रूख', 'गोशा' को 'गोसे', 'रोशन' को 'रोसन' और 'पापोश' को 'पाइपोश' के रूप में ग्रहण किया है। इस प्रकार विदेशी शब्दों को भी उन्होंने व्रजभाषा का जामा पहना दिया है।

प्राचीन काव्य-भाषा में कुछ ऐसे शब्द भी उपलब्ध होते हैं जो कि सीधे अपभ्रंश-काल से चले आ रहे हैं और जिनका प्रयोग व्रजभाष के आधुनिक कवियों तक ने किया है। यद्यपि इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग समाज में नहीं होता था, परन्तु काव्य-क्षेत्र में अभी भी उनका प्रयोग प्रचलित था। तुलसी की कवितावली में इस प्रकार के कई शब्द दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु ये उसी प्रकार के शब्द हैं जो कि काव्य-भाषा के लिये सर्वथा उपयुक्त थे और जिन्हें पहिचान लेना सरल ही था। मयन ( मदन ), पब्बै ( पर्वत ) और सायर ( सागर ) आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। सेनापति के पूर्ववर्ती कवि रसखान की काव्यभाषा में भी 'मुक्ताहल' जैसे कुछ इसी प्रकार के शब्द दीख पड़ते हैं। रीतिकालीन कवि भूषण ने भी क्त्रिय, पब्बय, नैर, पुहुमि आदि शब्दों को निस्संकोच अपनाया है। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग प्रायः भाषा में ओज लाने के लिये भी किया जाता रहा है।

सेनापति की भाषा में भी अपभ्रंशकाल के कुछ शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। परन्तु प्रायः ये शब्द आसान ही हैं और सरलता से समझ में आ सकते हैं। यह तो प्रारम्भ में ही हम लिख चुके हैं कि सेनापति की काव्य-भाषा कहीं-कहीं अपभ्रंशकालीन कवियों से अत्यधिक प्रभावित है और पब्बय, दुज्जन, बुल्लिय, टुट्टिय, अक्खि, पिक्खि आदि शब्दों को उन्होंने निस्संकोच अपनाया है।

भाषा को रसानुकूल बनाने के हेतु उसमें ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक तीन गुणों का होना आवश्यक है। वास्तव में उत्तम भाषा के यही तीन प्रधान गुण माने जाते हैं। 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता मम्मट का कथन है कि ओज दीप्त है। वह मन को तेज से युक्त करता है। वीर रस में यह गुण पाया जाता है तथा वीभत्स और रौद्र रस में भी क्रमानुसार इसकी अधिकता रहती है—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति :।
वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥
(काव्य-प्रकाश)

'साहित्य-दर्पण' के रचयिता विश्वनाथ का कहना है कि चित्त की विस्तार-रूपिणी दीप्ति को ओज कहते हैं। वीर, वीभत्स और रौद्र में क्रमानुसार इसकी अधिकता रहती है—

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥
(साहित्य दर्पण)

सेनापति ने ओजपूर्ण भाषा लिखने में पूर्ण निपुणता प्रदर्शित की है और कहीं-कहीं ओज गुण लाने के हेतु उन्होंने कुछ शब्दों के द्वित्व रूपों का भी प्रयोग किया है। एक उदाहरण देखिए—

पिक्खि हरिन मारीच, थप्पि लक्खन सिय-सत्थह
चल्यौ वीर रघुपति, क्रुद्ध गहन धनु हत्थह ॥
परत पग्ग-डगमग्ग, छित्ति सेनापति बुल्लिय।
जलनिधि जल उच्छलिय, सब्ब पब्बै गन डुल्लिय ॥
दक्खिय जु छित्ति पत्ताल कहँ, भुजग-पत्ति भग्गिय सटकि।
लक्खिय जु हट्ठि मुट्ठिय कठिन, कमठ पिट्ठि टुट्टिय चटकि ॥

परन्तु ऐसे स्थलों की संख्या न्यून ही है और उनकी भाषा में प्रायः स्वाभाविक ही ओज गुण का आविर्भाव हुआ है। एक छन्द देखिए—

बालि कौ सपूत, कपि कुल-पुरहूत रघु-
बीर जू कौ दूत, धरि रूप बिकराल कौं।

जुद्ध-मद गाढ़ौ, पाउं रोपि भयौ ठाढ़ौ, सेना-
पति बल बाढ़ौ, रामचंद भुवपाल कौं ॥
कच्छप कहलि रह्यौ, कुंडली टहलि गए,
दिग्गज दहलि, त्रास पर्यौ चक चाल कौं।
पाँऊ के धरत, अति भार के परत, भयौ
एकै है परत मिलि सपत पाताल कौं ॥

इस प्रकार के सुन्दर ओजपूर्ण उदाहरण प्रायः अन्य कवियों की कृतियों में बहुत ही कम दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तम भाषा में माधुर्य गुण का होना परमावश्यक माना गया है और जिस रचना में ट, ठ, ड, ढ़, ड़, ढ, आदि वर्णों तथा दीर्घ सामासिक पदावली का अभाव हो, मीलित वर्णों की बहुलता न हो, और अनुसार युक्त वर्णों की भी अधिकता न हो तथा सर्वत्र ही कोमलकांत पदावली हो, वह कृति पूर्ण रूपेण माधुर्यगुण-संपन्न कहलाती है। सानुनासिक वर्णों के योग से उसकी शोभा द्विगुणित हो उठती है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में आल्हादकता को ही माधुर्य माना है। माधुर्य मन को द्रवीभूत करता है और शृंगार रस में तो यह रहता ही है, पर करुण, वियोग शृंगार तथा शांत रस में भी इसकी बहुलता रहती है। देखिए—

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम् ।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ॥

इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी मन को द्रवीभूत करने वाले आह्लाद को माधुर्य माना है और उनका विचार है कि शृंगार, करुण, वियोग शृंगार तथा शान्त रस में क्रमानुसार इसकी अधिकता रहती है।

चित्तद्रवी भावमयोह्लादो माधुर्य मुच्यते ।
सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥

व्रजभाषा अपनी मधुरता के लिये चिर-प्रसिद्ध रही है और भाषा की मधुरता जितनी इस भाषा में है उतनी किसी अन्य भाषा में नहीं। व्रजभाषा में एक विचित्र सरलता, सरसता और आकर्षण-शक्ति रहती है तथा एक विचित्र मिठास भी। माधुर्य गुण के हेतु क, ख, ग, घ आदि मधुर अक्षरों का प्रयोग किया जाता है और रेफहीन तथा दीर्घ सामासिक पदावली से रहित रचना की जाती है। जैसा कि अभी-अभी हम लिख चुके हैं कि माधुर्य गुण शृंगार, करुण तथा शांत रस में अत्यंत आवश्यक है और हास्य तथा अद्भुत में भी कुछ न कुछ सहायक रहता है कविवर सेनापति की भाषा में भी आवश्यकतानुसार माधुर्य गुण का समावेश हुआ है और भाषा-माधुरी से 'कवित्त रत्नाकर' के कई छन्द ओत-प्रोत हैं। सेनापति की भाषा

प्रायः सरल सुमधुर और चित्ताकर्षिणी है। भाषा-माधुर्य का एक उदाहरण देखिए--

> नूपुर कौं झनकाई मंद ही धरति पाइ,
> ठाढ़ी आइ आँगन, भई ही साँझी बार सी।
> करता अनूप कीनी, रानी मैन भूप की सी,
> राजै रासि रूप की, बिलास कौं अधार सी॥
> सेनापति जाके दृगदूत ह्वै मिलत दौरि,
> कहत अधीनता कौं होत है सिपार सी।
> गेह कौं सिंगार सी, सुरत-सुख-सारी, सो,
> प्यारी मानौं आरसी, चुभी है चित्त आरसी॥

प्रसाद गुण का उपयोग प्रायः सभी रसों में होता है। सरल, सीधी सादी, सुबोध शब्दावली का उपयोग करने से भाषा में प्रसाद गुण का प्रादुर्भाव होता है। इसमें क्लिष्टता का अभाव रहता है और भावों को आसानी से व्यक्त करने की क्षमता विद्यमान रहती है और सरल शब्दावली भी उत्तम भावों की अभिव्यंजना में समर्थ रहती है। सरलता भी उत्तम भाषा का एक विशेष गुण माना जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा भी है--'सरल कवित कीरति बिमल तेहि आदरहि सुजान।' मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में लिखा है कि जिस प्रकार शुष्क ईंधन में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्रों में जल शीघ्र ही व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार काव्य में सर्वत्र ही प्रसाद गुण का समावेश रहता है। देखिए--

> शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छे जलवत्सहसैव यः।
> व्याप्नोत्यन्यप्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥

प्रसाद गुण में अर्थ की अभिव्यंजना-शक्ति भी विद्यमान रहती है। 'साहित्य दर्पण' में तो विश्वनाथ ने स्पष्ट लिखा है कि प्रसाद गुण में अर्थ व्यक्त करने की अपूर्व शक्ति रहती है। देखिए--

> अर्थव्यक्तिः प्रसादख्ये गुणो नैव परिग्रहः।
> अर्थव्यक्तिः पदाना हि झटित्यर्थे समर्पणम॥

ब्रजभाषा के प्रशंसनीय कवि रसखान की भाषा सरल ही है तथा उसमें कृत्रिमता का नितान्त अभाव है। तुलसी की कवितावली और गीतावली की भाषा भी सुबोध ही है। सेनापति के 'कवित्त-रत्नाकर' के कुछ छन्दों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र ही प्रसाद गुण की बहुलता है। कतिपय स्थलों को छोड़कर कवित्त रत्नाकर के प्रायः समस्त छन्द सुबोध हैं। सेनापति ने भावों की स्पष्टता की ओर पूर्ण ध्यान दिया है और साथ ही भाषा में दुरूहता और क्लिष्टता न आने का पूर्ण प्रयत्न भी किया है। निम्नांकित

छंद देखिए, जिसमें सरलता और स्वाभाविकता के साथ-साथ मर्मस्पर्शी भाव-व्यंजना भी है--

कौनें बिरमाए कित छाए, अजहूँ न आए,
कैसे सुधि पाऊँ प्यारे मदन गुपाल की।
लोचन जुगल मेरे ता दिन सफल ह्वै हैं,
जा दिन बदन-छबि देखौं नंदलाल की॥
सेनापति जीवन आधार गिरिधर बिन,
और कौन हरै बलि बिथा मो बिहाल की।
इतनी कहत, आँसू बहत, फरकि उठी,
लहर लहर दृग बाईं ब्रज-बाल की॥

भाषा में साहित्यिकता और माधुर्य लाने के हेतु संस्कृत में कोमलकांत पदावली अत्यंत उपयुक्त है। 'कवित्त-रत्नाकर' का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सेनापति संस्कृत के प्रकांड पंडित थे, परन्तु संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी उन्होंने उसके तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है। केशवदास के सदृश दुरूह और अप्रयुक्त संस्कृत के शब्दों को ठूँसने का प्रयास उन्होंने कहीं भी नहीं किया क्योंकि हिंदी की प्रकृति से ये पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं, परन्तु हाँ यह अवश्य है कि संस्कृत की कोमलकांत पदावली का उन्होंने यत्र तत्र प्रयोग किया है जिससे उनका भाषा-सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है। एक उदाहरण देखिए:--

जहँ उच्चरत बिरंचि बेद, बंदत सुर-नाइक।
जलधि कूल अनुकूल फूल बरसत सुखदायक॥
जहँ उघटत संगीत गीत बाँके सूर पूरन।
सेनापति अति मुदित सभु अरधंग बधू-रत॥
जहँ बजाइ बीना मधुर मन नारद-सारद हरत।
राजधिराज रघुवीर तहँ उदधि-बंद-आयुस करत॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति की भाषा अत्यधिक व्यवस्थित है और उनकी भाषा में दूषित प्रयोगों का अभाव-सा है। सेनापति की भाषा का दूसरा गुण प्रवाह है और इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रवाहहीन भाषा उत्तम भाषा नहीं कही जा सकती। व्रजभाषा के कवियों में सूर, रसखान, पद्माकर और रत्नाकर की सी प्रवाहयुक्त व्रजभाषा बहुत कम कवियों ने लिखी है पर सेनापति की भाषा में स्वाभाविकता, सरलता और सुबोधता के साथ-साथ प्रवाह भी है और इस प्रकार उनकी भाषा में उत्तम भाषा के गुणों की बहुलता ही दीख पड़ती है।

आचार्यों ने भाषा में आवश्यकता और परिस्थिति के अनुकूल लचीलापन भी आवश्यक माना है। यदि एक भाव या वर्णन से दूसरे भाव या वर्णन को करते समय भाषा उखड़-सी जाय तो फिर उसमें सुघरता नहीं रह पाती। इसीलिए उत्तम भाषा का एक विशेष गुण लचकीलापन भी माना जाता है और अर्नेस्ट राइस (Ernest Rhys) ने उचित ही लिखा है–"We test a language by its elasticity, its response to rhythm, by the kindness with which it looks upon the figurative desires of a child and the poet."

उत्तम भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी आवश्यक है। मुहावरों के प्रयोग से भाषा की स्वाभाविक अर्थ-शक्ति का विकास होता है तथा भाषा-सौन्दर्य और भी अधिक निखर उठता है। मुहावरे भी सार्वदेशिक अर्थात् बहुप्रचलित और प्रांतीय अर्थात् किसी प्रदेश-विशेष में ही प्रचलित नामक दो भागों में विभाजित रहते हैं। ब्रजभाषा के कई कवियों ने जहाँ अन्य प्रांतीय शब्दों को सहर्ष स्वीकार किया है, वहाँ अन्य प्रान्तीय मुहावरों को भी निस्संकोच अपनाया है। केवल काव्य-परम्परा में ही सीमित मुहावरों के प्रयोग से भाषा में तब तक प्रभावोत्पादन शक्ति नहीं आती, जब तक कि सार्वदेशिक अर्थात् जनसाधारण में भी प्रचलित मुहावरों का प्रयोग नहीं किया जाता। सार्वदेशिक मुहावरों के प्रयोग से भाषा की प्रभावोत्पादिनी शक्ति बहुत कुछ बढ़ जाती है। यद्यपि मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा बलवती अवश्य हो उठती है, परन्तु यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि कवि का प्रधान लक्ष्य केवल मुहावरों का प्रयोग ही न रहे अर्थात् उन्हें मुहावरों के प्रयोग में ही अशिखापादांत परिश्रम न कर भावोत्कर्ष की ओर भी ध्यान देना चाहिए। जिस कवि का भाषा पर पूर्ण आधिपत्य रहता है, उसकी भाषा में बिना किसी विशेष परिश्रम के मुहावरों का आविर्भाव आप ही आप हो जाता है। सूर, तुलसी, रसखान, घनानंद, बिहारी और रत्नाकर की भाषा में मुहावरों का प्रयोग स्वाभाविक ही हुआ है।

सेनापति की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों के उदाहरण बहुत ही न्यून संख्या में उपलब्ध होते हैं और यदि कहीं-कहीं मुहावरों का प्रयोग हुआ भी है, तो भाषा में वे इस प्रकार से घुलमिल गये हैं कि उन्हें विलग नहीं किया जा सकता। मुहावरों का भाषा में इस प्रकार से घुलमिल जाना

भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की अभिवृद्धि करता है। सेनापति का निम्नांकित छन्द देखिए, जिसमें मुहावरे भाषा में घुलमिल से गये हैं—

धर्‌यौ पग पेजि द्‌समत्थहू के मत्थ पर,
जोरौ आइ हत्थ समरत्थ बाहु-बल मैं।
यह कहि कोपि कै कपीस पाउँ रोपि करि,
सेनापति बीर बिरझानौ बैरि दल मैं॥
फूस है फनिंद गए, पब्बै चकचूर भए,
दिग्गज गरद, दल दारुन दहल मैं।
पाइ बिकराल के धरत तत्काल गए,
सपत पताल फूटि पापर से पल मैं॥

लोकोक्तियों का प्रयोग सेनापति ने प्रायः नहीं-सा किया है। वस्तुतः उत्तम भाषा में अंलकारों का प्रादुर्भाव आप ही आप होता है और अलंकारों के योग से भी भाषा-सौन्दर्य की अभिवृद्धि ही होती है। सेनापति को अलंकार-व्यंजना में पूर्ण सफलता मिली है और उन्होंने अलंकारों का प्रयोग भी स्वाभाविक ही किया है तथा अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, परिसंख्या, प्रतीप, अत्युक्ति आदि के उदाहरण भी उनकी कृति में मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति की भाषा सरल, सुबोध, सुव्यवस्थित, सरस और परिमार्जित है तथा उत्तम भाषा के प्रायः समस्त गुणों की उसमें अधिकता सी है और साथ ही भाषा में विकृत शब्दों का अभाव-सा है। सूरदास, पद्‌माकर और देव ने प्रायः तुकान्त के हेतु शब्दों को अत्यधिक तोड़ा-मरोड़ा है और कई नये-नये मनमाने शब्द भी गढ़े हैं तथा अनुप्रास-प्रदर्शन की प्रवृत्ति होने से कभी-कभी भाषा अव्यवस्थित और शब्द गढ़े हुए तथा विकृत रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। रीतिकालीन कवियों में पद्‌माकर में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से थी अतः कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मानो भाषा के साथ खिलवाड़ सा कर रहा है।[1]

परन्तु सेनापति में इस प्रवृत्ति का अभाव सा था और उनकी भाषा में गढ़े हुए शब्द इसीलिए बहुत कम संख्या में दृष्टिगोचर होते हैं। एक दो स्थलों पर अवश्य तुकांत के लिए 'एकाके' आदि शब्द दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही सेनापति की भाषा पर प्रदेश-विशेष के प्रयोगों का प्रभाव भी पड़ा है और खड़ी बोली के कतिपय रूपों का प्रयोग भी कहीं-कहीं दीख

---

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिए—
विचार वीथिका—दुर्गाशंकर मिश्र (पृ० १५०-१६०)

पड़ता है, परन्तु इस प्रकार के प्रयोग न्यून संख्या में ही हैं। इस प्रकार सेनापति की भाषा शुद्ध व्रजभाषा ही कही जाएगी।

अतएव हम कह सकते हैं कि भाषा के दृष्टिकोण से सेनापति की काव्य-भाषा अत्यधिक सुंदर है और उत्तम भाषा के सभी आवश्यक गुण उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तव में उनका भाषा सौन्दर्य निखरा हुआ है और उनकी-सी व्रजभाषा बहुत कम कवियों ने लिखी है।

# सतसई-परम्परा और बिहारी-सतसई

**रीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ[1] एवं लोकप्रिय कवि[2] और सहज रसीली ब्रजभाषा के पीयूषवर्षी मेघ[3] बिहारी की एकमात्र रचना उनकी सतसई है तथा उनकी समस्त ख्याति का मूलाधार यही ग्रंथ है। सात सौ उन्नीस दोहों की यह कृति सतसई काव्य-परम्परा को चरमोत्कर्ष में पहुँचाने में अत्यंत सफल रही है[4] औ जैसा कि श्री लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी'**

---

१ "बिहारी रीतिकाल के कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनके काव्य की जितनी चर्चा विगत २५० वर्ष में हुई है उतनी तुलसीदास के रामचरितमानस को छोड़ अन्य किसी भी रचना की नहीं हो पायी। बिहारी अपनी वाग्विभूति के कारण हिंदी संसार में प्रसिद्ध हैं। छोटे-छोटे दोहों में अधिक से अधिक मार्मिक भावों को भर देने की जितनी समता बिहारी में है इतनी अन्य किसी कवि में नहीं।"

—हिंदी साहित्य की परम्परा: प्रो. हंसराज अग्रवाल (पृष्ठ २०४)

२ "रीतिकाल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि बिहारीलाल थे।"

—हिंदी साहित्य : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० ३२४)

३ "यदि सूर सूर तुलसी शशी उडुगन केशवदास है तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ हैं, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच-बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत् चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

—श्री राधाचरण गोस्वामी

४ "सतसई-साहित्य में बिहारी सतसई सर्वश्रेष्ठ है।"

—हिंदी-रीति साहित्यः डॉ० भगीरथ मिश्र (पृष्ठ ११२)

और भी—

"बिहारी की कृति सतसई परम्परा की एक उज्जवल कड़ी है—गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, एवं अमरुकशतक आदि मुक्तक ग्रंथों से प्रेरणा लेकर बिहारीलाल ने यह विविध रत्नमणि माला तैयार की है जिसकी आभा के कारण आज भी मुक्तक साहित्य जगमगाने लगता है।

—हिंदी-रीति-साहित्यः डॉ० भगीरथ मिश्र (पृ० ११३)

परम्परा के लिए रूढ़ हो गया है लेकिन वास्तविकता तो यह है कि समस्त सतसई ग्रंथों का सृजन प्रायः इसी छंद में किया गया है। इस प्रकार संस्कृत एवम् अपभ्रंश साहित्य में मुक्तक दोहों की रचना का यथेष्ट प्रचलन रहा और इन तीनों ही भाषाओं में सतसई, शतक एवं मुक्तक दोहों की रचनाओं का यथार्थ प्रचार भी हुआ जिसके फलस्वरूप कालान्तर में हिंदी साहित्य में भी सतसई-काव्य-परंपरा अंकुरित, विकसित और पल्लवित हो सकी।

हिंदी में सतसई-रचना का प्रारंभ मूलतः भक्तिकाल में ही हुआ है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो कबीर के भक्ति एवं नीतिविषयक दोहे सतसई के रूप में आबद्ध न होने पर भी दोहा साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और हिंदी की सतसई-परम्परा का मूल स्रोत उन्हीं से निःसृत हुआ है। यद्यपि 'शतक' नामधारी कतिपय संकलन सूरदास के नाम पर भी प्रचलित हैं लेकिन सतसई-परम्परा में उन्हें ग्रहण नहीं किया जा सकता और इस प्रकार तुलसी तथा रहीम को ही भक्तिकाल में सतसई परम्परा को विकसित करने का श्रेय दिया जाता है। यद्यपि तुलसी के नाम पर जो रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं उनमें सतसई नहीं है लेकिन इस विषय में विचारकों में प्रायः साम्यता सी है कि तुलसी ने सतसई अवश्य लिखी होगी। शिवसिंह सरोज पृ. ४२६, इंडियन एंटिकरी भाग बाईस में प्रकाशित डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन के लेख 'नोट्स आन तुलसीदास', हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास और हिंदी नवरत्न आदि में तुलसी की 'राम-सतसई' या 'तुलसी-सतसई' का स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे निष्णात समीक्षक ने भी तुलसी के सतसई सृजन नामक प्रवाद का खंडन नहीं किया है[1], अतः तुलसी को निश्चित रूप से सतसई-काव्य-परम्परा का प्रथम प्रणेता माना जा सकता है। तुलसी के पश्चात् रहीम ने भी एक सतसई लिखी है यद्यपि वह उपलब्ध नहीं है

---

१ "राम सतसई में सात सौ से कुछ अधिक दोहे हैं जिनमें से डेढ़ सौ के लगभग दोहावली के ही हैं। अधिकांश दोहे उसमें कुतूहल-वर्द्धक चातुर्य्य लिए हुए और क्लिष्ट हैं। यद्यपि दोहावली में भी कुछ दोहे इस ढंग के हैं—पर गोस्वामी जी ऐसे गंभीर, सहृदय और कला-मर्मज्ञ महापुरुष का ऐसे पद्यों का इतना बड़ा ढेर लगाना समझ में नहीं आता। जो हो, बाबा बेनीमाधवदास के नाम पर प्रणीत चरित में भी रामसतसई का उल्लेख हुआ है।"

—हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल (पृ. १४४)

लेकिन उसके जो दोहे उपलब्ध होते हैं उसके आधार पर कहा जा सकता है कि काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से वह अत्यधिक महत्वपूर्ण कृति होगी। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कबीर, तुलसी और रहीम के दोहे मूलतः भक्ति एवं नीति विषयक ही हैं और उनमें शृंगार रस की वह निर्झरिणी प्रवाहित नहीं होती जिसे कि मूलतः सतसई साहित्य की आत्मा ही कहना चाहिए—अतः सतसई-साहित्य का आरंभ बहुत से विचारक बिहारी से ही मानते हैं।[1] वास्तविकता भी यही है कि बिहारी सतसई के निर्मित हो जाने पर ही इस प्रकार की सतसइयाँ प्रचुर मात्रा में लिखी गयीं और मतिराम सतसई, शृंगार सतसई, वृंद सतसई, विक्रम सतसई आदि कृतियाँ प्रकाश में आयीं तथा आधुनिक काल में भी वियोगी हरि की वीर सतसई इसी परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी है, यद्यपि उसमें मूलतः वीर रस की योजना ही हुई है। इस प्रकार हिंदी साहित्य में सतसई-परम्परा का प्रारंभ बिहारी सतसई से ही माना जाता है और यह भी मत प्रचलित है कि उसके पश्चात् जो सतसई ग्रंथ लिखे गए वे किसी भी प्रकार बिहारी की समकक्षता नहीं कर सकते। 'सिलाकारी' जी के शब्दों में "जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता का जैसा आदर हुआ वैसा फिर रामगीता, देवी गीता अष्टावक्र गीता आदि को कभी न मिला। जिस प्रकार केवल गीता कहने से श्रीमद्भगवद्गीता का बोध हो जाता है उसी प्रकार हिंदी साहित्य में सतसई कहने से बिहारी सतसई का हो जाता है। विश्वविख्यात महाकवि गोस्वामी जी का आसन उनके महाकाव्य रामायण के कारण कितना ही उच्च क्यों न हो पर मुक्तक रचना की दृष्टि से वह भी महाकवि बिहारी लाल जी के सामने नहीं ठरहते।"[2] वस्तुतः सतसई का प्रारंभ काल से लेकर आधुनिक काल तक एक सा परमोच्च सम्मान सहृदय काव्यमर्मज्ञों एवं साहित्य-मर्मज्ञ, ग्रंथकार, महाकवियों एवं रीति ग्रंथकारों में रहा है और बिहारी को केवल इसी एक कृति के बल पर महाकवि कहा जाता है। इतना

---

१ "रहीम की सतसई मिलती नहीं, पर उनके जो दोहे प्राप्त हैं यदि वे ही उस सतसई में हों तो कहना पड़ता है कि वह प्रमुखता के विचार से नीति सतसई ही कही जायगी और तुलसी सतसई चाहे तुलसीदास की रचना हो चाहे न हो वह प्रमुखतया भक्ति की हो सतसई है।"

—बिहारी: आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र (पृ. ७३)

२ बिहारी-दर्शन— श्री लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी' (पृ. ३४-३५)

ही नहीं पाश्चात्य समीक्षकों ने भी उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है[1] और निम्नलिखित दोहे तो सर्वसाधारण में प्राचीन काल से ही उसके सम्बन्ध में अत्यंत प्रसिद्ध हैं तथा उनकी प्रामाणिकता पर विचारकों ने सन्देह भी नहीं प्रकट किया है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गंभीर॥
ब्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि बिसाल।
सबको भूषन सतसई रची बिहारीलाल।
जो कोऊ रसरीति को समुझो चाहै सारु।
पढ़ै बिहारी सतसई कविता को सिंगारु॥
उदै अस्त लौं अवनि पै सबको याकी चाह।
सुनत बिहारी सतसई सबहि सराह-सराह॥

---

1 "Surdas had many successors, the most famous of whom was Biharilal of Jaipur, whose Satsaiya, or collection of seven hundred detached verses is one of the daintiest pieces of art in any Indian Language. Bound by the rules of metre each verse had a limit of fortysix syllables and generally contained less. Neverthless each was a complete picture in itself, a miniature descriptions of a mood or a phase of nature in which every touch of the brush is exactly the needed one, and not one is superfluous."

—Imperial Gazetteer of India, Vol II, P. 423

और भी —

"The most celebrated Hindi writer in connection with the art of poetry in Biharilal choube .... Biharilal's fame as a poet rests upon his Satsai, which is a collection of approximately Seven hundred 'Dohas' and Sorthas'. The majority of the couplets take the shape of amorous utterances of Radha and Krishna, but each couplet is complete in itself. They are intended to illustrate figures of rhetoric and other constituents of a poem... Tulsidas had written a Satsai before the time of Biharilal as well as other Hindi poets. But Biharilal has undoubtedly achieved very great excellence in the particular line and his work has had a large number of commentators and many imitators.

—A History of Hindi Literature
—F. E. Keay

भाँति-भाँति के बहु अरथ यामें गूढ़-अगूढ़ ।
जाहि सुनैं रस-रीति को मग समुझत अति मूढ़ ॥
बिबिध नायिका भेद अरु अलंकार नृप नीति ।
पढ़ैं बिहारी सतसई जानैं कवि रस-रीति ॥
करै सात सौ दोहरा सुकवि बिहारीदास ।
सब कोऊ तिनको पढ़ैं सुनैं गुनैं सविलास ॥

वस्तुत: बिहारी ने अपनी सतसई का आधार प्राय: संस्कृत, प्राकृत, एवम् अपभ्रंश साहित्य को ही रखा है और चाहे उन्होंने हिंदी के प्राचीन कवियों के भी दोहे वाले ग्रंथ उलट-पलट कर देखे हों लेकिन उनके आधार ग्रंथ गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती और अमरुक शतक ही हैं। साथ ही हेमचन्द्र के व्याकरण में भी अपभ्रंश के बहुत से दोहे हैं जो शृंगारी ही हैं और यदि बिहारी के दोहों के साथ उनकी तुलना की जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि सतसई पर भी उनका प्रभाव पड़ा है। यों तो बिहारी के दोहों के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के छन्दों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी ने अंधानुसरण कहीं नहीं किया है लेकिन इन तीनों से वह निश्चित रूप से प्रभावित हुए हैं। चूँकि यहां बिहारी-सतसई के मूल स्रोत का पता लगाने के लिये सोदाहरण विवेचना करना आवश्यक है अतः यहाँ भावसाम्य के कुछ उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। देखिए--

जावण कोस विकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ ।
मअरन्दपाण लोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥
—गाथासप्तशती ५-४४

अर्थात् अभी मालती की कली के कोश का विकास भी नहीं हो पाया कि मकरदपान के लोभी भ्रमर तूने उसका मर्दन आरंभ कर दिया। बिहारी के निम्नांकित दोहे में भी इसी की छाया विद्यमान है, देखिए—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल ।
अली कली ही सौं बँध्यौं, आगे कौन हवाल ॥

एक उदाहरण और लीजिए—

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं लिक्खए लेहे ।
तुह विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो ॥
—गाथासप्तशती ६-७१

अर्थात् वाणी से क्या कहा जाय लेख में कितना लिखा जाय। आपके वियोग में जो दुःख हो रहा है उसे आप स्वयं समझें। अब बिहारी का यह

दोहा देखिए—

कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेश लजात ।
कहिहै सब तेरो हियो मेरे हिय की बात ॥

'गाथासप्तशती' की भाँति 'आर्यासप्तशती' का भी बिहारी के दोहों पर यथेष्ट प्रभाव विद्यमान है; उदाहरणार्थ--

चिकुरविभागग्रतिर्यङ्नतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला !
त्वामियमंगुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति ॥

—आर्यासप्तशती २-३१

अर्थात् केशों को सँवारने में गर्दन तिरछी किए झुकी हुई पीठ फेरे बैठी हुई वह नायिका अँगुलियों से केशों के बीच स्थान बनाकर तुम्हें देख रही है । अब बिहारी का यह दोहा देखिए—

कंज नयनि मज्जन किये बैठी ब्यौरति बार ।
कच अँगुरिन बिच दीठि दै चितवति नंद कुमार ॥

अपभ्रंश के जो स्फुट दोहा हेमचन्द्रादि की कृतियों में मिलते हैं उनकी प्रतिच्छाया भी बिहारी-सतसई में विद्यमान है, जैसे—

भमरा एत्थुवि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु ।
घण पत्तलु छाया बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु ॥

अर्थात् हे भ्रमर तब तक यहीं नीबड़ी में कुछ दिन विश्राम कर जब तक कि घने पत्तों और छायावाला कदम्ब फूल नहीं जाता । अब बिहारी का यह दोहा देखिए—

इहिं आस अटक्यौ रहै अलि गुलाब के मूल ।
ह्वै है बहुरि बसंत रितु इन डारिन वै फूल ॥

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अमरुक शतक' का भी बिहारी सतसई पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है. उदाहरणार्थ यह छंद देखिए—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै
निद्रा व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जात पुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ।

—अमरुकशतक, ८२

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाय ।
हँस्यौ, खिस्यानी, गर गह्यौ रही गरें लपटाय ॥

—बिहारी-सतसई

इन उदाहरणों को प्रस्तुत करने में हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि बिहारी अपने पूर्ववर्ती कवियों से पूर्णतः प्रभावित थे या उनका लक्ष्य हमेशा

भावापहरण मात्र ही रहा है अपितु हम यह दिखाना चाहते हैं कि बिहारी-सतसई का मूल स्रोत क्या है। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में "हिन्दी के रीतिकाल या श्रृंगारकाल में अधिकांश रचना ऐसी हुई है जिसमें केवल प्राचीन भावों का पिष्टपेषण है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि बिहारी में अथवा हिन्दी के स्वच्छंद कवियों में भी वही प्रवृत्ति व्याप्त रही, उन लोगों ने मार्ग तो वही ग्रहण किया, भूमिका भी वैसी ही रखी, पर महल अपना खड़ा किया, मसाला अपना लगाया।"[1] वस्तुतः बिहारी की यह विशेषता है कि उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से भाव ग्रहण करते हुये भी उनमें व्यक्त भावनाओं को अपनी स्वतन्त्र शैली से व्यक्त किया है और जैसा कि श्री पद्मसिंह शर्मा का मत है "बिहारी के पूर्ववर्ती समसामयिक और परवर्ती हिन्दी कवियों की कविता में और बिहारी की कविता में......कहीं-कहीं बहुत सादृश्य पाया जाता है। पर ऐसे स्थलों में बिहारी अपने पूर्ववर्ती कवियों को पीछे छोड़ गये हैं, समसामयिकों से आगे रहे हैं और परवर्ती उन्हें नहीं पा सके हैं।"[2]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सतसई-काव्य-परम्परा में बिहारी सतसई का श्रेष्ठतम स्थान है[3] और परवर्ती कवियों ने तो बहुत ही अधिक

---

१ बिहारी की वाग्विभूति—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र (पृ० १५८।१५५)

२ सतसई-संजीवन-भाष्य—पं० पद्मसिंह शर्मा ( पृ० १०० )

३ "बिहारी सतसई में सागर लहराता है। मनुष्य के मनसागर की भावना तरंगों के सहज सुकुमार सजीव चित्र खींचने से बिहारीलाल जी की प्रतिभा अप्रतिम है। मनुष्य जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर प्राकृतिक तारतम्य का साम्य मिलाकर, अर्थ-गाम्भीर्य-पूर्ण भावानुगामिनी, सरस भाषा में मंजुल भावो की सजीव कल्पना मूर्तियों को संगीत मधुर काव्य-कला के क्षेत्र में उपस्थित करने में बिहारीलाल जी अद्वितीय ही है। इस सिद्ध सारस्वतीक महाकवि ने कुल ७१९ दोहों में अपने प्रगाढ़ पांडित्य, व्यापक ज्ञान सर्वतोन्मुखी प्रखर प्रतिभा और परमोत्कृष्ट काव्यकला कुशलता का परिचय पूर्णरूपेण दे दिया है। इसमें नवरस, तैंतीस संचारी भाव, नव स्थायी भाव, सपूर्ण कायिक, मानसिक और सात्विक अनुभाव, नायक भेद, नायिका भेद, हाव, सखी, दूती, संयोग, विरह निवेदन, मान, परिहास ह्रास, नख-सिख, छ ऋतु, भक्ति, धर्मनीति, सामान्यनीति, राजनीति, अन्योक्ति, संपूर्ण अर्थालंकार, संपूर्ण शब्दालंकार, ध्वनि और व्यंग्य आदि के साथ साथ सांसारिक विशाल अनुभव के सैकड़ों अनुभूत विषयों का प्रकृष्ट

संख्या में उसके भावों को ग्रहण किया है तथा मतिराम, देवदास, पद्माकर, शीतल, रामसहाय, तोष, गिरिधरदास, रसलीन, रसनिधि, सुखदेव, वृन्द, विक्रमादित्य, मंचित, हरिनाथ, घनानंद, दूलह, घासीराम, कालिदास, द्विजदेव, चिरजीवी, किशोर आदि रीतिकालीन और भारतेन्दु, हरिऔध, रत्नाकर, सत्यनारायण, कविरत्न वियोगी हरि, रसाल जैसे आधुनिक ब्रजभाषा कवियों ने भी बिहारी-सतसई के भावों को निस्संकोच रूप से अपनाया है। इतना ही नहीं बिहारी-सतसई के अनुवाद देववाणी संस्कृत, अँग्रेजी, उर्दू और गुजराती आदि भाषाओं में भी हुए हैं अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी-सतसई का सतसई साहित्य मे सर्वोत्तम स्थान है।

---

वर्णन देखकर आश्चर्य चकित होना पड़ता है। सतसई में काव्यांगों के ऐसे-ऐसे विशद उदाहरण भरे पड़े हैं जिनकी जोड़ के उत्कृष्ट और साफ उदाहरण श्रेष्ठतम साहित्य रीति ग्रंथों में भी ढूँढे नही मिल सकते।"

—बिहारी-दर्शन : श्री लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी' (पृ० ३२)

# पद्माकर की भाव-व्यंजना

पाश्चात्य समीक्षक जेम्स हेनरी लिफ हंट (James Henry Leigh Hunt) ने 'कविता क्या है?' (An answer to the question what is poetry)' नामक अपने निबन्ध में एक स्थल पर लिखा है कि--"Every poet, then, is a versifier; every fine poet an excellent one; and he is the best whose verse exhibits the greatest amount of strength, sweetness, unsupperllousness, variety, straightforwardness and oneness." द्विवेदी युगीन समालोचक श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है "प्रत्येक कवि पद्य-रचयिता है और प्रत्येक अच्छा कवि उत्कृष्ट पद्य-रचयिता है। सर्वोत्तम कवि वही है जिसके पद्यों में (पद्य-सामंजस्य और अर्थ-व्यक्त गुण) माधुर्य, अव्यर्थ पदत्व (भरती के पदों का अभाव), रोचकता (अरुचि उत्पन्न करने वाले चर्वित चर्वण का अभाव), सहज पद्य प्रवाह एवं पद्य और भाव की सामंजस्यपूर्ण एकता हो।"

किसी भी कवि या कविता की समीक्षा करते समय उपर्युक्त अवतरण से पर्याप्त सहायता मिलती है और इस परिभाषा के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अमुक कविता में कौन-कौन से गुण या दोष हैं ? उपर्युक्त अवतरण में वर्णित तत्वों के साथ-साथ कविता के प्रयोजनों में आनन्द का भी प्रमुख स्थान माना जाता है और कविता में सौंदर्य की भी उपासना की जाती है तथा सौंदर्य द्वारा आनन्द की भी उपलब्धि होती है। मम्मट ने तो आनन्द को ही कविता का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन माना है[1] तथा वर्ड्सवर्थ की दृष्टि में कविता का उद्देश्य यही है कि विस्मय और आनन्दातिशय का एक ही साथ आविर्भाव हो[2] किन्तु काव्य में इन समस्त गुणों का प्रादुर्भाव

---

१ "........सकल प्रयोजनमौलि भूतं समवंतभेव रसास्वादन समुद्भूतं विगलितवेद्यांतरमानन्दं .................मत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकवि कर्म................।"

२ The end of poetry is to produce excitement in co existence with an over balance of pleasure.

तभी हो सकता है जबकि कवि की भाव-व्यंजना भी श्रेष्ठतम हो। काव्य में भावों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है तथा भावहीन कविता को तो कविता ही नहीं कहा जाता। यदि कवि की भाव-व्यंजना सुदृढ़ और सरस न हुई तो फिर कविता में किसी प्रकार के गुणों का आविर्भाव न हो सकेगा। इस प्रकार कविता में भावों की श्रेष्ठता पर विचार करने के उपरान्त अब हम रीतिकाल के यशस्वी कवि पद्माकर की भाव-व्यंजना पर प्रकाश डालेंगे।

पद्माकर रीतिकाल के प्रशंसनीय महाकवियों में से हैं तथा हिम्मत बहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रबोधपचासा और गंगालहरी उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त उनके बहुत से स्फुट छन्द भी उपलब्ध होते हैं और उनके जीवन वृत्तांत पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे एक दरबारी कवि थे अतएव अन्य अधिकांश रीतिकालीन कवियों की भाँति अपने आश्रयदाताओं की चाटुकारिता में ही उन्होंने अपनी कविता-शक्ति व्यय की है। जिस राजा के दरबार में वह जाते थे उसी की प्रशंसा में अत्युक्तिपूर्ण प्रशस्तियों का सृजन करते थे[1] और हिम्मतबहादुर को तो उन्होंने रुद्र, हरिश्चन्द्र, कविकुलकमल-दिवाकर तक माना है[2]। अन्य अधिकांश रीतिकालीन कवियों की भाँति पद्माकर की कविता में कवित्व के साथ-साथ आचार्यत्व की झलक भी दीख पड़ती है लेकिन उन्होंने नवीन सिद्धान्तों का निर्धारण कहीं नहीं किया है। हाँ, रस और अलंकारों पर लक्षण ग्रन्थों का सृजन कर परम्परागत कवि कर्म को अवश्य पूर्ण किया है। 'पद्माभरण' के मंगलाचरण में उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है कि प्रस्तुत ग्रंथ रचना का कारण कवि परम्परा का निर्वाह ही है, देखिए:—

---

१ महाराज जगतसिंह की प्रशंसा में एक छंद देखिए—

छत्रिन के छत्र छत्रधारिन के छत्रपति
छाजत छटानि छिति छेम के छिवैया हौ।
कहै पदमाकर प्रभाव के प्रभाकर
दया के दरियाव हिंद के हद्द रखैया हौ॥
जागते जगतसिंह साहिब सवाई श्रीप्रताप
नृपनंद कुलचंद रघुरैया हौ।
आछे रहौ राजराज राजन के महाराज
कच्छ कुल कलस हमारे तो कन्हैया हौ॥

२—देखिए—हिम्मतबहादुर विरुदावली, छंद सं० ३-९४

राधा राधावर सुमिर, देखि कविन को पथ ।
कवि पद्माकर करत हैं, पद्माभरण सुग्रथ ।।

पद्माकर ने यद्यपि शृंगार रस का ही विस्तार के साथ वर्णन किया है और कृष्ण तथा राधा को नायक नायिका के रूप में चित्रित कर समसामयिक कवि परम्पराओं का निर्वाह किया है किन्तु कवि की भाव-व्यंजना का जैसा निखरा हुआ रूप प्रबोध-पचासा में दृष्टिगोचर होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। एक उदाहरण देखिए:

व्याध हूँ तें बिहद असाधु हौं अजामिल तें,
ग्राह तें गुनाही कहौ तिनमें गनाओगे ।
स्योरी हौं न सूद्र हूँ न केवट कहूँ कौ, त्यौं न
गौतम तिया हौं जापै पग धरि आओगे ।।
राम सों कहत पद्माकर पुकारि तुम,
मेरे महा पापन को पारहू न पाओगे ।
सीता सी सती को तज्यो झूठो ही कलंक सुनि,
साँचो हौ कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे ।

यहाँ कवि अपने हृद्गत भावनाओं को बड़ी कुशलता के साथ व्यक्त कर सका है। भक्त की भावना तो देखिए, वह यह सोचता है कि जब प्रभु ने मिथ्या दोषारोपण से ही सीता को त्याग दिया था तब भला वह एक वास्तविक पापी को कैसे अंगीकार कर सकते हैं। अतः वे आपको भक्त कहने का वह साहस ही नहीं कर पाता और स्वयं ही अपने दोषों को स्वीकार कर लेता है। उसकी जीवन नौका भी मँझधार में पड़ी हुई है और तूफान से डगमगा रही है। भक्त को इस समय अवलम्ब की आवश्यकता प्रतीत होती है और उसे अपने इष्टदेव राम पर पूर्ण विश्वास भी है। वह कहता है:--

प्रलय पयोनिधि लौं लहरैं उठन लागीं,
लहरा लग्यों त्यों होन पौन पुरवैया को ।
भीर भरी झांझरी बिलोकि मँझधार परी,
धीर न धरात पद्माकर खेवैया को ।।
कहा वार कहा पार जाती है न जात कछू,
दूसरो दिखात न खेवैया और नैया को ।
बहन न पैहै घेरि घाटहि लगैहैं ऐसो,
अमित भरोसो मोहिं मेरे रघुरैया को ।।

किसी भी कवि को उसी समय विशेष सफलता प्राप्त होती है जब कि वह पाठकों को अपने अन्तस्तल तक ले जाता है और इसमें कोई संदेह नहीं

कि पद्माकर में यह विशेषता विद्यमान थी तथा पाठकों को अपने अंतस्तल तक ले जाने में उन्हें विशेष सफलता भी प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ—

हानि अरु लाभ ज्ञान जीवन अजीवन हूँ
भोग हूँ वियोग हूँ सयोग हूँ अपार है।
कहै पद्माकर इते पै और केतो कहौ,
तिनको लख्यो न वेद हू मे निराधार है॥
जानियत याते रघुराय की कला को कहूँ,
काहू पार पायो कोऊ पावत न पार है।
कौन दिन कौन छिन कौन घरी कौन ठौर,
कौन जाने कौन को कहा धों होनहार है॥

प्रबोध-पचासा की भाँति गंगालहरी में भी उन्होंने संसार की व्यथता और सारहीनता चित्रित की है। वस्तुतः भक्ति-विषयक छन्दों में पद्माकर ने अपनी आत्मानुभूति का ही विशेष रूप से चित्रण किया है और वास्तव में विषम व निकट परिस्थितियों मे पड़ जाने पर उनके मानस में जो आत्मग्लानि जाग्रत हुई उसी से कवि को इन छदों के रचने की प्रेरणा प्राप्त हुई है। इतना होते हुए भी पद्माकर की देवस्तुतियाँ और भक्ति-परक रचनाओं की भाव-व्यंजना निखरी हुई है।

स्मरण रहे, अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति पद्माकर ने भी शृंगार रस का ही विशेष रूप से वर्णन किया है और संयोग व वियोग दोनों प्रकार के छन्द उनकी कृतियों में बहुलता के साथ दृष्टिगोचर होते हैं। कृष्ण के प्रति गोपियों का किस प्रकार का प्रेम था, इसकी झलक प्रस्तुत छन्द मे देखिए:—

गोकुल के, कुल के, गली के गोप गाँवन के,
जा लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।
कहै पद्माकर परोस पिछवारन के,
द्वारन के दौरे गुन औगुन गनै नहीं॥
तौलौं चलि चतुर सहेली याहि कोद कहूँ,
नीके के निहारै ताहि, भरत मनै नहीं।
हौं तो स्याम रंग में चोराइ चित चोराचोरी,
बोरत तो बोर्यो पै निचोरत बनै नहीं॥

पद्माकर अपनी सूक्तियों में इतना सुन्दर सजीव मूर्ति-विधान करते थे कि उनकी इस भाव-मूर्ति विधायिनी कल्पना की मुक्त कंठ से सराहना करनी ही पड़ती है। विप्रलंभ की विभिन्न मनोदशाओं का भी हृदयस्पर्शी चित्रण

उन्होंने प्रस्तुत किया है और उनकी अभिव्यंजन शैलियाँ भी सराहनीय हैं। उदाहरणार्थ—

आई संग अलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस ईंगर सुपट की।
कहै पद्माकर गंभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी॥
ताही समय मोहन सु बाँसुरी बजाई, तामें
मधुर मलार गाई और बंसीवट की।
तान रहे लट की, रही न सुधि घूँघट की,
घर की, न घाट की, न बाट की, न घट की॥

इसी प्रकार का सुन्दर सजीव चित्रण पद्माकर के छन्दों में उपलब्ध होता है, जिनमें भावों की गंभीरता के साथ-साथ मधुर कल्पना का स्पन्दन भी है। साथ ही पद्माकर में मानव की स्वाभाविक प्रेरणा भी थी और वह केवल ऊहा के बलपर ही भाव व्यंजना नहीं करते थे। यह अवश्य है कि श्रृंगार विषयक छन्दों में भावों की गंभीरता का अभाव है तथा कहीं-कहीं केवल शब्दाडम्बर मात्र ही पाया जाता है किन्तु वर्णन-वैचित्र्य के कारण भिन्न-भिन्न भावों का उद्रेक तो हो ही जाता है। पद्माकर की भावाभिव्यक्ति में नवीनता भी दृष्टिगोचर होती है और कहीं-कहीं उन्होंने सर्वथ नूतन भावों की ही अभिव्यंजना की है। संयोग के समय की सुखदायी वस्तुएँ वियोगावस्था में प्रायः दुःख देने वाली ही मानी जाती हैं तथा अधिकांश कवियों ने इस विषय में सुन्दर मर्मस्पर्शी भाव-व्यंजना भी की है किन्तु पद्माकर का विचार है कि वे पदार्थ जो कि साधारणतः सुखदायी प्रतीत नहीं होते प्रिय-समागम के समय या प्रिय-मिलन के अवसर पर सुखदायी प्रतीत होते हैं:—

दिन के किवारि खोलि कीनो अभिसार, पै
न जानि परी कहू कहाँ जाति चली छल सी।
कहै पद्माकर न नाँक री संकीरन जाहि,
काँकरी पगनि लगैं पंकज के दल सी॥
कामद सो कानन कपूर ऐसी धूरि लगे,
पट सो पहार नदी लागत है नल सी।
घाम चाँदनी सो लगै चंद सो लगत रवि,
मग मखतूल सो भई हू मखमल सी॥

यद्यपि पद्माकर रीतिकाल के उल्लेखनीय कवियों में माने जाते हैं तथा उनकी भाव-व्यंजना की सराहना भी की जाती है किन्तु उनकी कृतियों

में भावशून्य छन्दों की न्यूनता भी नहीं है। यह अवश्य है कि पद्माकर में प्रतिभा थी, भाषा पर उनका अधिकार था और यदि वे चाहते तो साधारण से साधारण भावों को भी जगमगा सकते थे परन्तु भाषा के समान ही भाव-व्यंजना में भी सर्वत्र ही उनकी विरोधिनी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। कदाचित इसीलिए उनके अधिकांश छन्दों में कोरा शब्दाडम्बर मात्र ही देख पड़ता है। पद्माकर की कुछ यह प्रवृत्ति सी हो गई थी कि वे अपने भावों को घुमा-फिराकर अनेक बार वर्णन करते थे गंगालहरी में तो इसकी कुछ सीमा ही नहीं है। प्रौढ़ावस्था में कविता में भी प्रौढ़ता आनी चाहिए थी और भावों में नवीनता का प्रादुर्भाव होना भी आवश्यक था किन्तु पद्माकर ने तो एक ही प्रकार के भाव कई छन्दों में अंकित किए हैं। देखिए; निम्नांकित छन्दों में गंगा के प्रभाव से यमराज उनके सेवकों और चित्रगुप्त की जो दुर्दशा हुई है उसी की बार-बार पुनरावृत्ति की गई है—

१—जकि से रहे हैं जम थकि से रहे हैं दूत,
दूनी सब पापन के उठी तन ताप हैं,
बाँची बही बाकी गति देखि कै विचित्र रहे,
चित्र कैसे लिखे चित्रगुप्त चुपचाप हैं।

२—गंगा के चरित्र लखि भाष्यो जमराज यह,
ऐरे चित्रगुप्त मेरे हुकुम में कान दे,
कहै पद्माकर नरक सब मूँदि करि,
मूँदि दरवाजन को तजि यह थान दे।
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव यातें,
दूतन बुलाइ कै बिदा के बेगि पान दै,
फारि डार फरद न राख रोजनामा कहूँ,
खाता खत जान दे बही को बहि जान दे॥

३—छेम की छहर गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर जमजाल को जहर है।

४—जमपुर द्वार लगे तिनमें केवारे कोऊ,
हैं न रखवारे ऐसे बन के उजेरे हैं।

५—पापिन की पाँति भाँति-भाँति बिललाति परी,
जम की जमाति हलकेपनि हिलति है।

६—दूत दबकाने चित्रगुप्त चुपकाने,
औ जकाने जमजाल पाप पुंज लुंज ह्वै गए।

७—कहै पद्माकर प्रयाग बिन पावै सिद्ध
मानत न कोऊ जमदूतन की दाह दब;
कागद करम करतूति के उठाय धरे,
पचि पचि पंच मैं परे हैं प्रेतनाह अब।

८—जम को न जोर जब पापिन पै चल्यो तब,
हाथ जोरि गंगाजू सों चुगली करैं खरे।

९—जा दिन तें भूमि माहिं भागीरथ आनी जग,
जानो गंगधारा या अपारा सब काज की;
ता दिन तें जानी सी बिकानी बिलसानी-सी,
बिलानी सी दिखानी राजधानी जमराज की।

१०—जम के जसूस जिनै जम सों हमेस करैं,
तेरी ठकुरी को ठीक नेकु न निहारो है,
बड़े बड़े पापी औ सुरापी द्विजतापी तहाँ,
चलन न पावैं कहूँ हुकुम हमारो है।
कहै पद्माकर सुब्रह्मलोक विष्नुलोक,
नाम लैके काऊ सिबलोक को सिधारो है,
बैठो सोसनगा के तरंगा है अभगा ऐसी,
गंगा ने उठाइ दीन्हों अमल तिहारो है॥

११—दगा देत दूत चुनौती चित्रगुप्त देत,
जम को जरब देत पापी लेत सिवलोक।

१२—जहाँ-जहाँ जम की जमाति कीन्हा करामाति,
तहाँ-तहाँ फिरै देखि गंगा की दुहाई है।

१३—जौ लौं लगे कागद बिचारन कछुक तौ लौं,
ताके कान परी धुनि गंगा के चरित्र की।
वाके सीस ही तें ऐसी गंगधार बही जामें,
बही बही फिरी बही चित्र औ गुपित्र की।

उपर्युक्त तेरह उदाहरणों में कवि ने एक ही प्रकार के भावों-विचारों की पुनरावृत्ति की है। हो सकता है, एक छन्द में जो भाव हो वह दूसरे में कुछ परिवर्तित व संशोधित हो कर आया हो परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि प्रमुख विचार-मुख्य भाव-एक ही प्रकार का है। इस कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का विचार क्षेत्र संकुचित है और भाव-व्यंजना के समय नए नए भाव उनके इंगितानुसार करतल बद्ध हो सामने नहीं आ जाते वरन् कवि को अपने थोड़े से ही विचारों-भावों-से अपना काम निकालना

पड़ता है। साथ ही उदाहरणों में संस्कृत के निम्नांकित श्लोक की छाया भी स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है—

तव शिवजलजाल निःसृतं यर्हि गंगे
सकल भुवनजाल पूत पूत तदाऽभूत;
यमभट कलि वार्ता देवि लुप्ता यमोऽपि
व्यधिकृत वरदेहाः पूर्णकामाः स्वकामाः।

साथ ही श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने माधुरी वर्ष ८, खंड १, संख्या १ में संपादकीय विचार के अंतर्गत पद्माकर पर विचार करते समय यह भी लिखा है कि उन्होंने ग्वाल कवि की यमुनालहरी से भी भाव ग्रहण किए हैं। ग्वाल के उदाहरण देखिए:—

१—ग्वाल कवि अधिक अनीतैं विपरीतैं भई,
दीजिये तुराय वेगि बुलुफ किनारे को;
हमुना लिखैंगे वही यमुना जु चैहैं हम,
जमुना बिगारे देत कागद हमारे को।
२—लेखा भये ड्योढ़े रोजनामचा को परेखो कौन
खाता भयो खतम करद वद ह्वै गई।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार पद्माकर का निधन संवत १८९० में कानपुर में गंगा तट पर हुआ और गंगालहरी की रचना उन्होंने अपने जीवन के अंतिम सात वर्षों में की है। चूंकि ग्वाल कवि की यमुनालहरी संवत १८७९ में लिखी गई थी अतः हो सकता है पद्माकर की गंगालहरी पर यमुनालहरी का प्रभाव पड़ा हो।

गंगालहरी लगभग पचास-पचपन छंदों की लघु पुस्तिका है और हम देख चुके हैं कि उपर्युक्त तेरह उदाहरणों में केवल एक ही प्रकार की विचार-धारा पाई जाती है। निम्नांकित उदाहरणों में भी इसी प्रकार भावों की पुनरावृत्ति दृष्टिगोचर होती है और कवि ने इनमें केवल यही दिखाना चाहा है कि गंगास्नान के उपरान्त भक्त को शिवस्वरूप या शिवलोक प्राप्त होता है, देखिए:-

१—हौं तौ पंचभूत तजिबे को तक्यौ तोहिं पर,
तैं तौ कर्‌यौ मोहि भलौ भूतन को पति है;
कहै पद्माकर सु एक तन तारिबे में,
कीन्हें तन ग्यारह वही सौ कौनि गति है।
मेरे अंग गंग यहै लिखी भागीरथी तुम्हैं,
कहियै कछुक तौ विवेक मेरी मति है;

एक भव सूल आयें मेटिबे को तेरे कूल,
तोहि तो त्रिसूल देत बार न लगति है ॥
२—लै है छीनि अंबर दिगंबर के जोरावरी,
बैल पै चढ़ाय फेरि सैल पै चढ़ावैगी।
मुंडन के माल की भुजंगन के जाल की,
मगंगा गजखाल की खिलति पहिरावैगी ॥
३—जाहु नहि पथो उत विपति विशेष होति,
मिलैगो महान कालकूट खान पान में।
कहै पद्माकर भुजंगनि बंधैगे आँप,
संग में सुनागी भूत चलैंगे मसान में।
कमर कसैंगे ततकाल गजखाल चित,
अंबर गिरैगो तू दिगंबर दिसान में ॥
४—जौ लौं चतुरानन चितैबे चारों ओर तौ लौं,
वृष पै चढ़ाइ लै गयोई वृषपति है।
५—मीच सम तेरे इत आय गए बठ इत,
ब्यापि गयो कंठ कालकूट सो जहर है।
आप चढ़ सीस मोंहि दीन्हीं बकसीस,
औ अजार मीच रे की लगाई अरहर है ॥
मारि करि नंगा अंगा अगनि भुजंगन बाँधो,
एरी मेरी गंगा तेरी अद्भुत लहर है।
६—मुंडन की माल देखो भाल पर उज्वल कीबो,
छीनि लीबो अंबर अंहबर जहाँ जैसो।
कहै पद्माकर त्यों बैल पै चढ़ाइबो,
चढ़ाइबो पुराने गजखाल को भलो तैसो ॥
नगा करि डारिबो सुभगा भखि जारिबो
सुगंगा दुख मानिबो न बूझत कछू वैसो।
साँपन सिगारिबो गरे मैं विष पारिबो,
सु तारिबो जु ऐसो तौ बिगारिबो कहौ कैसो।

गंगा जी में स्नान करने से भक्त शिव हो जाता है--उसे शिवलोक प्राप्त होता है— इस भाव को ही पद्माकर ने बार-बार थोड़े हेर फेर के साथ इन छह छंदों में अंकित किया है। इस प्रकार यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि पद्माकर को विचार-धारा संकुचित थी और अपने भावों की पुनरावृत्ति करना ही उन्हें पसन्द था। किसी भी सत्कवि की भाव-व्यंजना में इस प्रकार के दोष अपेक्षित नहीं माने जा सकते।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि पद्माकर की कृतियों में मौलिकता का कितना अंश है और कितने भाव उनके निजी हैं तथा कितनों का उन्होंने अपहरण किया है अर्थात् ऐसी कितनी उक्तियाँ हैं जिनमें कि उनके स्वतन्त्र विचारों का आभास होता है और कितने ऐसे हैं जिनमें कि पूर्ववर्ती कवियों की विचारधारा की झलक दीख पड़ती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कवियों में परस्पर सर्वदा ही भावों का आदान-प्रदान होता रहता है और प्रत्येक परवर्ती कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के विचारों से लाभ उठाता रहा है लेकिन विशेषता इस बात में पाई जाती है कि जो भी भाव ग्रहण किये जायँ उन्हें कुशलता के साथ और अपनी निजी शैली-विशेष द्वारा अभिव्यक्त किया जाय। दूसरों के भावों को ग्रहण कर उनकी अभिव्यंजना में भी सफलता अपेक्षित मानी जाती है और डॉ० विश्वमोहन शर्मा ने 'साहित्य में मौलिकता' पर विचार करते हुए लिखा भी है "जो साहित्यकार किसी के 'भावों की शराब' को उँड़ेलने के लिए भी अपनी बोतल तैयार नहीं कर सकता, वह सत्य साहित्यकार नहीं, साहित्यकार का दम्भ रचता है।"

पद्माकर ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को अपनाया है तथा उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' के कई छंद तो संस्कृत के प्राचीन कवियों के श्लोकों के अनुवाद मात्र हैं। अमरुक और उद्भट के अनेक श्लोकों का अक्षरशः शब्दानुवाद ही कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है।[1] यहाँ हम विस्तार भय से भाव-साम्य के अधिक उदाहरण देने तथा प्रत्येक छंद की विस्तृत व्याख्या करने में असमर्थ हैं और सादृश्य भाववाले छंद पूर्ववर्ती कवियों की उसी भाव के अनुरूप उक्तियों के साथ हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं तथा दोनों का अध्ययन करने पर पद्माकर की भाव-व्यंजना का यह दोष सरलता से स्पष्ट हो जाएगा, देखिए:—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति

—अमरुक

दोऊ छबि छाजतीं छबीली मिलि आसन पै,
जिनहिं बिलोकि रह्यो जात न जितै-जितै।

---

१ महाकवि पद्माकर और अमरुक के भाव-साम्य के और अधिक उदाहरणों का अध्ययन करने के लिए देखिए—माधुरी वर्ष ५, खंड १, संख्या ४ में 'कविचर्चा' के अंतर्गत श्री चंद्रशेखर पांडेय का लेख।

कहै पदमाकर पिछौहैं आइ आदर सों,
छलिया छबीलो छैल बासुर बितै-बितै ॥
मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग,
सु दृग मिचाउनी के ख्यालन हितै-हितै ।
नेसुक नवाइ ग्रीउ धन्य-धन्य दूसरी कौं,
औचक अचूक मुख चूमत चितै-चितै ॥
—पदमाकर

बाले, नाथ विमुंच मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं ?
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा ? कस्याग्रतो रुद्यते ?
नन्वेतन्मम, का तवास्मि ? दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते
—अमरुक

ए बनि कहाँ हो किन, का कहत कन्त, अरी
रोस तज, रोस के कियो मैं का अचाहे कौं ।
कहै पदमाकर यहै तो दुख दूरि करौ
दोस न कछू है तुम्हें नेह निरबाहे कौं ?
तौ पै इत रोवनि कहा हौ ? कहौ कौन आगे ?
मेरेई जू आगे किये आँसुन उमाहे कौं ।
को हौं मैं तिहारी तू तौ मेरी प्यारी अजू
होती जो पियारी तब रोती कहौ काहे कौं ॥
—पदमाकर

भगी देखिकै संकि लंकेसबाला,
दुरी दौरि मंदोदरी चित्रसाला ।
तहाँ दौरिगो बालि को पूत फूल्यो,
सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यो ।
—केशव

छूटि भाजी कर ते मकरिके बिचित्र गति,
चित्र कैसी पूतरी न पाई चित्रसारी मैं ।
—पदमाकर

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर,
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर ।
—बिहारी

रहौ देरि । हत ह्वै कहा तुहि न लाज कछु धूत,
मैं बेटी वृषभान की तू अहीर को पूत ।
—पदमाकर

ललित लाल लीला ललन बड़ी चिबुक छबि दून,
मधु छाक्यो मधुकर पर्यो मनो गुलाब-प्रसून।
—बिहारी

जनु मलिंद अरबिंद बिच बस्यो चाहि मकरंद,
इम इक मृगमद बिंदु सो किए सुबस ब्रजचंद।
—पद्माकर

लगे दुहुनि इक संग ही चलचित नैन गुलाल।
—बिहारी

एकै संग धाए नंदलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगन गए हैं भरि आनंद मढ़ै नहीं।
—पद्माकर

बाढ़त है अति पीर सुन काढ़े हू सु गुलाल।
—बिहारी

ए री मेरी बीर, जैसे तैसे इन आँखिन तैं,
कढ़िगौ अबीर, पै अहीर को कढ़ै नहीं।
—पद्माकर

मिलि बिहरत बिछुरत मरत दंपति अति रस लीन,
नूतन बिधि हेमंत-ऋतु जगत-जुराफा कीन।
—बिहारी

जगत जुराफा ह्वै जियत तज्यो तेज निज भानु,
रूस रहे तुम पूस मैं यह धौं कौन सयान।
—पद्माकर

निसि दिन श्रौनन पियूष-सो पियत रहै,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुर ग्राम को;
तरनि-तनूजा-तीर बन-कुंज-बीथिन मैं,
जहाँ तहाँ देखियत रूप छबि-धाम को।
कवि मतिराम होत हाँ तो ना हिए तैं नेक,
सुख प्रेमगात को परस अभिराम को;
ऊधो तुम कहत बियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं जो बियोग होय स्याम को॥[1]
—मतिराम

---

१ मतिराम के इस छंद का भाव रीतिकालीन कवि देव ने भी अपनाया है अत: ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि पद्माकर ने यह भाव

प्रानन के प्यारे तन ताप के हरन हारे,
नंद के दुलारे ब्रजवारे उमहत हैं।
कहै पद्माकर उरूझे उर अंतर यों
अतर न हूजे न अंतर चहत हैं॥
नैननि बसे हैं अंग हुलसे हैं रोम,
रोमनि रमे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ वै गोविंद कोई और मथुरा में यहाँ,
मेरे तो गोविंद मोहिं-मोहिं में रहत हैं॥
—पद्माकर

सकुचि न रहिए साँवरे सुनि गरबीले बोल,
चढ़ति भौंह बिकसत नयन, बिहँसत गोल कपोल।
—मतिराम

चढ़ति भौंह थरकत हियो हरषत मुख मुसकात,
मद छाकी तिय को जु पिय छबि छकि परसत गात।
—पद्माकर

चाहति फल तेरो मिलन निसि बासर वह बाल,
कुच सिव पूजति नैन-जल कुंद मुकुतमय माल।
—मतिराम

यों श्रम सीकर सुमुख ते परत कुचन पर बेस,
उदित चंद्र मुकुता छतनि पूजत मनहुँ महेस।
—पद्माकर

आजु को रूप लखे ब्रजराज को, आँखिन को फल आजु ही पायो।
—मतिराम

---

देव कवि के छंद से ग्रहण किया या मतिराम के कवित्त से। देव की उक्ति देखिए—

जो न जी मैं प्रेम तब कीजै ब्रत नेम जब,
कंज मुख भूलै तब संजम बिसेखिए,
आस नहीं पी की तब आसन ही बाँधियत,
सासन के सासन को मूँदि पति पेखिए।
नख ते सिखा लौं सब प्रेममई बाम भई,
बाहिर लौं भीतर न, दूजो देव देखिए,
जोग करि मिलै जो बियोग होय बालम जू,
ह्या न हरि होयँ तब ध्यान धरि देखिए॥

आजु की या छबि देखि भटू अब देखिबे को न रह्यो कछु बाकी ।
—पद्माकर

काजर दे नहिं एरी सुहागिनी आँगुरी तेरी कटैंगी कटाछन ।
—आलम

कहा करौं जो आँगुरिन अनी घनी चुभि जाय,
अनियारे चख लखि सखी कजरा देत डराय ।
—पद्माकर

पाँव धरै अलि ठौर जहाँ, तेहि ओर ते रंग की धार सी धावति,
मनो मजीठ की माठ ढुरी, यक ओर ते चाँदनी बोरति आवति ।
—देव

धरति जहाँई जहाँ पग है सु प्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ-सी ढुरत जात
— पद्माकर

चाहै सुमेरु को छार करै, अरु छार को चाहै सुमेरु बनावै;
चाहै तो रंक ते राउ करै, चहै राव को द्वार ही द्वार फिरावै ।
रीति यही करुना-निधि की कवि देव कहै बिनती मोहिं भावै,
चींटी के पाँय मैं बाँधि गयंदहि, चाहै समुद्र के पार लगावै ।।
—देव

द्यौस को राति करै जो चहै, अरु राति हू को करि द्यौस दिखावै,
त्यों पद्माकर सील को सिंधु, पिपीलिका के बल फील फिरावै ।
यों समरत्थ तनै दसरत्थ को सांई करै जो कछू मन भावै,
चाहै सुमेरु को राई करै रचि राई को चाहै सुमेरु बनावै ।।
— पद्माकर

उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्माकर की कृतियों में भाव-साम्य के उदाहरणों की अधिकता सी है ।

रीतिकाल को श्रृंगारकाल भी कहते हैं तथा रीतिकालीन कवियों का प्रधान रस श्रृंगार ही था पर श्रृंगार रस को रसराज मानते हुए भी कोई भी यह स्वीकार न करेगा कि श्रृंगार की ओट में कुरुचि-उत्पादक वासना मूलक चित्रों को प्रस्तुत किया जाय । सच तो यह है कि रीतिकालीन कवियों ने परकीया नायिका और विपरीत रति के वर्णन में जिन भद्दे चित्रों को प्रस्तुत किया है उनसे कविता-कामिनी का कलित कलेवर कलंकित ही हुआ है । पद्माकर ने भी कई अश्लील व भद्दे चित्र अपनी लेखनी से अंकित किए हैं और उनके इन निकृष्ट कुरुचि-उत्पादक छंदों में से दो उक्तियाँ

हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं जिनसे स्पष्ट हो जाएगा कि पद्माकर की मनोभावनायें कितनी अधिक वासनामूलक थीं —

ऊधम ऐसो मचो ब्रज मैं,
सबै रंग तरंग उमंगनि सीचैं ॥
त्यों पद्माकर छज्जनि छातनि,
छ्वै छिति छाजती केसर कीचैं ।
दै पिचकी भजी भीजी तहाँ,
परे पीछे गोपाल गुलाल उलीचैं,
एक ही संग यहाँ रपटे सखी,
ए भए........................................ ॥
आई भले द्रुत चाल तूँ चातुर,
आतुर मोहन के मन माई ।
सौतिन के सर को पद्माकर,
पाई कहाँ धौं इती चतुराई ॥
मैन सिखाई सिखाई स मैंनहिं,
यों कहि रैनि की बात जताई ।
ऊपर........................................,
सु हरे हँसि यों तसबीर दिखाई ॥

इतना ही नहीं अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए कवि ने कहीं-कहीं अकारण ही बिना किसी विशेष व प्रयोजन के विभिन्न वस्तुओं की परिगणना भी की है और आश्रयदाताओं को उत्तेजित रखने के लिए जहाँ अश्लील छंदों की रचना की है वहाँ साथ ही ऋतुओं से उपचार के नुस्खे भी तैयार किए हैं। 'जगत-विनोद' में फारसी कविता की परम्पराओं की झलक भी दीख पड़ती है और कहीं तो कलेजा निकालने की चर्चा है तो कहीं बाजारू औरतों के कामीजनों पर दुधारू तलवार चलाने का भी उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार पद्माकर की भाव-व्यंजना में हमें सर्वत्र परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं और हम देखते हैं कि एक ओर तो उन्होंने बड़ी ही उत्कृष्ट भाव-व्यंजना की है तथा साधारण से साधारण भावों को भी चमत्कृत कर दिया है परन्तु ऐसे उदाहरणों की भी न्यूनता नहीं है जहाँ कि भाव-व्यंजना शिथिल है, भाषा विकृत है, विचार-क्षेत्र संकुचित है। भावों की न्यूनता भी उनके पास कदाचित इतनी अधिक थी कि वह एक ही प्रकार के विचारों को कई छंदों में अंकित करते थे और भावों की गंभीरता का ह्रास

भी कहीं-कहीं पाया जाता है तथा कवि पूर्ववर्ती कवियों के भावों के अपनाने में भी सर्वत्र सफल नहीं रहा। जगतविनोद के अधिकांश छंद या तो संस्कृत श्लोकों के शब्दानुवाद हैं या पूर्ववर्ती कवियों के भावों पर आधारित हैं परन्तु इतना सब होने पर भी मतिराम और देव ( जिनका कि काव्य सौन्दर्य इनसे अधिक निखरा हुआ है ) की अपेक्षा पद्माकर को ही अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है तथा आचार्य शुक्ल ने कहा भी है--"रीतिकाल के कवियों में सहृदय समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा कोई नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एकमात्र कारण है। रीतिकाल की कविता इनकी और प्रतापसाहि की वाणी द्वारा अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँच कर ह्रासोन्मुख हुई। अतः जिस प्रकार ये अपनी परम्परा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार प्रसिद्धि में अंतिम भी। देश में जैसा इनका नाम गूँजा वैसा फिर आगे चलकर किसी और कवि का नहीं।"[1]

---

१ हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० ३६८)

# भारतेन्दु की काव्य-भावना

अपनी समीक्षात्मक कृति 'व्यक्ति और वाङ्मय में डॉ प्रभाकर माचवे ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालते समय उचित ही कहा है "आज हिन्दी भाषा और साहित्य प्रतिष्ठा एवं अभिवृद्धि की जिस अधित्यक्ता पर जा पहुँचे हैं उसकी चढ़ाई का सूत्रपात भारतेन्दु ने ही किया है। एक ओर जहाँ हिन्दी भाषा को राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठापद दिलाने की नींव डालने का साहसपूर्ण कार्य उन्होंने किया वहाँ दूसरी ओर हिन्दी साहित्य को काव्य की कुंज गली से बाहर निकाल निबन्ध, नाटक, उपन्यास एवं आलोचना आदि के विभिन्न क्षेत्रों में उतारने का श्रीगणेश भी उन्हीं से हुआ है। भारतेन्दु का यह ऋण और भी बढ़ जाता है जब हम उनके व्यक्तिगत प्रयत्न एवं प्रोत्साहन से हिन्दी के क्षेत्र में आनेवाले उनके समकालीन साथियों का कार्य भी उनके साथ जोड़ देते हैं। भारतेन्दु ने अकेले जो कुछ अपनी ३४ वर्ष की आयु में किया वह स्वयं ही एक विराट विस्मय है, पर जब हम उनके जीवन के विविध सामाजिक कार्यकलापों एवं समारम्भों की ओर दृष्टि डालते हैं और उनके इन समारम्भों का लेखाजोखा लेने बैठते हैं, तब तो हमारे विस्मय का अंत ही नहीं रहता। हिन्दी को जीवन देने में सूर और तुलसी का, हिन्दी को सज-धज देने में देव और बिहारी का जो स्थान है, वही स्थान हिन्दी को प्रतिष्ठा देने में भारतेन्दु का है। इसीलिए भारतेन्दु का कवित्व प्रतिष्ठा दिलाने के इस भगीरथ प्रयत्न में उनके व्यक्तित्व से प्रतिच्छादित हो गया है। 'निज भाषा उन्नति अहै' की प्रबल इच्छा ने भारतेन्दु को उनकी साहित्यिक प्रतिभा से ऊपर उठाकर एक नये सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन का युग-प्रवर्त्तक बना दिया है। बंकिमचन्द्र, चिपलूणकर और नर्मद ने जो कार्य अपने प्रांतीय क्षेत्रों में किया उसके विस्तृत स्वरूप का आत्म-दर्शन किया है भारतेन्दु ने ही। भारतेन्दु से ही खड़ी बोली न केवल घुटनों के बल चलना छोड़कर खड़ी होना सीखती है बल्कि वह साहित्य एवं वाङ्मय के विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करने का पथनिर्देश भी प्राप्त करती है। तुलसी ने भाषा को संस्कृत की बराबरी में रखाने में जिस अद्भुत क्षमता का परिचय दिया संभवतः उतनी ही क्षमता भारतेन्दु ने भी हिन्दी को तत्कालीन राज-भाषाओं के बराबर खड़ा करने में दिखलाई है। भारतेन्दु का स्थान साहित्य

में उतना बड़ा न हो पर हिन्दी भाषा के इतिहास में वे तुलसी के ही समकक्ष हैं इसमें तनिक भी संदेह नहीं। कवि के रूप में वे आत्मविस्मृत में खोये भक्त-कवियों के नवीन संस्करण है, नाटककार के रूप में स्वदेशी और विदेशी परंपराओं का दिग्दर्शन कराते हुए भी मौलिक नाटक साहित्य के वे आदि-संस्थापक हैं। निबन्धकार के रूप में अनुप्राणित स्वानुभूत्यात्मक शैली के प्रवर्त्तक हैं जिसका दुर्भाग्यवश हिन्दी में आगे कुछ अधिक विकास न हो सका और पत्रकार के रूप में स्वतन्त्र विचार-शक्ति और निष्पक्ष विवेचना के आदर्शों के जन्मदाता। इतिहास, धर्म और दर्शन आदि विषयों में भी मार्ग-निर्देशन उन्होंने किया पर अपने मस्त जीवन में इनके लिए पर्याप्त अवकाश न पा सके। भाषा के प्रसार और स्वच्छन्द भाव प्रवाह का अद्भुत तादात्म्य उनकी साहित्य-साधना का मर्म है। उनके साहित्य में तीव्रता या गहराई इतनी न हो, पर जीवित समरसता का जो एक शाश्वत संदेश उनकी रचनाओं में सर्वत्र प्राप्त होता है, उसे अभी तक भली-भाँति आँका नहीं गया है। जीवन के प्रति जिस स्वस्थ दृष्टि को उन्होंने अनुबिंबित किया है, वह केवल दो चार इने गिने कवि हिन्दी में दे पाये हैं।" स्मरण रहे आधुनिक हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम युग भारतेन्दु युग ( १८५० ई० – १९००ई० ) ही है क्योंकि हिन्दी साहित्य की प्रारम्भिक विभिन्न प्रवृत्तियों को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही प्रभावित किया था और हिन्दी साहित्य में नवीनता का श्रीगणेश भी उन्हीं के द्वारा हुआ था। साथ ही उन्होंने उसे जिस प्रकार की गति दी वह उनके निधन के उपरान्त भी उन्हीं के दिखाए हुए मार्ग का अनुसरण करती रही। अपने करीब पैंतीस वर्ष के संक्षिप्त जीवन में ही उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंग को प्रभावित किया और इस प्रकार उनकी अलौकिक प्रतिभा से साहित्य में नूतन प्रवृत्तियों का विकास हो सका तथा हिन्दी जगत में सर्वांगीणता भी आ सकी। जहाँ हिन्दी जनता को नाट्य रचना की ओर अभिमुख करने का श्रेय उन्हीं को है वहाँ असंयत हिन्दी गद्य को खड़ी बोली का नियंत्रित रूप देकर आधुनिक गद्य की परिष्कृत शैली उत्पन्न करने का—जिसकी कि परम्परा दिन प्रतिदिन आज भी विकसित हो रही हैं—उन्हें ही श्रेय है। हिन्दी में नवीन ढंग की आलोचना व शैली का सूत्रपात करने वाले भी वे ही थे तथा 'नाटक' शीर्षक ६७ पृष्ठ का उनका अलोचनात्मक लेख हिन्दी का सर्वप्रथम आलोचनात्मक निबन्ध है। अपनी अल्प आयु में ही १७५ ग्रन्थों का सृजन उनकी प्रखर प्रतिभा का द्योतक है। डॉ० जानसन के 'लिटरेरी सर्किल' के सदृश्य बल्कि उससे भी अधिक उनके साहित्यिक मंडल का महत्व है जिसने हिन्दी में अनेक प्रतिभाशाली लेखकों और कवियों को उत्पन्न किया। जैसा

कि डॉ० श्यामसुन्दर दास का कथन है "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का वास्तविक महत्व परिवर्तन उपस्थित करने में, साहित्य को शुद्ध मार्ग में ले चलने में है। श्रृंगारिक कविता की प्रबल वेग से बहती हुई जिस धारा का अवरोध करने में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'भूषण' समर्थ नहीं हुए थे, भारतेन्दु उसमें पूर्णतः सफल हुए। इससे उनके उच्च पद का पता लगता है।" चूंकि भारतेन्दु का समस्त जीवन कवित्वमय ही था तथा उनकी रचनाओं में काव्यकृतियों की ही संख्या अधिक है और वे एक साधारण कवि न होकर आशु कवि ही थे अतः उनका काव्य न केवल अधिक विशद है अपितु उसमें विभिन्न प्रवृत्तियाँ भी दृष्टि-गोचर होती है।

भारतेन्दु के काव्य-साहित्य का प्रथम भाग गीतिकाव्य ही है। यों तो गीतिकाव्य की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है और हिन्दी गीतिकाव्य का प्रारम्भिक रूप वज्रयानी सिद्धों के पदों में दृष्टिगोचर होता है तथा भक्ति-काल में ही वह प्रौढ़ता की चरम सीमा पर पहुँच चुका था परन्तु आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य का सर्वप्रथम कवि होने का श्रेय भारतेन्दु को ही है। वल्लभ कुल के कृष्णभक्त होने के कारण उनके पदों में मानस की सरस अभिव्यजंना है। अष्टछाप के कवियों के उपरान्त प्रथमबार डेढ़ सहस्त्रकी संख्या में इतने सुन्दर पद एक कवि ने प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि पदों का विषय वही राधा-कृष्ण लीला ही है तथा अष्टछाप के कवियों की भाँति उन्होंने भी बाललीला भावती लीला, मान लीला, दान लीला, रूपवर्णन, मुरली माधुरी, विरह, उद्धव गोपी संवाद और नेत्रों के प्रति उपालम्भ आदि विषयों का ही वर्णन किया है परन्तु स्थल-स्थल पर ऐसी-ऐसी नूतन मनोभावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कि मानों किसी नूतन रूप से भावों का संगुफन कर रही हों। रीतिकाल में राधाकृष्ण को श्रृंगारजगत के वासनामय नायक-नायिका के रूप में चित्रित कर जिस कलुषित श्रृंगार रस की उत्पत्ति की गयी भारतेन्दु के काव्य में उसकी झलक भी नहीं मिलती। उनके पुनीत मानस में इन मनो-भावनाओं के लिए स्थान कहाँ था! अतः रीतिकालीन परम्परा की सर्वथा उपेक्षा कर राधाकृष्ण के परम दिव्य स्वरूप की आराधना ही उन्होंने अपने काव्य में की है। भारतेन्दु की यह एक महत्वपूर्ण काव्यगत विशेषता है कि उनके इस प्रयत्न से रीतिकालीन वासनामूलक नग्न श्रृंगार का अश्लील पट सर्वदा के लिए बन्द हो गया। यह अवश्य है कि पदों में विशेष मौलिकता नहीं है पर आत्माभिव्यंजन की सौकुमार्यता और मनोहरता उनमें पूर्ण रूप से दृष्टिगोचर होती है। मीरा की कसक, सूर की वेदना, गोस्वामीजी की वर्णन-शैली, हितहरिवंशजी की तल्लीनता एक साथ उनके पदों में झलक

उठती है। उनका रूप-वर्णन रूपकों के योग से उत्कृष्ट बन पड़ा है और राधा के सौंदर्य की सरिता से तथा कृष्ण की नृत्यरूपी मनोहरता का वारिद खण्डों से साम्य आदि विभाव-चित्रण के कलापूर्ण उदाहरण भी प्रस्तुत किए गए हैं। भारतेन्दु सूर से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं और इस प्रकार उनके वस्तु-वर्णन पर सूरसागर का व्यापक प्रभाव पड़ा है। सूर के सदृश्य उपमा और रूपक की ओर भी उन्होंने रुचि प्रदर्शित की है। कृष्णकाव्य के अंतर्गत देवी छद्मलीला, रानी छद्मलीला और तन्मय नामक तीन खंड काव्यों का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी कि कथावस्तु नितान्त मौलिक है। स्मरण रहे सूर ने राधा के जन्म आदि का वर्णन नहीं किया है परन्तु भारतेन्दु ने कृष्ण जन्मोत्सव के सदृश्य राधा का जन्मोत्सव भी अंकित किया है। इसी प्रकार राधा की मनोभावनाओं की सौकुमार्यता और कृष्ण के प्रति प्रेम भाव में भी हमें मौलिकता ही दीख पड़ती है जो कि अष्टछाप के कवियों की कविताओं में नहीं है। जैसा कि डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि "भारतेन्दु हरिश्चन्द एक महान् साहित्यिक संगम के समान हैं जहां साहित्य की प्राचीन धाराएँ मिलकर एक नवीन साहित्यिक धारा को जन्म देती है। उनमें जागनिक, कबीर, सूर, मीरा, देव और बिहारी सभी मूर्तमान दृष्टि-गोचर होते हैं।"

भारतेन्दु की दृष्टि लोक-साहित्य की ओर भी गई और उन्होंने ग्राम्य-साहित्य के निर्माण की ओर भी ध्यान दिया। मई १८७९ ई०की 'कवि वचन सुधा' में उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर गाँवों में ग्रामीण भाषा में लिखे गए गीतों का महत्व सिद्ध किया था। भारतेन्दु का उद्देश्य यह भी था कि हिन्दी के सम्पर्क में आने वाले सभी प्रांत की प्रांतीय भाषाओं के लोक गीतों का भी सृजन हो। चूँकि ये भाषाए हिन्दी की रीढ़ हैं और उनके योग से हिन्दी का अधिक विकास हो सकेगा अतः वह चाहते थे कि इन भाषाओं का भी विकास हो। भारतेन्दु ने स्वयं भी बंगला, गुजराती, पंजाबी और राजस्थानी में कविताएँ लिखी हैं तथा उर्दू में भी उनकी कुछ सूक्तियाँ दृष्टि-गोचर होती हैं। लोक साहित्य का अधिक-से-अधिक निर्माण हो यही उनकी आकांक्षा थी। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, साँझी, लावनी, बिरहा, गजल आदि के प्रचार और प्रसार की ओर उनकी विशेष रुचि थी और स्वयं भी उन्होंने उनका सृजन किया है। भारतेन्दु ने वे विषय भी प्रस्तुत किए जिन पर कि लोक गीतों का लिखा जाना आवश्यक था। वे विषय हैं—बालविवाह से हानि, जन्मपत्री मिलाने की अशास्त्रता, बालकों की शिक्षा, भ्रूणहत्या, फूट और बैर, स्वदेश प्रेम, हिन्दुस्तान की वस्तु

हिन्दुस्तानियों के व्यवहार में लाना, अँग्रेजी फैशन की बुराइयाँ आदि। इस प्रकार भारतेन्दु की दृष्टि समाजसुधार से लेकर स्वदेशी आंदोलन की ओर तक थी और उनका उद्देश्य यही था कि सर्वसाधारण में एक चेतना जाग्रत करनी चाहिए जो कि प्रत्येक प्रकार से अशिक्षितों को--ग्रामीणों को—भी इन गीतों के द्वारा जाग्रत कर सके।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सत्कवि अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है और साहित्य सर्वदा ही सामयिक परिस्थितियों से अनुप्राणित होता रहा है। चूँकि हिंदी साहित्य के प्राचीन कवि धर्म-चेतना और निश्चित रूढ़ियों से ही प्रभावित होते रहते हैं। अतः सामयिक घटनाओं और परिस्थितियों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। इसी प्रकार रीतिकालीन काव्यधारा भी केवल प्रशस्तियों मात्र तक ही सीमित रही है अतः यह तो भारतेन्दु युग की ही विशेषता है जिसमें कि सामयिक तथा राष्ट्रीय परिस्थितियों का चित्रण कवियों ने किया है। यों तो भारतेन्दु ने कुछ ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं जो उन्हें राजभक्त के रूप में सिद्ध करती हैं जैसे विक्टोरिया के पति की मृत्यु पर स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन, ड्यूक ऑफ एडिनबरा के १८६९ में भारतागमन के अवसर पर श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र एवं उनके काशी आने के अवसर पर के कवित्त, प्रिंस आफ वेल्स के भारत आगमन पर लिखी गई 'राजकुमार शुभागमन वर्णन।' स्मरण रहे यही प्रवृत्ति राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की कविताओं में भी हमें दीख पड़ती है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भारतेन्दु के काव्य में उत्कृष्ट देशभक्ति और वास्तविक राष्ट्रीयता झलक उठती है। वस्तुतः समीक्षक यह भूल जाते हैं कि राष्ट्रीयता के मूल प्रवर्त्तकों में उनका कितना महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वह प्रथम कवि हैं जिन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास को कवि के रूप में निहारा है। अतीत की गौरव गाथाओं को उन्होंने विस्मरण नहीं किया है और पूर्वी-पश्चिमी सभ्यता के संघर्ष से भी वे भला-भाँति विज्ञ थे और 'प्रबोधिनी' में भारत दुर्दशा का उन्होंने हृदयस्पर्शी वर्णग किया है:—

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।  
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

साथ ही अँग्रेजी राज्य के प्रति उनके वास्तविक विचार इस प्रकार हैं:—

अँगरेज राज सुख साज सजै सब भारी।  
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥  
ताहू पै मँहगी काल रोग विस्तारी।  
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा! हा! री॥

सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई ।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

अतः हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने ही जातीय, राष्ट्रीय तथा सामयिक कविता का बीजरोपण किया जो कि उनके उपरांत पंद्रह वर्ष के अंदर-अंदर विकसित हो गया।

गीतिकाव्य और राष्ट्रीय कविताओं के उपरान्त भारतेंदु की काव्यधारा में रीतिकालीन प्रवृत्तियों से प्रभावित विषय दृष्टिगोचर होते हैं। कवित्त और सवैयों में कवि ने शृंगार रस की धारा अबाध गति से प्रवाहित की है परन्तु उसमें वासनामूलक चित्र प्रस्तुत न कर प्रेम का उत्कृष्ट रूप वर्णित किया है। विरह का स्वाभाविक चित्रण भी वे प्रस्तुत कर सके हैं और इस प्रकार मतिराम की सी मधुरता, देव की सी विरह-व्यथा, घनानन्द की सी हृदय स्पर्शिता, रसखान की सी सरलता और पद्माकर का सा प्रवाह उनके छन्दों में दृष्टिगोचर होता है। 'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं' सदृश्य मर्मस्पर्शी उक्तियों की प्रधानता सी है।

भारतेन्दु के काव्य का कला-पक्ष भी प्रौढ़ और परिष्कृत है। यद्यपि कवि ने खड़ी बोली में भी रचनाएँ की हैं परन्तु उनकी काव्य-भाषा विशेष रूप से व्रजभाषा ही रही है। रत्नाकर की भाँति उन्होंने व्रजभाषा का अध्ययन नहीं किया था बल्कि अपनी प्रतिभा के बल से ही उसका परिमार्जित और परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है। उनकी व्रजभाषा शुद्ध व्रजभाषा है तथा उसे साहित्यिक व्रजभाषा नहीं कहा जा सकता। स्मरण रहे उत्तम भाषा के समस्त गुण उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं और भावानुकूल शब्दचयन उनकी भाषा की खास विशेषता है। दुरूह शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया है और सर्वत्र ही सरल, सुमधुर शब्दावली दीख पड़ती है। केशव के सदृश्य चमत्कार-प्रदर्शन के हेतु संस्कृत शब्दों का उन्होंने अधिक प्रयोग नहीं किया और न सूर की भाँति भाषा को साहित्यिक एकरूपता देने का ही प्रयत्न किया है। घनानंद की तरह उसे परिष्कृत करने का प्रयत्न भी नहीं किया गया बल्कि दुरूह और अप्रचलित शब्दों से रहित सुललित, सरल और स्वाभाविक व्रजभाषा का ही प्रयोग किया गया है। वस्तुतः व्रजभाषा के पूर्व सौंदर्य को सुरक्षित रखकर उसे आधुनिक जीवन का अनुगामी बनाना उनका एक महत्वपूर्ण कार्य था और साथ ही उन्होंने व्रजभाषा की निजता को भी सुरक्षित रखा है। उनकी भाषा में लोकोक्तियों, मुहावरों और कहावतों का भी अधिकाधिक प्रयोग है। 'हाय सखी इन हाथन सों अपने पग आप कुठार मैं दीनो' और 'एक जो

होय तो ज्ञान सिखाइये कूप ही में यहाँ भाँग परी है' के सदृश्य मुहावरों और कहावतों का भी उनकी भाषा में स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। वस्तु-वर्णन में अलंकारों की सुषमा देखने ही योग्य है तथा 'तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये' जैसी अनुप्रासयुक्त पंक्तियों की अधिकता-सी है। साथ ही उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और यमक का भी प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन और वर्तमान काल की युगसंधि पर खड़े हुए भारतेन्दु का काव्य अपना एक विशिष्ट महत्व रखता है और युग की विभिन्न धाराओं का ऐसा समावेश बहुत ही कम कवियों की कृतियों में दीख पड़ता है तथा अनेक भाषाओं और अनेक शैलियों में अपनी अलौकिक प्रतिभा का जैसा परिचय उन्होंने दिया है वैसा शायद ही कोई कवि दे सका हो। गोस्वामी तुलसीदास के उपरान्त हिन्दी साहित्य में वे ही एक-मात्र कवि हैं जिन्होंने कि प्रचलित समस्त शैलियों का और विभिन्न भाषाओं का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। खड़ी बोली की कविता के तो वे प्रवर्त्तक ही थे। वस्तुतः हिन्दी कविता के विषयों और शैलियों में उन्होंने क्रांति-सी उपस्थित की है क्योंकि प्राचीन कवि या तो रसभाव पुष्टि को ध्यान में रखकर कविता करते थे या फिर धर्म और शृंगार को। भारतेन्दु ने नवीन प्रसंगों की भी उद्भावना की है और समाज-सुधार, देश-प्रेम तथा स्वातंत्र्य-भावना आदि नए-नए विषयों द्वारा कविता का नवीन रूप प्रस्तुत किया है। स्मरण रहे श्री जयशंकर 'प्रसाद' भारतेन्दु को ही हिन्दी साहित्य का प्रथम यथार्थवादी कवि मानते हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि "अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वह पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचन्द्र की शैली में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्ति-माल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्रों की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का माधुर्य है। साहित्य के नवीन युग के आदि प्रवर्त्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नये नये या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन-नवीन के इस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।"

# प्रियप्रवास में पात्र और चरित्र-चित्रण

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "उपाध्याय जी का प्रियप्रवास हिन्दी का अनूठा और युग प्रवर्तक काव्य है। उसके संगीत और सहज उन्मेष की समता उस युग की कोई रचना नहीं करती।[1]" वस्तुतः पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हिन्दी के युग प्रवर्तक कवि हैं और उनका प्रियप्रवास खड़ी बोली का पहला महाकाव्य है। यद्यपि प्रियप्रवास चरित्र-प्रधान महाकाव्य ही है लेकिन उसमें पात्रों की संख्या अधिक नहीं है और यों तो इस ग्रंथ में अनेक गोप-गोपिकायें बाल, वृद्ध एवं वृद्धायें भी अंकित हैं परन्तु कृति में उनका कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। साथ ही उद्धव तथा नंद के चरित्र-चित्रण की ओर भी कवि का ध्यान नहीं गया है अतः इस प्रकार प्रियप्रवास में श्रीकृष्ण, राधा तथा यशोदा का ही विस्तार के साथ चरित्रांकन हुआ है लेकिन इन तीनों के चरित्र का विवेचन करने के पूर्व हमारा कवि के निजी दृष्टिकोण से भी परिचित होना आवश्यक है।

वस्तुतः हिन्दी का कृष्ण काव्य भागवत पुराण पर ही समाधारित कहा जाता है लेकिन यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वैदिक काल से लेकर आज तक वह निरंतर विकसित होता चला आ रहा है और भारतीय कविता में किसी न किसी रूप में कृष्ण का उल्लेख अवश्य हुआ है। ऋग्वेद के अष्टम मंडल के ८५, ८६ और ८७ तथा दशम मंडल के ४२, ४३ और ४४वें सूत्र में कृष्ण का ऋषि रूप में उल्लेख किया गया है[2] तथा कौशीतकी ब्राह्मण में जो कि शांखायन ब्राह्मण के नाम से भी प्रसिद्ध है आंगरिस ऋषि के शिष्य कृष्ण का उल्लेख है[3] उससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक वाङ्मय में भी कृष्ण का देवकी पुत्र होना स्वीकार किया गया है। स्मरण रहे महाभारत में तो कृष्ण का चरित्र अनेक रूपों में है और वे एक राजनीतिज्ञ तथा विद्वान

---

१ हिंदी साहित्य: बीसवीं शताब्दी—श्री नंददुलारे वाजपेयी (विज्ञप्ति, पृ० ७)

२ तद्वैतद् घोर आंगरिसः कृष्णाय देवकी पुत्राय उक्त वा उवाच। अपिपास एव स बभूद। सोऽन्तपेलाया-मेतत्त्रयं प्रतिपद्येत। अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि।

३ कृष्णो है तदांगिरसो ब्राह्मणांन्छन्सीयः तृतीयं सवनंददर्श।

के साथ साथ एक शूरवीर योद्धा भी माने गए हैं तथा इतना ही नहीं महा-भारत में ही उन्हें दैवी अवतार के रूप में भी मान लिया गया है क्योंकि सभा पर्व में भीष्म ने श्रीकृष्ण को अव्यक्त प्रकृति एवं सनातन कर्त्ता कहा है है और उन्हें समस्त भूतों से परे माना है।[१] श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानने की भावना महाभारत में अन्य एक दो स्थलों पर भी विद्यमान है[२] तथा श्रीमद्-भागवत में भी उनके ईश्वरीय रूप का निर्देश है।[३] वस्तुतः महाभारत के नारायणी उपाख्यान के सूक्ष्म अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत काल में भगवद्भक्त करने वाले भागवत कहलाते थे और विष्णु तथा श्रीकृष्ण को परमेश्वर स्वरूप मानकर उनकी उपासना करते थे। महाभारत के आदि पर्व के ३४१वें और ३४२वें अध्याय में नारायण के नामों की उत्पत्ति दी गई है और श्रीकृष्ण के पहले शिव तथा विष्णु के अभेद का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि "रुद्र नारायण स्वरूप ही हैं और अखिल विश्व की आत्मा मैं ही हूँ और सब प्राणियों का शरीर मेरा 'अयन' अर्थात् निवास स्थान है तथा इसीलिए मुझे नारायण कहते हैं। मैं समस्त विश्व को व्याप लेता हूँ और समस्त विश्व मुझी में स्थित है तथा इसीलिए मुझे वासुदेव कहा जाता है। मैंने सारा विश्व व्याप लिया है और इसीलिए मुझे विष्णु कहते हैं तथा पृथ्वी और स्वर्ग मैं ही हूँ तथा अंतरिक्ष भी मैं हूँ और इसी से मुझे दामोदर कहते हैं। चंद्र, सूर्य, अग्नि की किरणें मेरे केश हैं इसीलिये मुझे केशव कहते हैं और गो अर्थात् पृथ्वी को मैं ऊपर ले गया इसी से मुझे गोविन्द कहते हैं। यज्ञ का हाविर्भाग भी मैं हरण करता हूँ अतः मुझे हरि कहा जाता है और सत्वगुणी लोगों में गणना होने के कारण मुझे सात्वत कहा जाता है। लोहे का काला फाल होकर जमीन जोतने के कारण तथा स्वयं मेरा रंग ही काला होने से मुझे कृष्ण कहते हैं।" इस प्रकार महाभारत में कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया है और हापकिन्स का यह विचार कि महाभारत में श्रीकृष्ण केवल मनुष्य के रूप में ही आते हैं, बाद में देवत्व के पद पर प्रतिष्ठित हुए उचित नहीं जान पड़ता। हापकिन्स के इस कथन का खंडन तो कीथ के इस कथन से ही हो जाता है कि महाभारत में श्रीकृष्ण

---

१ एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्त्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्व भूतेभ्यः तस्मात्पूज्य तमोऽच्युतः॥

२ एतत्परमकं ब्रह्म एतत्परमकं यशः।
एतदक्षरमव्यक्तं एतत् वै शाश्वतं महः॥

३ मतः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय।
मंयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से देवत्व की भावना से युक्त है।[१] डॉ० रामकुमार वर्मा का भी यही मत है कि "महाभारत में कृष्ण जो विष्णु के अवतार माने गए हैं, भगवद्गीता में एकान्त ब्रह्म के पद पर अधिष्ठित होते हैं। विष्णु या कृष्ण का ब्रह्म से एकत्व प्राप्त करना इस बात की घोषणा करता है कि कृष्ण ब्रह्म के साकार रूप हैं।"[२] वस्तुतः ईसा से ४०० वर्ष पूर्व से ही कृष्ण पूर्णतः देवत्व युक्त माने जाने लगे थे तथा पाणिनि के व्याकरण में तो उनका उल्लेख है ही और साथ ही ईसा के ३०० वर्ष पूर्व मैगस्थनीज ने भी यह स्वीकार किया है कि कृष्ण की पूजा मथुरा और कृष्णपुर में होती थी। यदि मौर्यकाल में वासुदेव कृष्ण की पूजा प्रचलित थी तो कोई आश्चर्य न होगा कि यदि यह माना जाय कि इस पूजा का प्रारम्भ मौर्यवंश स्थापना के बहुत पहले ही हो गया होगा। परन्तु अभी तक इस दिशा में निश्चित प्रमाण नहीं मिले हैं कि उस समय कृष्ण की उपासना का क्या रूप था और यद्यपि महाभारत में कई ऐसे स्थल हैं जहाँ कि कृष्ण को स्पष्ट रूप से अवतार माना गया है लेकिन प्रेमाभक्ति के आलम्बन, गोप-गोपियों के सर्वस्व, राधावल्लभ नटनागर, गोपालकृष्ण का समावेश भारतीय वाङ्मय में कब से हुआ यह महाभारत से सिद्ध नहीं हो पाता। शिलालेखों में यद्यपि कृष्ण का नाम अवश्य देख पड़ता है परन्तु उसमें कृष्ण की इन विविध लीलाओं का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी यही कहना है कि "शिल्प और साहित्य दोनों की गवाही से यही पता चलता है कि आरम्भ में श्रीकृष्ण की वीर चर्चा ही प्रधान थी। कंस-वध और गोवर्धन-धारण उन दिनों काव्य नाटक और शिल्प के प्रधान प्रतिपाद्य थे।"[3] नारायणीय अवतार में यह अवश्य कहा गया है कि कंस वध के लिए वासुदेव ने अवतार ग्रहण किया था तथा महाभारत में 'सभापर्व' में शिशुपाल ने भीष्म द्वारा किए गए कृष्ण गुणगान की मिथ्या प्रशंसा करते हुए व्यंग्य में कृष्ण को पूतना का संहारक भी माना है लेकिन डॉ० भंडारकर इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं[४] परन्तु उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए कोई भी सबल तर्क नहीं प्रस्तुत किया। यह हम स्वीकार कर सकते हैं कि महाभारत में जो

---

1 Journal of the Royal Asiatic Society; 1915; Page 548

२ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृ० ५७१)

३ मध्यकालीन धर्मसाधना—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १२२)

4 Vaishnavism, Shavism and Minor Religious Systems—Dr. Bhandarker, Page 50

कृष्ण के लिए 'गोविन्द' नामक शब्द आया है उसका कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध 'गोपालकृष्ण' से नहीं है और वाराहावतार में गो अर्थात् पृथ्वी की रक्षा करने के कारण ही वे गोविन्द कहलाए।[१] डॉ० भंडारकर ने तो गोविन्द शब्द की उत्पत्ति गोविद् से मानी है और केशिविसूदन को भी इन्द्र का विशेषण मानते हुए यही लिखा है कि पहले ये दोनों विशेषण इन्द्र के लिए प्रयुक्त होते थे और बाद में कृष्ण के साथ जोड़ दिए गए।[२] परन्तु डॉ० नलिनीमोहन सान्याल का कहना है कि ऋग्वेद (१।२२।१८) में विष्णु गोपा नाम से अभिहित हुए हैं तथा ऋग्वेद (१।१५४।४) में बहुश्रृंग गायों का भी उल्लेख है। स्मरण रहे कि ऋग्वेद में ऐसे कई मंत्र दृष्टिगोचर होते हैं[३] जिनमें कि गो, वृष्णि, राधा, व्रज, गोप, रोहिणी और अर्जुन आदि नाम आए हैं लेकिन इनके विषय में डॉ० हरवंशलाल शर्मा का यह मत है कि "इन मंत्रों में जो नाम आए हैं उनका यद्यपि गोपालकृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक कृष्ण का संबंध महाभारत के कृष्ण से जोड़ दिया गया, उसी प्रकार इन सभी नामों का उपयोग पौराणिक युग में कृष्ण से सम्बद्ध कर दिया हो।"[४] इस प्रकार यद्यपि वैदिक काल में ही कृष्ण का नामोल्लेख किया गया है और महाभारत में वे दैवी अवतार भी माने गए लेकिन पूतनावध, शकट भंजन, तृणावर्त, यमलार्जुन, माखन चोरी आदि कथाओं का भी सम्बन्ध पौराणिक काल में ही उनके जीवन के साथ जोड़ा गया। कहा जाता है कि सर्वप्रथम हरिवंश पुराण में कृष्ण चरित्र को गोपियों के

---

१ महाभारत (आदि पर्व) २१-२२ तथा महाभारत (शांति पर्व) ३४२-७०

2 Vaishnavism, Shavism and Minor Religious Systems—Dr. Bhandarker, Page 51.

३ कुछ उदाहरण देखिए—

(क) ता वां वास्तून्युष्मसि गमध्यै। यत्र गावो भूरि श्रृंगा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदभवभाति भूरि॥
—ऋग्वेद १।१५४।६

(ख) गवामप व्रजं वृधि
—ऋग्वेद १।१०।७

(ग) तमेतदाधार यः कृष्णानु रोहिणीषु।
—ऋग्वेद ८।९३।१३

(घ) कृष्णरूपाणि अर्जुना विव्रो मदे।
—ऋग्वेद १०।२१।३

४ सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरबंशलाल शर्मा (पृ० १९१)

साथ सम्बद्ध किया गया है और उस पुराण के अंतर्गत 'विष्णु पर्व' के १२८ अध्यायों में तो कृष्ण जीवन की सम्पूर्ण गाथा ही दी गई है। वस्तुतः हरिवंश पुराण में पूतना वध, शकट भंग, यमलार्जुन पतन, माखन चोरी, कालियदमन धेनुक वध, प्रलम्ब वध, गोवर्द्धन धारण आदि सभी लीलाओं के साथ-साथ रासलीला का भी वर्णन किया गया है परन्तु कृष्ण को विष्णु के अवतार रूप में चित्रित करते हुए भी हरिवंशकार की दृष्टि विशेषतया लौकिक पक्ष की ओर ही रही है जब कि ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में कृष्ण को परब्रह्म स्वरूप कहकर आध्यात्मिक भावना भी व्यक्त की गई है। इन पुराणों के साथ-साथ पद्मपुराण, वायुपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण तथा गरुणपुराण में भी संक्षेप में कृष्ण-कथा दी गई है लेकिन ब्रह्म वैवर्त पुराण और श्रीमद् भागवत में कृष्ण-कथा अधिक विस्तार के साथ अंकित है। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ग्रियर्सन, कैनेडी और वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि लीलाओं से सम्बन्धित 'कृष्ण' 'क्राइस्ट' का रूपान्तर है और ग्रियर्सन का तो यहाँ तक कहना है कि वैष्णवों की दास्य-भक्ति, प्रसाद और पूतना-स्तन-पान आदि ईसाइयत की ही देन है लेकिन उनके विचारों का खंडन तो पाश्चात्य विद्वान डॉ० ए० बी० कीथ ने ही किया है और 'बाइबिल इन इंडिया' का फ्रांसीसी लेखक जैकालियट भी यही कहता है कि भारत के कृष्ण की गाथा ही यूरोप में क्राइस्ट के नाम से प्रचलित हो गई है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईसा के कई सौ वर्ष पूर्व ही कृष्ण का अस्तित्व उपनिषद तथा ब्राह्मण काल में दीख पड़ता है। साथ ही डॉ० भंडारकर तथा अन्य कुछ विद्वानों ने गोपी शब्द का सम्बन्ध उस आभीर जाति से माना है जो कि सीरिया से चलकर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ईसवी सन् के पूर्व आकर बस गई थी लेकिन यह कथन भी युक्ति-संगत नहीं है और जैसा कि डॉ० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है कि 'यदि कृष्ण की कथा, गोपियों की लीला, बाहर से इस देश में आई होती तो ईसवी सन् के पूर्व लिखे हुए भारतीय ग्रंथों में वह काव्य का विषय नहीं बन सकती थी। काव्य का विषय बनने के लिए कथा का जन-साधारण में कई शताब्दी पूर्व से प्रचलित होना आवश्यक है।"[1] स्मरण रहे कि ईसा से पूर्व ही गाथा सप्तशती में राधाकृष्ण लीला अंकित की जा चुकी है और महाकवि भास रचित बाल चरित नाटक में भी कृष्ण की बाललीलाओं के संकेत मिलते हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि मैकनीकल ने कृष्ण की ईश्वरीय सृष्टि सर्वप्रथम 'वनदेव' (Vegetation deity) की भावना में मानी है[2] और यह तो सर्वविदित ही है

१ भारतीय साधना और सूर-साहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा (पृ० १६५)
2 Journal of the Royal Asiatic Society 1913, Page 145.

कि आर्यों ने भी प्रकृति के अनेक रूपों को देवताओं के रूप में मानकर इन्द्र, वरुण, अग्नि, मरुत आदि देवों की कल्पना की है अतः यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यही विदित होगा कि कृष्ण के देवत्व का निर्माण भी इसी प्रकार हुआ है।[1] स्मरण रहे कि कालांतर में जब भक्ति-सम्बन्धी विविध सम्प्रदाय विकसित हुए और जिस प्रकार रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर रामानंद ने राम-भक्ति का प्रचार किया उसी प्रकार निम्बार्क, मध्वाचार्य और विष्णु स्वामी के आदर्शों को ग्रहण कर चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य ने भी श्रीकृष्ण भक्ति का प्रचार किया। वस्तुतः हिंदी साहित्य में कृष्ण काव्य की परम्परा को पल्लवित करने का श्रेय वल्लभाचार्य को ही दिया जाता है क्योंकि सर्वप्रथम उन्हीं के पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होनेवाले वैष्णव कवियों में श्रीकृष्ण ने भक्ति से संबंधित उत्कृष्ट पद रचे हैं तथा के अष्टछाप कवि भी इसी सम्प्रदाय में दीक्षित थे।[2]

वस्तुतः कृष्ण-काव्य की परम्परा पर विचार करते समय राधा के इतिहास पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है क्योंकि कृष्ण सम्बन्धी जो हिंदी काव्य ग्रंथ रचे गए हैं उनमें राधा का उल्लेख अवश्य हुआ है परन्तु न केवल महाभारत, हरिवंशपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण आदि में अपितु श्रीमद्भागवत में भी राधा का तनिक भी उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि हाल की 'गाथा सप्तशती' तथा पंचतंत्र में राधा का उल्लेख अवश्य है और ऋग्वेद के उपनिषद् भाग में भी एक 'राधिकोपनिषद्' की कल्पना की गई है लेकिन इनसे किसी भी प्रकार की अभीष्ट सिद्धि नहीं होती और ऋग्वेद (१।३०।२९) के एक सूत्र जो 'स्तोत्रं राधानां पते' में जो राधा शब्द का उल्लेख है उसमें राधा से अभिप्राय धन और अन्न आदि से है। यों तो श्रीमद्भागवत में एक ऐसी गोपी का उल्लेख अवश्य है जो कि श्रीकृष्ण को सर्वाधिक प्यारी थी और रासलीला के समय भगवान श्रीकृष्ण अन्य गोपियों का गर्व भंग करने के लिए उसी के साथ अंतर्धान हो गए थे तथा जब गोपियों ने भगवान श्रीकृष्ण को ढूँढते समय उनके चरण चिन्हों के साथ किसी व्रजयुवती के भी चरण चिन्ह देखे तो यही कहा कि अवश्य ही सर्वशक्तिमान भगवान श्रीकृष्ण की इसमे आराधना की है इसीलिए वे हमें तजकर इसे एकान्त में ले गए हैं।[3] श्रीमद्भागवत के इस

१ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृ० ५९५-५७६)

२ भक्ति काव्य के मूल स्रोत—दुर्गाशंकर मिश्र

३ अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।

अवतरण से यह अवश्य ज्ञात होता है कि कृष्ण की आराधना करनेवाली यह गोपी उन्हें बहुत प्यारी थी लेकिन भागवतकार ने उसका नाम नहीं दिया है। यों तो अथर्ववेद के गोपालतायनी उपनिषद में भी कृष्ण को अत्यधिक प्रिय लगनेवाली एक प्रधान गोपी की कथा दी गई है परन्तु उसमें उसका नाम गांधर्वी दिया गया है। विचारकों का कहना है कि वस्तुतः 'आराधित' शब्द से ही राधा शब्द की उद्‌भावना हुई है तथा इस प्रकार भागवत के उस श्लोक की गोपी और कोई नहीं राधा ही है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बृहद् ब्रह्म संहिता, द्वितीय पाद, चतुर्थ अध्याय, श्लोक १७४ में भी राधा शब्द की यही व्युत्पत्ति दी गई है[1] अतः कृष्ण की जो आराधिका हो उसे राधा कहना स्वाभाविक ही है। भागवत के पश्चात् पद्‌मपुराण में भी इस गोपी की चर्चा है और ब्रह्मवैवर्त पुराण के उत्तरखंड में तो राधा स्पष्टतया शृंगार रसमयी होकर प्रकट हुई है तथा कालांतर में वैष्णव आचार्यों ने जिस माया अथवा शक्ति को भगवान की ह्लादिनी शक्ति कहा है वह शक्ति ही मानी जाती है क्योंकि जीवगोस्वामी ने तो उज्जवल नीलमणि की टीका में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से राधा को कृष्ण की स्वरूपाह्लायिनी शक्ति कहा है। स्मरण रहे कि निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्य देव तो वे ही व्रजकृष्ण माने गए हैं जो कि अपनी प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा आह्लादिनी गोपी स्वरूप शक्तियों से परिवेष्टित रहते हैं[2] और यह तो सर्वविदित है कि गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव इसी सम्प्रदाय के अनुगामी थे। डा० जे० एन० फर्कुहर का तो यही कहना है कि राधा की उपासना भागवतपुराण के आधार पर ही वृन्दावन में ईसा सन् ११०० के लगभग प्रारम्भ हो गई होगी और वहीं से वह बंगाल तथा अन्य स्थानों में पहुँची होगी।[3] साथ ही जिस प्रकार चैतन्य और

---

१ त्वया चाऽऽराधितो यस्मा दह्वं कुंज-महोत्सवे।
राधेति नाम विख्याता रसलीला विधायिका॥

२ वृषभानुजाविशिष्टं कृष्णस्यस्वरूपं सदोपासनीयं वितरां एकान्त भावेन श्रवणादिभिरनुकूलनीय मित्यर्थः। [ निम्बादित्य दशश्लोकीः श्री हरिण्यासदेः पृ० ३२ ]

3 We may conjecture that the myth of Radha grew up quite spontaneously at Brindaban on the basis of the narrative of the Bhagwat P., and that her worship was organised there, perhaps about A. D. 1100, and thence spread to Bengal and elselwhere.

—An outline of the Religious Literature of India.
—Page 238

वल्लभाचार्य को कृष्णभक्ति के विकास का श्रेय दिया जाता है उसी प्रकार राधा की उपासना को महत्व दिलाने का श्रेय भी इन्हीं दो आचार्यों को देना चाहिए परन्तु डॉ० दीनदयाल गुप्त का कहना है कि "श्रीवल्लभाचार्य जी ने गोपियों के प्रकार बताते हुए राधा नाम की स्वामिनी-स्वरूपा गोपी का उल्लेख नहीं किया उन्होंने अन्य किसी ग्रंथ में भी राधा का उल्लेख नहीं किया है। भागवत के अनुसार रास प्रकरण में कृष्ण की विशेष प्रिया रूप मे एक गोपी का उल्लेख अवश्य है, राधा नाम का समावेश श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने सम्प्रदाय में किया था और अष्टछाप कवियों ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के ही मत को इस संबंध में ग्रहण किया।"[1] चूँकि अष्टछाप के कवि वल्लभ सम्प्रदाय में ही दीक्षित थे और उन्होंने वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गी भक्ति को भी अपनाया था तथा इन कवियों की कृतियों से ही हमारा परवर्ती कृष्ण-काव्य प्रभावित हुआ है अतः स्वाभाविक ही राधाकृष्ण की भक्ति को विकसित करने का श्रेय वल्लभाचार्य को ही दिया जाता है। सूर और नन्ददास आदि कवियों की कृतियों में भक्ति-भावना के साथ-साथ शनैः शनैः शृंगार की अधिकता भी बढ़ती गई। आगे चलकर इसी कृष्ण-काव्य की शृंगारप्रियता ने रीतिशास्त्र का बीजारोपण किया तथा कई भक्त कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने कृष्ण की भक्ति करते हुए भी शृंगार रसान्तर्गत उद्दीपन विभाव मे ऋतु-वर्ण और नखशिख वर्णन किया है जिनमें कि कलात्मकता ही प्रधान रूप से है तथा भक्ति का लेश मात्र भी नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भक्तिकाल की राधाकृष्ण संबंधी परम्परा रीतिकाल में भी विद्यमान रही लेकिन भक्तिकाल के आदर्शों की रक्षा रीति कालीन कवियों द्वारा किसी भी भांति न की जा सकी और उन्होंने तो कृष्ण को नायक तथा राधा को नायिका मानकर शृंगार रसपूर्ण चित्र अंकित कर उनके दिव्य स्वरूप को विकृत-सा कर दिया। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "रीतिकालीन शृंगार-भावना प्रेम न होकर विलास रह गई। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। उनके शृंगार चित्रों में प्रेम की एकाग्रता न होने से तीव्रता और गंभीरता प्रायः कम मिलती है, विलास का तारतम्य और वैभव ही अधिक मिलता है।"[2] यहाँ यह भी ध्यान में रहना चाहिए कि कृष्णकाव्य की परम्परा आधुनिक काल में भी अक्षुण्ण बनी रही और इस बीसवीं शताब्दी में भी अनेक हिन्दी कवियों ने कृष्ण विषयक कई सुन्दर कृतियाँ प्रस्तुत की हैं तथा हमें यह देखकर अत्यन्त प्रसन्नता

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयाल गुप्त (पृ० ५०८-५०९)

२ विचार और विवेचन—डॉ० नगेन्द्र (पृ० ४८)

होती है कि जहाँ कि रीतिकालीन कवियों द्वारा भक्ति-भावना को कलुष शृंगार में डुबोकर उसे काव्य विषय बनाया गया था वहाँ इन आधुनिक काल के कवियों ने उसे कलुषता के कर्दम से उठाकर उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर सराहनीय कार्य किया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण-काव्य की परम्परा किस प्रकार विकसित होती गई और प्रियप्रवास का निर्माण करने के पूर्व हरिऔध के पूर्ववर्ती तथा पृष्ठाधारभूत कृष्ण-काव्य रचयिता कवियों की कृष्ण-भावना किस प्रकार की थी। चूँकि कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाले भक्ति-कालीन कवियों के उत्तराधिकारियों के पास न तो विषय वासना से निर्लिप्त बनानेवाली साधना ही थी और न वह अंतर्दृष्टि ही थी जिसका आधार लेकर वे राधाकृष्ण के विराट् रूप की धारणा कर सकते; अतः स्वाभाविक ही उन्होंने कृष्ण और राधा की साधारण नायक और साधारण नायिका के रूप में कल्पना कर कलुषित प्रेम की शत सहस्त्र उद्भावनाएँ ही कीं लेकिन हरिऔध की कृष्ण-भावना इस पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा सर्वथा नवीन थी। स्मरण रहे कि प्रियप्रवास की रचना के पूर्व वे श्रीकृष्णशतक, प्रेमाम्बुवारिधि, प्रेमाम्बुप्रस्त्रवर्ण और प्रेमाम्बुप्रवाह नामक काव्यग्रंथ तथा रुक्मिणी-परिणय और 'प्रद्युम्न विजय' नामक दो नाटक तथा 'रसकलश' के बहुत से छंद भी लिख चुके थे जिनमें कि उनकी कृष्ण-भावना की प्रारम्भिक झलक दीख पड़ती है। इन कृतियों का अवलोकन करने से यही जान पड़ता है कि 'प्रियप्रवास' के सृजन-पूर्व हरिऔध ने कभी तो सच्चिदानन्द परम ब्रह्म रूप में कृष्ण का चित्रण किया है और कभी उन्हें ईश्वर के अवतार या प्रतापी मनुष्य के रूप में अंकित किया है लेकिन 'प्रियप्रवास' की कृष्ण-भावना में तो उनकी सर्वथा नवीन क्रांतिकारी मनोवृति ही झलक उठती है और जैसा कि उन्होंने स्वयं ही लिखा है "मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को इस ग्रंथ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है; ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ में श्रीमद्भागवद्गीता का यह श्लोक मानता हूँ 'यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छत्वं ममतेजोंशसंभवम।'"[1] यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि राम और कृष्ण अवतार रूप में ही भक्ति के आलम्बन हो सके थे अतः भक्तिकालीन कवियों की परिपाटी को अपनाते हुए उन्नीसवी शताब्दी में भी राम और कृष्ण अवतार रूप में ही माने जाते रहे तथा भारतेंदु की कविता में भी उनका यही स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, लेकिन बीसवीं शताब्दी में ब्रह्मसमाज और आर्य समाज के धार्मिक तथा सांस्कृतिक आंदोलनों एवम् वैज्ञानिक शिक्षा के कारण अव-

१ प्रियप्रवास—भूमिका (पृ० ३०)

तारवाद का ग्रहण उस रूप में न हो सका जिस रूप में वह मध्ययुगीन भक्ति काव्य में प्रतिष्ठित था। यद्यपि धर्ममूलक संस्कृति विदेशी सत्ता के उत्पीड़न से संकटापन्न हो उस समय असुरों और दुष्टों के संहारक तथा साधु-संतों और धर्म के परित्राता तथा संस्थापक ईश्वर की अवताररूप में कल्पना सहज ही ग्राह्य हो गई लेकिन बीसवीं शताब्दी में यह भावना बलवती न हो सकी। वस्तुतः योरोपीय संस्कृति से जब भारतीय संस्कृति का सम्पर्क स्थापित हुआ तब प्रत्येक क्षेत्र में बैज्ञानिक अथवा तार्किक दृष्टि से विचार किया जाने लगा और इस प्रकार बुद्धिवाद का निरंतर विकास होने के कारण धर्म, दर्शन, समाज एवं कला की प्राचीन मान्यताओं के संबंध में हम नवीन दृष्टिकोण अपनाने लगे तथा जैसा कि डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा ने लिखा है "इस बुद्धि-वादी लहर का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा। इसने सर्वप्रथम रूढ़िवादी धार्मिक प्रतिष्ठाओं और मान्यताओं पर प्रहार किया और एक बार उन्हें जड़ से हिला दिया। शीघ्र ही इसका प्रभाव द्विवेदीयुगीन धार्मिक काव्य पर पड़ा और उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित हुये। हिन्दी में राम और कृष्ण का जीवन चरित्र सदा से कवियों का प्रिय विषय रहा है। द्विवेदी युग में भी राम और कृष्ण पर काव्य-रचना की गयी किन्तु उसका निरूपण सर्वथा नवीन और अरूढ़िगत था। कवि की पुरानी आस्थायें मिट रही थीं और वह नये मूल्यों और विश्वासों की खोज में लगा था। कभी वह घूम फिर कर अपनी पुरानी आस्था में विश्राम खोजने का प्रयत्न करता था, तो कभी प्राचीन मर्यादाओं, परम्पराओं और आदर्शों से विद्रोह कर अपनी नवीन संदेहात्मक प्रवृत्ति की पुष्टि करता था।"[१] इस प्रकार स्वाभाविक ही हिन्दी कविता में अवतारवाद विषयक दो धारायें स्पष्ट रूप से दीख पड़ने लगीं और जहाँ कि प्रथम विचार-धारा में राम और कृष्ण की जाति अथवा मानवता के सर्वोच्च प्रतीक के रूप में ही कल्पना की गई वहाँ साथ ही उनके ईश्वरत्व में पूर्ण विश्वास प्रतिपादित करनेवाली कृतियों का भी सर्वथा अभाव नहीं रहा। कृष्ण-काव्य की परम्परा के दो महत्वपूर्ण ग्रंथ--प्रियप्रवास और कृष्णायन--हमारे इस कथन के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं क्योंकि प्रियप्रवास में कवि ने अवतारवाद पर विश्वास नहीं किया जब कि कृष्णायन का कवि ईश्वरत्व पर पूर्ण आस्था रखता है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि द्विवेदीयुगीन कवियों की काव्य रचनाओं के पूर्व ही बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपनी 'कृष्ण चरित्र' नामक पुस्तक में यह भली-भाँति सिद्ध कर दिया है कि किस प्रकार कृष्ण के स्वाभाविक और मानुषिक कार्य अतिमानुषिक कार्यों के रूप

---

१ हिंदी काव्य पर आँग्ल प्रभाव—डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा (पृ० १०१)

में परिवर्तित किए गए तथा बंगला के प्रसिद्ध कवि माईकेल मधुसूदन ने तो 'मेघनाथवध' नामक काव्य में राम का ईश्वर स्वरूप न चित्रित कर उन्हें एक मनुष्य की भाँति काम करते हुए दिखाया है। डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा का विचार है कि अवतारवाद का विरोध करने की प्रेरणा हिंदी कवियों को माईकेल मधुसूदन से प्राप्त हुई तथा वे इस नवीन प्रवृत्ति को पश्चिम के उस वैज्ञानिक अथवा तार्किक दृष्टिकोण का परिणाम मानते हैं जिसकी कि उपलब्धि भारत में अँग्रेजी शिक्षा के प्रचार से हुई है।[1] स्मरण रहे कि स्वयं कवि ने अवतारवाद विषयक अपने विचार श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' को एक पत्र में इस प्रकार लिख भेजे थे: देखिए--"काल पाकर मेरी दृष्टि व्यापक हुई, मैं स्वयं सोचने विचारने और शास्त्र के सिद्धान्तों को मनन करने लगा। उसी के फलस्वरूप मेरे पाश्चाद्वर्त्ती और आधुनिक काव्य हैं। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र में अब भी मुझको श्रद्धा है, किन्तु वह श्रद्धा अब संकीर्णता, एकदेशिता और अकर्मण्यता-दोष-दूषिता नहीं है। ईश्वर एकदेशीय नहीं है, वह सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न है, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्तमान है, प्राणि-मात्र में उसका विकास है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह ना नास्ति किंचन—जिस प्राणी में उसका जितना विकास है, वह उतना ही गौरवगरिष्ट है, उतना ही महिमामय है, उसमें उतनी ही अधिक उसकी सत्ता विराजमान है। मानव-प्राणी-समूह का शिरोमणि है, उसमें ईश्वरीय सत्ता समस्त प्राणियों से समधिक है। इसलिए वह प्राणीश्रेष्ठ है, 'अशरफुल मखलूकात है।' अतएव मानवता का चरित्र-विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है--यही अवतारवाद है। भगवद्गीता का कथन है--

> यद् यद् विभूति मत् सत्वं श्री मदूर्जित मेव वा।
> तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंश संभवः॥

यह बड़ा व्यापक और उदात्त सिद्धान्त है। संसार का प्रत्येक महापुरुष इस सूत्र से मान्य, वन्द्य और आदरणीय है। मानवता त्याग कर ईश्वर की चरितार्थता नहीं होती, अतएव मानवता का निदर्शन ही आत्मोन्नति का प्रबल साधन है। अवतारों का सम्बल मानवता का आदर्श ही था, क्योंकि बिना इस मंत्र का साधन किये कोई 'सर्वभूत हिते रतः' नहीं हो सकता। अतएव उसको उसी रूप में देखने की आवश्यकता है, जो उसका मुख्य रूप है और यही कारण है कि आजकल का मेरा परिवर्तित मत यही है।"[2] इस कथन से

---

१ हिंदी काव्य पर आँग्ल प्रभाव--डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा (पृ० १०१-१०४)

२ महाकवि हरिऔध--श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (पृ० १७३-१७४)

यही प्रतीत होता है कि वे अवतारवाद के सिद्धान्त की बौद्धिक व्याख्या ही प्रस्तुत करना चाहते हैं और उनके मतानुसार राम तथा कृष्ण ऐतिहासिक महापुरुष हैं जिनका कि संसार में संकटकाल उपस्थित होने पर प्रादुर्भाव हुआ था। वस्तुतः उनकी दृष्टि में अवतारवाद का अर्थ ईश्वर का पृथ्वी पर अवतरित होना नहीं है अपितु वह व्यक्ति जो अपने में आदर्श चरित्र का पूर्ण विकास करता है, वास्तव में अवतार है। डॉ० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी के शब्दों में "हरिऔध के परिवर्तित मत के अनुसार अवतार ईश्वर के मनुष्य तक उतरने की मध्यम कड़ी (Middle link) नहीं है बल्कि मनुष्य के ईश्वर तक पहुंचने की। अर्थात् मनुष्य होते हुए जो आदर्श चरित्र का चरमरूप दिखला सके वही 'अवतार' है, वही ईश्वरत्व के पथ पर अग्रसर है।"[१] इस प्रकार डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में "प्रियप्रवास में राधा कृष्ण परम्परा से प्राप्त प्रेमिका और प्रेमी के रूप में नहीं चित्रित किए गये। कृष्ण केवल राधा के प्रेमी न बनकर देश के महान नेता के रूप में उपस्थित किए गए। इनके दैवी कार्यों का बौद्धिक समाधान किया गया।"[२] यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि आचार्य शुक्ल ने साकेत की आलोचना करते समय एक ऐसी पुरातनपंथी बात कही है जिसे कि न जाने क्यों उन्होंने प्रियप्रवास के विषय में नहीं लिखा। वस्तुतः शुक्ल जी का यह विचार कि "पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के परम्परा से प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग पर विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन समझते हैं"[३] आधुनिक युग में सर्वमान्य नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी सच्चा लेखक या कलाकार सर्वथा परम्परा से ही बँधकर नहीं चल सकता और केवल अनुकृति-मात्र ही रचना उसका उद्देश्य भी नहीं होता। अतएव हम यही कहेंगे कि कवि की चरित्र-चित्रण विषयक इस नवीनता को लक्ष्यकर डॉ० केसरीनारायण शुक्ल ने उचित ही लिखा है 'प्राचीन परम्परा और विशेषताओं की बौद्धिक व्याख्या में ही इस ग्रंथ का सांस्कृतिक महत्व है और इसकी नूतनता नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा में है।"[४] अब हम यहाँ कवि की उपर्युक्त विचारधारा को ध्यान में रखते हुए प्रियप्रवास के तीन प्रधान पात्रों—कृष्ण, राधा और यशोदा—के चरित्र चित्रण पर प्रकाश डालेंगे।

---

१ महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी (पृ० ७१)
२ आधुनिक काव्यधारा—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल (पृ० १०७)
३ हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० ६१५)
४ आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल (पृ० १४४)

वस्तुतः प्रियप्रवास के नायक श्रीकृष्ण ही हैं और समस्त कथावस्तु उन्हीं पर आधारित-सी प्रतीत होती है परन्तु जैसा कि अभी-अभी हम कह चुके हैं कि कवि ने श्रीकृष्ण को ईश्वर न मान कर एक आदर्श पुरुष के रूप में अंकित किया है और इस प्रकार प्रियप्रवास के कृष्ण न तो परब्रह्म हैं और न परकीया के उपपति अपितु एक अनुकरणीय आदर्श मानव हैं।[1] स्मरण रहे कि अपने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा हरिऔध ने अपनी कृति में कृष्ण के चरित्र-चित्रण में कई नवीनताएँ अंकित की हैं और जहाँ कि पूर्ववर्ती कवियों ने कृष्ण के केवल सौंदर्य-चित्रण को ही अपनी लेखनी का विषय बनाया है वहाँ हरिऔध ने अपने चरित-नायक को अन्य दो गुणों शील और शक्ति—की भी साकार प्रतिमा कहा है। कृष्ण की मनोहारिणी आकृति का वर्णन करते हुए कवि ने उनके गुणों का भी उल्लेख किया है[2] और इस प्रकार प्रियप्रवास

---

१ थोड़ी अभी यदपि है उनकी अवस्था,
तो भी नितान्त रत वे इस कर्म में है।
ऐसा विलोक बर बोध स्वभाव से ही,
होता सुप्रसिद्ध यह है वह हैं महात्मा ॥

और भी—

अपूर्व आदर्श दिखा नरत्व का,
प्रदान की है पशु को मनुष्यता।
सिखा उन्होंने चित्त की समुच्चता,
बना दिया सभ्य समग्र गोप को ॥

२ बातें बड़ी सरस थे कहते बिहारी,
छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे।
अत्यंत प्यार दिखला मिलते सबों से,
वे थे बड़े सहायक बड़े दुख के दिनों में ॥
वे थे विनम्र बन के मिलते बड़ों से,
थे बातचीत करते बहु शिष्टता से।
बातें विरोधकर थीं उनको न प्यारी,
वे थे न भूलकर भी अप्रसन्न होते ॥

\+ \+ \+

जो देखते कलह शुष्क-विवाद होता,
तो शांत श्याम उसको करते सदा थे।
कोई बली निबल को यदि था सताता,
तो वे तिरस्कृत किया करते उसे थे ॥

\+ \+ \+

के कृष्ण न केवल अत्यधिक रूपवान प्रतीत होते हैं अपितु वे सुशील[1] और शक्तिशाली[2] भी हैं। वस्तुतः उनके इन्हीं तीन गुणों पर समस्त ब्रजवासी आकृष्ट हैं और कृष्ण भी लोक-सेवा तथा परोपकार में ही अपना जीवन व्यतीत करना उचित समझते हैं तथा उनके जिन कार्यों का इस काव्य-ग्रंथ में उल्लेख हुआ है उनसे भी यही स्पष्ट होता है कि वे सर्वथा लोक-सेवा और परोपकार की भावना से ही प्रेरित तथा देश एवं समाज के हित के लिए प्रत्येक पल त्याग एवम् कष्ट सहन के लिए तत्पर रहते हैं। अपनी इसी भावना के कारण महावृष्टि के कारण जब व्रज पर आसन्न संकट का अवसर आया तब कृष्ण ने एक स्वयंसेवक की भाँति ही सारा काम किया[3] और यमुना से भुजंग

---

रोगी दुखी विपद-आपाद में पड़ों की,
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे।
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझको दिखाया,
कोई जहाँ दुखित हों पर वे न होवें।।

१ मधुरता - मय था मृदु - बोलना,
अमृत - सिंचित सी मुसकान थी।
समद थी जन - मानस मोहती,
कमल - लोचन की कमनीयता।

२ सबल - जानु विलम्बित बाहु थी,
अति - सुपुष्ट - समुन्नत वक्ष था।
वय - किशोर - कला ललितांग था,
मुख प्रफुल्लित पद्म समान था।।

३ पहुँचते बहुधा उस भाग में,
बहु अकिंचन थे रहते जहाँ।
कर सभी सुविधा सब भाँति की,
वह उन्हें रखते गिरिअंक में।।

परम वृद्ध असम्बल लोक को,
दु:खमयी - विधवा रुज-ग्रस्त को।
बन सहायक थे पहुँचा रहे,
गिरि सु गह्वर में कर यत्न वे।।

\+ + +

परम सिक्त हुआ बपु वस्त्र था,
गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र-समीर था,
पर विराम न था ब्रज-बंधु को।।

निकालने का दृढ़ संकल्प करते समय भी उनके मानस में परोपकार की भावना ही विशेष रूप से दीख पड़ती है। वस्तुतः उनके तन के रोम-रोम में देश-प्रेम समाया हुआ है इसीलिए अग्नि की भीषण ज्वालाओं में ग्वाल बालों को भस्म होते देखकर उन्होंने जातीय प्रेम के भावों को जाग्रत किया और लोकोपकारी तथा लोक-संग्रही रूप का परिचय दिया।[1] वे एक महान् आत्मा हैं तथा जग-हितैषणरत मानव हैं अतः उनकी सुसंस्कृत मनोवृत्ति और अपूर्व व्यक्तित्व का प्रभाव स्वाभाविक ही गोप-गोपियों पर पड़ा है तथा उनके गुणों के कारण ही उन्हें न केवल मानव ही प्यार करते हैं अपितु पशु-पक्षी भी। जब वे गाय चराकर घर की ओर लौटते हैं तब उन्हें दिन भर से न देख पाने के कारण उनके दर्शनों की लालसा से सभी एकत्र हो जाते हैं तथा यह तो व्रजवासियों का नित्य कर्म सा जान पड़ता है। वस्तुतः कृष्ण बिना किसी भेद-भाव के गोप-गोपियों के साथ रहते थे और उनकी क्रीड़ाओं में भी हमेशा हाथ बँटाते थे तथा जब तक उनके मध्य रहे हमेशा ही उनका उपकार करते रहे और जिस समय कंस के यहाँ से मथुरा आने का उन्हें निमंत्रण आता है उस समय वे धैर्य नहीं खोते अपितु उनकी शीलता की एक मधुर झाँकी ही दीख पड़ती है। वे यशोदा से आज्ञा लेना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और माता की आज्ञा पाकर ही मथुरा जाते हैं लेकिन परिस्थितियाँ ऐसी आ जाती हैं कि कंस का

---

पहुँचते वह थे शर-वेग से,
विपद-संकुल आकुल ओक में।
तुरत थे करते वह नाश भी,
प्रथित वीर समान विपत्ति का।।

१ विपत्ति से रक्षा सर्व भूत का,
सहाय होना अ-सहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का,
मनुष्य का सर्व प्रधान धर्म है।।

बिना न त्यागे ममता स्व-प्राण की,
बिना न जोखों ज्वलदग्नि में पड़े।
न हो सका विश्व-महान-कार्य है,
न सिद्ध होता भव-जन्म हेतु है।।

बढ़ो करो वीर स्वजाति का भला,
अपार दोनों विध लाभ है हमें।
किया स्व-कर्त्तव्य उबार जो लिया,
सु-कीर्ति पाई यदि भस्म हो गये।।

वध करने के पश्चात् भी वे गोकुल नहीं लौट पाते और उनके सामने प्रेम तथा कर्त्तव्य का संघर्ष उपस्थित हो जाता है। एक ओर तो उनका मन गोकुल-वासियों की ओर आकृष्ट है और दूसरी ओर कर्त्तव्य है परन्तु मथुरा के राजनैतिक मामलों में भाग लेना जो लोकहित की दृष्टि से उन्हें अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता है लेकिन ब्रज को भी वे विस्मरण नहीं कर पाते अतः अंततोगत्वा व्यक्तिगत सुखों की लालसा को लोकहित की वेदी पर बलिदान कर देना ही उन्हें उचित जान पड़ता है। व्यक्तिगत ऐश्वर्य का मोहक चित्र उन्हें विचलित नहीं कर पाता और कर्तव्य परायणता के कंटकाकीर्ण शून्य पथ को भी अपनाने के लिए वे सर्वदा तैयार रहते हैं क्योंकि उन के जीवन का प्रमुख उद्देश्य परोपकार करना ही है, परन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कर्तव्य-परायणता की धुन में वे अपने शैशव के सहचरों तथा राधा को विस्मरण नहीं कर देते और उन्हें उनकी याद भी सताया करती है[1] लेकिन इतना होते हुए भी वे सब प्रकार की मानवोचित दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करते हैं। यद्यपि ब्रज से मथुरा केवल तीन मील ही दूर था परन्तु समाज-कल्याण के लिए शत्रु को नष्ट करना और समाज को सुव्यवस्थित करना वे गोप-गोपिकाओं के मिलन की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर समझते हैं और इसीलिए ब्रज नहीं जा पाते; साथ ही वे प्रेमी अवश्य हैं लेकिन उनका प्रेम एकांगी नहीं है और उनकी बुद्धि विश्व-कल्याण की ओर है। वस्तुतः इस प्रसंग में कृष्ण के मानस और मस्तिष्क का, मनोविकारों और प्रज्ञा का, अनुराग और विराग का, प्रेम और कर्त्तव्य का संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व अत्यधिक स्वाभाविक तथा वास्तविक जान पड़ता है। इसमें कोई संदेश नहीं कि जिसने अपने प्राणों को निःस्वार्थ भूतहित और लोकसेवा में अर्पित कर दिया उसके लिए गोप-गोपिकाओं का रुदन बाधक नहीं हो सकता तथा इसी प्रकार के व्यक्ति मानव-जाति का उद्धार भी कर सकते हैं। कृष्ण ने राधा को जो संदेश भेजा था उसमें उनका यही

---

१ शोभा-संभ्रम - शालिनी - ब्रज-धरा प्रेमास्पदा-गोपिका,
माता-प्रीतिमयी प्रतीति-प्रतिमा, वात्सल्य धाता-पिता।
प्यारे गोप-कुमार, प्रेम-मणि के पयोधि से गोप वे,
भूले हैं न, सदैव याद उनेकी देती व्यथा है हमें।।

\+ + + +

जो राधा वृष - भानु - भूप - तनया स्वर्गीय दिव्यांगना,
शोभा है व्रज प्रान्त की अवनि की स्त्री जातिकी वंश की।
होगी हा! वह भूग्नभूत अति ही मेरे वियोगाब्धि में,
जो हो संभव जान पोत वन के तो त्राण देना उसे।।

दृष्टिकोण झलकता है[१] और इस प्रकार जैसा कि श्री शिवदान सिंह चौहान का कथन है "प्रियप्रवास में कृष्ण अपने शुद्ध मानव रूप में, विश्वकल्याण-कार्य में निरत एक जन नेता के रूप में अंकित किये गये हैं"[२] और इसमें कोई संदेह नहीं कि हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण को एक आत्मत्यागी, कर्मण्य, लोकोपकारी तथा लोकसेवा के समक्ष मुक्ति को भी हेय दृष्टि से देखनेवाले महापुरुष के रूप में अंकित कर कृष्ण-काव्य की परम्परा में उत्क्रांति सी प्रस्तुत की है।

स्मरण रहे कि श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में चित्रित करते समय कवि ने उनके सम्बन्ध में कहे जाने वाले अलौकिक कृत्यों का मानवीकरण भी किया है और डॉ० श्रीकृष्ण लाल के शब्दों में "प्रियप्रवास के कवि ने कृष्ण के प्रसिद्ध अतिमानुषिक कार्यों को एक देश और समाज-सेवक के एक स्वाभाविक और मानुषिक कार्यों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है"[३] तथा श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का कहना है कि "हरिऔध ने परब्रह्मता, मानवता और सामाजिक मर्यादा के भीतर प्रगट होने वाली सौन्दर्य-भावना का पूर्ण सामंजस्य उपस्थित करके इस बुद्धिवाद प्रधान शताब्दी की आत्मा को संतुष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है।"[४] इसमें कोई सन्देह नहीं कि कई ऐसे प्रसंग हैं कि जहाँ कि कवि कृष्ण के अलौकिक कृत्यों का बौद्धीकरण करने में पूर्ण सफल हुआ है। उदाहरणार्थ उसने तृणावर्त तथा बकासु दैत्यों को झंझावात तथा भयानक पशु के रूप में अंकित कर भीषण वर्षा को एक स्वाभाविक प्राकृतिक घटना के रूप में ही दिखाया है और इंद्र-क्रोध के प्रसंग का उल्लेख ही नहीं किया तथा गोवर्द्धन-धारण की कथा को भी परिवर्तित कर दिया है। कवि का कहना है कि कृष्ण स्वयं गोवर्द्धन धारण नहीं करते बल्कि वे एक आदर्श नेता के रूप में घोर वर्षा के समय जनसमुदाय को पर्वत की कंदराओं में ले जाकर उनकी रक्षा करते हैं और गोवर्द्धन पर्वत के नीचे रक्षा के हेतु इतना रिक्त स्थान पाकर जन समुदाय कहने लगा कि कृष्ण ने अंगुली पर गोवर्धन पर्वत

---

१ जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से,
आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगत हित औ लोकसेवा जिसे है,
प्यारी सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है।
\+ \+ \+ \+

२ हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—श्री शिवदानसिंह चौहान (पृ० ४१)

३ आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास —डा० श्रीकृष्णलाल (पृ० ४६)

४ महाकवि हरिऔध—श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

धारण कर व्रजवासियों की रक्षा की। जैसा कि श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने लिखा है "आज के बौद्धिक युग में तिल का ताड़ बनाया जाता है और बाल की खाल निकाली जाती है, हरिऔध ने कृष्ण की भक्ति परक अलौकिक लीलाओं को विश्वसनीय एवं ग्राह्य बनाने के लिए लोकहितकारी लौकिक रूप दे दिया है। उनकी गोपिकाएँ न केवल कृष्ण के मनोहारी रूप और चापल्य पर मुग्ध हैं वरन् उन्होंने उनकी सेवाओं, सदाचरणों ओर परोपकारी उदात्त भावनाओं से सबके हृदय जीत लिए हैं।"[1] स्म ण रहे कि प्रिय-प्रवासकार का यह भी कहना है कि रासलीला में अकेली गोपियों ने ही भाग नहीं लिया था बल्कि गोप भी थे और गोप-गोपियाँ परस्पर आमोद-प्रमोद करते, एक दूसरे पर पुष्प-वृष्टि बरसाते तथा वीणा-मृदंग बनाते हुए आनन्द में विभोर रहते थे। इस प्रकार जिस रासलीला के प्रसंग को लेकर कृष्ण चरित्र पर आक्षेप किए जाते थे उसी प्रसंग की बौद्धिक व्याख्या कर कवि ने सराहनीय कार्य किया है। परन्तु यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हरिऔध जी के प्रत्येक प्रसग में कृष्ण के अलौकिक कृत्यों या दैवी घटनाओं का बौद्धीकरण नहीं कर सके और इस प्रकार गज और बालक कृष्ण का युद्ध तथा अंत में कृष्ण की विजय और कालीदमन की कथा परंपरा के अनु-रूप ही होने के कारण बुद्धिवादियों को ग्राह्य नहीं होती। कदाचित इसी-लिए डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने हरिऔध द्वारा अंकित कष्ण के चरित्र-चित्रण में कतिपय त्रुटियों की ओर इंगित करते हुए कवि को अपनी उद्देश्य सिद्धि में आंशिक सफल ही माना है[2] लेकिन यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ब्रह्म-चारी जी ने जो आक्षेप किए हैं वे सभी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होते। स्म-रण रहे कि पुत्र कितना ही पराक्रमी और बलवान क्यों न हो लेकिन वह अपने माता-पिता की दृष्टि में सर्वदा ही शिशु जान पड़ता है और इस प्रकार यशोदा तथा नंद की उक्तियों में वात्सल्य रस ही है तथा बुद्धिवादिता का उनसे सम्बन्ध स्थापित करना व्यर्थ ही है। यशोदा ने जो यह कहा है कि मार्ग में मेरे बालकों को तनिक भी दुःख न हो अतः उन्हें मीठे फल खिला-कर और शोभामयी प्रकृति के सुखद दृश्य दिखलाकर उनका मन बहलाते रहना तथा नंद का भी व्रजवासियों को यह समझाना कि धूप अधिक हो रही है और कृष्ण को अधिक देर रोकने से उन्हें मार्ग में कष्ट होगा किसी भी भाँति अनुपयुक्त नहीं जान पड़ता और फिर बुद्धिवाद की कसौटी में

---

१ काव्यदर्शन—श्रीमती शचीरानी गुर्टू (पृ० १४)

२ महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास--डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी (पृ० ७३-८५)

माता पिता के स्नेहमय उद्गार की परीक्षा करना भी अनुचित ही है। साथ ही यह आरोप भी कि "वर्तमान बुद्धिवाद कभी भी ऐसी परिस्थिति में ऐसे आदर्श पराक्रमी नृरत्न के तीन कोस आने की असमर्थता को स्वीकार नहीं कर सकता" उचित नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि कृष्ण यदि चाहते तो दिन में दस बीस बार व्रज आ सकते थे लेकिन उन्हें इस बात की शंका थी कि यदि वे वहाँ गए तो कदाचित दुबारा मथुरा लौट भी न पाएँ। यह हम स्वीकार करते हैं कि कवि ने कृष्ण के प्रत्येक अलौकिक कार्य का बौद्धीकरण नहीं किया और इसीलिए प्रियप्रवास में कतिपय ऐसे प्रसंग भी रह गए हैं जहाँ कि घटनाओं का परंपरागत स्वरूप ही रहा है पर इस दिशा में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि कवि युग की बौद्धिक तथा तार्किक प्रकृति के अनुरूप ही कृष्ण को एक ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में चित्रित करना चाहता था लेकिन इस प्रकार के निरूपण के लिए उसका विषय उपयुक्त न होने के कारण ही उसकी लेखनी से इस प्रकार के प्रसंग अंकित हो गए हैं परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम हरिऔध के चरित्र-चित्रण की विशिष्टताओं को भी स्वीकार न करें और इस प्रकार डॉ० केसरी नारायण शुक्ल के शब्दों में "हरिऔध जी ने बौद्धिक व्याख्या के द्वारा प्राचीनता को वर्तमान के लिए ग्राह्य बनाकर उसकी प्रतिष्ठा ही की है।"[१]

जैसा कि श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने लिखा है "कृष्ण यदि प्रिय-प्रवास की रीढ़ की हड्डी हैं तो राधा अस्थिपंजर को भी जीवित प्राणी के रूप में प्रस्तुत करने वाली प्राणवायु है, जिसके अभाव में काव्य का सारा सौन्दर्य कपूर की तरह उड़ जाता है।"[२] वस्तुतः कृष्ण और राधा ही प्रिय-प्रवास के सूत्राधार अर्थात् नायक-नायिका हैं और जिस प्रकार हरिऔध जी ने कृष्ण के चरित्र-चित्रण में नूतन उद्भावनाएँ की हैं। उसी प्रकार नारीत्व की उच्च भावना के अनुरूप ही राधा का चरित्र भी अंकित किया है। प्रिय-प्रवास की राधा हिंदी साहित्य के लिए सर्वथा एक नूतन देन है क्योंकि वह जयदेव की विलासिनी प्रेम-विह्वला नारी, विद्यापति की यौवनोन्मत्त मुग्धा नायिका, चंडीदास की परकीया नायिका, सूरदास की मर्यादा संतुलित नागरी, नंददास की तार्किक और रीतिकाल की उच्छृंखल अल्हड़ किशोरी सी नहीं जान पड़ती। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि रीतिकालीन कवियों के सदृश्य नायिका भेद नामक विषय पर ग्रंथ रचना करते समय भी

१ आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल (पृ० १४८-१४९)

२ महाकवि हरिऔध—श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (पृ० १९६)

हरिऔध ने अपने पूर्ववर्ती श्रृंगारी कवियों का अनुसरण नहीं किया और 'रसकलश' में देशप्रेमिका, जातिप्रेमिका, जन्मभूमिप्रेमिका, निजतानुरागिनी, धर्मप्रेमिका, लोकसेविका नामक नायिका के सर्वथा नवीन भेदों का भी वर्णन किया है, तथा यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो प्रियप्रवास की राधा इन नूतन वर्गीकरण की लोकसेविका नायिका के अनुरूप ही है।[1]

वस्तुतः प्रियप्रवास के चतुर्थ सर्ग में हमें राधा का सर्वप्रथम दर्शन होता है और हम देखते हैं कि नायिका के सौन्दर्य-वर्णन की जो परंपरा चली आ रही थी कवि ने उसका अनुसरण न कर सर्वथा नवीन दृष्टि से अपने महाकाव्य में अपूर्व छविमयी राधा के रूप का चित्रण किया है तथा उसे एक सहृदय, मृदुभाषिणी, मृगदृगी, माधुर्य सन्मूर्ति के रूप में अंकित करते हुए[1] उसके अनेक गुणों का भी वर्णन कर[2] उस कामांगना मोहिनी में प्रारंभ ही से समाज-सेवा के भावों को सन्निहित माना है।[3] स्मरण रहे कि कवि ने राधा के शैशव का सविस्तार वर्णन नहीं किया और यह आवश्यक भी नहीं था लेकिन उसने यह अवश्य कहा है कि नंद और वृषभानु के मध्य अत्यधिक प्रेम था तथा चूँकि दोनों ही परिवार बहुत पहले से एक दूसरे से स्नेह सूत्रों में आबद्ध थे अतः स्वाभाविक ही शैशव में ही राधा और कृष्ण के मध्य स्नेह अंकुरित हो गया जो कि इन दोनों की आयु वृद्धि के साथ बढ़ता हुआ प्रेम में परिवर्तित हो गया।[4] इस प्रकार कवि ने राधा और कृष्ण

---

१ रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्द्र-बिम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली।
शोभावारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य-लीला-मयी।
श्री राधा- मृदुभाषिणी मृगदृगी-माधुर्य की मूर्ति थी।।

२ नाना-भाव-विभाव-हाव कुशला आमोद आपूरिता।
लीला-लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रूभंगिमा-पंडिता।
वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणाभूषिता।
राधा थी सुमुखी विशाल-नयना आनन्द-आंदोलिता।

३ सद्वस्त्रा-सदलंकृता गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता,
रोगीवृद्ध जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा।
सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम संपोषिका,
राधा थीं सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति-रत्नोपमा।

४ यह अलौकिक बालक-बालिका,
जब हुए कल क्रीड़न योग्य थे।
परम तन्मयता संग प्रेम से,
तब परस्पर थे वह खेलते।।

के मध्य प्रस्फुटित होने वाली प्रणय-भावना की सूचना अवश्य ही दी है लेकिन पूर्ववर्ती कवियों की भाँति उन दोनों की शृंगारमूलक प्रेम-लीलाओं और चेष्टाओं का अतिरंजित वर्णन नहीं किया है क्योंकि उसका उद्देश्य राधा के आदर्श चरित्र की प्रति-स्थापना करना था अतः हम देखते हैं कि प्रियप्रवास में राधा के जीवन के पूर्व पक्ष का आभास मात्र ही है। जैसा कि हम अभी अभी कह चुके हैं यौवन की सोपान पर पग रखते समय तक दोनों का स्नेह शनैः शनैः प्रणय के रूप में परिणत हो चुका था तथा राधा ने तो हृदय से कृष्ण को ही अपना पति मान लिया था और दोनों का केवल विधिवत विवाह ही शेष रह गया था कि इसी बीच कृष्ण के मथुरा चले जाने से राधा की आशाओं पर तुषारापात हो गया।[1] कृष्ण के मथुरा-प्रयाण की बात सुनकर राधा रात्रि भर अश्रु की लड़ियाँ पिरोती रहीं परन्तु कृष्ण के चले जाने पर वह विवेकहीन या क्रियाहीन नहीं होती और जब वे ब्रज नहीं लौटते तब भी वह विवेकनी ही जान पड़ती हैं और इसलिए वियोगावस्था में प्रियप्रवास की राधा पूर्ववर्ती कवियों द्वारा अंकित राधा के सदृश न तो रह रहकर मूच्छित ही होती हैं और न प्रलाप करती हैं और न मधुवन को ही कोसती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि कृष्ण के प्रेम की भिखारिणी राधा का हृदय अपने प्रिय के वियोग से दग्ध हो रहा है और वह उन्हीं के प्रेम में पागलिनी और वियोगिनी बनी हुई है तथा कभी कभी इतना अधिक दुखी एवं संज्ञामूढ़ हो जाती है कि कोयल से यह अनुरोध करती है कि तू जाकर अपनी करुण वाणी कृष्ण को सुना जिससे कि वे वियोग की कठोरता, व्यापकता एवं गंभीरता से अभिज्ञ हों परन्तु फिर स्वयं ही उसे मना कर देती हैं और कहती हैं "न जा, वहाँ है न पधारना भला, उलाहना है सुनना

---

युगल का वय साथ सनेह भी।
निपट नीरवता सह था बढ़ा।
फिर वही वर-बाल सनेह ही,
प्रणय में परिवर्तित था हुआ।

१ हृदय चरण में तो मैं बढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि-वरण की थी कामना और मेरी।।
पर सफल हमें सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाल में जो लिखा है।।

\+ \+ \+

मम पति हरि होवें चाहती मैं बड़ी हूँ।
पर विफल हमारे पुण्य भी हो चले हैं

जहाँ मना।" राधा का यह कथन निस्संदेह वेदना और कसक से परिपूर्ण है क्योंकि जब प्रेमी यह समझता है कि उसके प्रिय के मानस पर किसी भी बात का प्रभाव नहीं पड़ता तब वह हृदय से प्रेम करते हुए भी उसे अपना संदेशा भेजना उचित नहीं समझता। यद्यपि राधा की प्रेम-उत्कंठा इतनी प्रबल है कि वह गगनबिहारी पक्षियों को देखकर पंखों की कामना करती है[१] तथा पवन की गति को लक्ष कर पवन बन जाना चाहती हैं[२] जिससे कि वह अपने प्रिय के समीप पहुँच सकें लेकिन उनका विरह संयमित और मर्यादित ही है परंतु जब पवन के द्वारा कृष्ण के पास अपना संदेश भेजती हैं उस समय भी अपनी सहृदयता का परिचय देते हुए उन्होंने श्रीकृष्ण के पास संदेशा ले जाते समय उसे भी मार्ग में उपद्रव-शून्य तथा सहायतामयी रहने का उपदेश ही दिया है। जैसा कि डॉ० सुधीन्द्र ने लिखा है "प्रियप्रवास की राधा एकान्त प्रेमिका नहीं हैं, इसीलिए तो उसमें पथ के श्रान्त पथिकों की लज्जाशीलता, पथिक महिला के, मधुप-मधुपी के, क्लान्त कृषक ललना के सुख-दुःख की भी अनुभूति होती है"[३] तथा हम देखते हैं कि कवि का मानववादी दृष्टिकोण यहाँ भी झलक उठता है।[४] इस प्रकार बुद्धि और विवेक की सजल प्रतिभा राधा विषाद के क्षणों में भी धैर्य नहीं खोती तथा जैसा कि डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा का कहना है "कृष्ण से विलग होने पर राधा के प्रेम का उदात्तीकरण मानव जाति एवं समस्त लोक के प्रति प्रेम की भावना के रूप में हो जाता है और वे प्रत्येक प्राणी एवं प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में कृष्ण के ही रूप का दर्शन करती हैं।"[५] वस्तुतः राधा कृष्णमय ही

---

१ जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कण्ठा-विवश चित्त में आज भी सोचती हूँ॥
होते मेरे अबल-तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं स-मुद उड़ती श्याम के पास जाती॥

२ जो उत्कण्ठा अधिक प्रबला है किसी काल होती।
तो ऐसी है लहर उठती चित्त में कल्पना की॥
जो हो जाती पवन, गति या वांछिता लोक-प्यारी।
मैं छू आती परम-प्रिय के मंजु-पादाम्बुजों को॥

३ हिंदी कविता में युगान्तर—डॉ० सुधीन्द्र (पृ० ५०४)

४ कोई क्लांता कृषक ललना खेत में जो दिखावे।
धीरे धीरे परस उसकी क्लान्तियों को मिटाना॥
जाता कोई जलद यदि हो व्योम में तो उसे ला।
छाया द्वारा सुखित करना तप्त भूतांगना को॥

५ हिंदी काव्य पर आँग्ल प्रभाव—डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा (पृ०१६१)

हो गई हैं और इसीलिए उनके मानस में कृष्ण की ही प्रतिमा विद्यमान है[1] तथा सृष्टि के प्रत्येक पदार्थों में किसी न किसी रूप में अपने प्रियतम श्याम की ही झाँकी देख पड़ती है[2] परन्तु इन प्राकृतिक उपादानों में अपने प्रिय की मनोहर छवि को देखकर स्वाभाविक ही उनकी पीड़ा द्विगुणित हो उठती है और इस प्रकार डॉ० सुधीन्द्र के शब्दों में "फूल-फूल को उपालम्भ देती हुई आत्मवेदना में उसे रँगती हुई और उसकी वेदना में अपने मन को डुबाती हुई राधा वियोग-व्यथा की जो व्यंजना करती है वह समस्त हिंदी साहित्य में अनूठी है।"[3] यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि डा. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने जो निर्दोष वर बाल सनेह, सविधिवरण की कामना से दूषित स्वार्थमय मोह और विश्व प्रेम, प्रवण निस्वार्थ प्रणय नामक राधा के प्रेम पथ के तीन सोपान निर्धारित करते हुए यह कहा है कि "प्रेम के इस विकास में अन्तर्द्वन्द्वों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में जिस भावनाक्रम (motivation) की आवश्यकता है उसका प्रिय-प्रवास में अभाव है"[4] वह युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता और जैसा कि श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का कथन है "प्रिय-प्रवास" में राधा प्रेमिका है, कृष्ण प्रेमपात्र हैं। यदि राधा प्रेमपात्री होती और कृष्ण प्रेमिक होते तो प्रिय-प्रवास का दम ही घुट जाता, क्योंकि फिर तो कृष्ण के व्रज चले आने में कोई कठिनता ही न रह जाती। वास्तव में राधा की

१ कोई मेरे हृदय तल को पैठ के जो विलोके।
तो पावेगा लसित उसमें कांति प्यारी उन्हीं की॥

२ फूली संध्या परम प्रिय की कांति सी है दिखाती।
मैं पाती हूँ रजनि तन में श्याम का रंग छाया॥
ऊषा आती प्रति दिवस है प्रीति से रंजिता हो।
पाया जाता वर बदन सा ओप आदित्य में है॥
मैं पाती हूँ अलक-सुषमा भृंग की मालिका में।
है आँखों की सु-छवि मिलती खंजनों औ मृगों में॥
दोनों बाहें कलम कर को देख है याद आती।
पाई शोभा रुचिर शुक के ठोर नासिका की॥
है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़िमों में।
विम्बाओं में वर अधर सी राजती लालिमा है॥
मैं केलों में न जघन युग की मंजुता देखती हूँ।
गुल्फों की सी ललित सुषमा है गुलों में दिखाती॥

३ हिंदी कविता में युगान्तर—डॉ० सुधीन्द्र (पृ० ५०४)

४ महाकवि हरिऔध का प्रिय-प्रवास—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी (पृ० ९१)

प्रेमिकता और परिस्थिति-जन्य परवशता ने कृष्ण की निष्ठुरता—यह निष्ठुरता चाहे जिस कारण उत्पन्न हुई हो यहाँ यह प्रश्न नहीं है—के साथ संयुक्त होकर अपूर्व विरह-वेदना की सृष्टि की है जो महाकाव्य का उपयुक्त विषय हो सकता है। ऐसी अवस्था में यदि कवि ने राधा को दुर्बल हृदय न बनाया होता तो उसके काव्य-शकट के आगे अनिवारणीय पाषाण-खंड प्रस्तुत हो जाता।"[1] वस्तुतः नारी का दुर्बल-हृदया और मोहमग्ना होना स्वाभाविक ही है क्योंकि उसका हृदय कोमल होता है लेकिन प्रिय-प्रवास की राधा पूर्ववर्ती कवियों की भाँति सर्वदा ही मोहमग्ना नहीं रहतीं और न हमेशा आँसू ही बहाती रहती हैं। जब उद्धव का आगमन होता है उस समय वह सूर और नन्ददास आदि कवियों द्वारा अंकित राधा की भाँति उन पर व्यंग्य नहीं कसतीं अपितु एक शिष्ट नारी की भाँति उनका स्वागत करती हैं तथा अपनी विरह भावनाओं पर नियंत्रण रखते हुए उद्धव से स्पष्ट रूप में कह देती हैं कि कृष्ण को लोक कल्याण में संलग्न जानकर उन्हें हृदय से प्रसन्नता हुई है और उन्होंने स्वयं भी लोक-सेवा के पुण्य मार्ग का अवलम्बन करने का निश्चय कर लिया है तथा वह अपने मानस की आकांक्षाओं को इस प्रकार सात्विकी वृत्तियों में रंग देती हैं कि उन्हें अब श्याम और विश्व में साम्यता सी प्रतीत होती है। इस प्रकार सात्विकी वृत्तियों के उदय होने से न केवल उनके मन में विश्व-प्रेम की भावना जाग्रत हो उठती है अपितु वह कृष्ण को ही विश्वव्यापी जानकर विश्व-सेवा में लीन हो जाती हैं क्योंकि विश्व-सेवा ही उनकी दृष्टि में परमप्रभु सेवा है। इस प्रकार वह संसार की उपेक्षा करना उचित नहीं समझतीं और कर्त्तव्य तथा सेवा का पथ अपनाती हुई स्थूल भक्ति की अपेक्षा सूक्ष्म भक्ति को महत्व देती है और नवधा भक्ति की एक नई परिभाषा प्रस्तुत कर मूर्तिपूजा को ही भक्ति नहीं मानतीं[2] अपितु जैसा कि डॉ० शैलकुमारी ने लिखा है "नवधा-भक्ति की नई परिभाषायें देती हुई वह अति उत्पीड़ितों, रोगी तथा व्यथित जनों की बातें मन लगाकर सुनना, श्रवण भक्ति के अंतर्गत, भवहितकारी, सर्व भूतोपकारी, पतितों को उठाने की चेष्टाओं को दासत्व भक्ति के अंतर्गत कंकालों, विवश विधवाओं, अनाथों, अनाश्रितों, तथा उद्विग्नों का स्मरण करके उन्हें त्राण देना, स्मरण भक्ति के अंतर्गत संतापितों को शांति प्रदान करना,

---

१ महाकवि हरिऔध—श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (पृ० २०३)

२ बना किसी की यक मूर्त्ति कल्पिता,
करे उसी की पद-सेवनादि जो।
न तुल्य होगा वह बुद्धि दृष्टि से,
स्वयं उसी की पद-अर्चनादि के॥

निर्बोधों को सुमति तथा पीड़ितों को औषधि देना, तृषितों को जल तथा भूखे को अन्न देना अर्चना भक्ति के अंतर्गत रखती हैं।"[1] इस प्रकार विश्व के समस्त प्राणियों की रक्षा, पूजा, सम्मान और सेवा को ही प्रभु की सर्वोत्तम भावपूर्ण भक्ति मानती हुई[2] वह शोषितों, उपेक्षितों और पीड़ितों को सम्मान और अधिकार दिलाने का प्रण भी करती हैं। रीतिकालीन कविताओं में अंकित राधा की भाँति वह मानिनी नहीं हैं अपितु कृष्ण की अनुरागिनी ही हैं इसीलिए वह अपने प्रियतम कृष्ण के पवित्र आदर्शों की रक्षा करते हुए कौमार्य व्रत धारण कर सामाजिक सेवा में संलग्न हो जाती हैं और यही उनके जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा भी जान पड़ती है।[3] स्मरण रहे कि वह अपनी वियोग व्यथा को विस्मरण कर शोकमग्न गोप-गोपियों तथा नंद एवं यशोदा को भी सांत्वना प्रदान करती हैं और इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी इस लोकहितैषण तथा सात्विकी वृत्ति के कारण राधा सम्पूर्ण व्रज का अवलम्ब बन जाती हैं और यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका प्रेम वासना जनित नहीं था अपितु शुद्ध प्रणय था जिसके कि फलस्वरूप वह मोह-माया को त्याग कर लोक-सेवा को वरण कर वृषभानुनन्दिनी राधा न रह कर 'व्रजदेवी' राधा बन गई।[4] वस्तुतः श्री शांतिप्रिय द्विवेदी का यह कथन उचित नहीं है कि "प्रिय-प्रवास में हम राधा का कोई नवीन विशद चरित्रांकन नहीं पाते"[5] और इसमें कोई संदेह नहीं कि डॉ० प्रतिपाल सिंह का यह विचार युक्तिसंगत ही है कि "राधा का जो भव्य स्वरूप हमारे समक्ष आता है वैसा स्वरूप हमें आधुनिक महाकाव्यों में कहीं देखने को नहीं मिलता।"[6]

---

१ आधुनिक हिंदी काव्य में नारी-भावना—डॉ० शैलकुमारी (पृ० ६१)

२ विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि-गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना॥
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावोपेता परमप्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है॥

३ आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे॥

४ वे छाया थीं सु-जन शिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की॥
दीनों की थी बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं व्रज अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं॥

५ संचारिणी—श्री शांतिप्रिय द्विवेदी (पृ० १२२)

६ बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य—डॉ० प्रतिपालसिंह (पृ० १०७)

वस्तुतः श्री विश्वम्भर 'मानव' ने उचित ही लिखा है कि "प्रियप्रवास में करुणा की जो सरिता बही है, उसमें सबसे पृथुल धारा यशोदा के शोक की है"[१] और इसमें कोई संदेह नहीं कि यशोदा का चित्र अत्यधिक मर्मस्पर्शी है तथा उनके भग्न हृदय की वेदना का अनुमान करना सहज नहीं है। यद्यपि कृष्ण उनकी औरस सन्तान नहीं हैं लेकिन वह उन्हें अपना पुत्र ही मानती हैं और अपने प्राणों से भी अधिक उन्हें प्रेम करती हैं। कृष्ण को पुत्र रूप में प्राप्त कर वे अपने जन्म को कृतकृत्य समझने लगती हैं और ममतामयी यशोदा बड़े ही लाड़-प्यार के साथ उनका पालन-पोषण भी करती हैं। इसलिए जब अक्रूर कृष्ण को मथुरा लिवा ले जाने के लिए आते हैं उस समय कंस-नियोजित षडयंत्र की कल्पना कर उनका स्नेह-कातर शंकालु-मातृ-हृदय भविष्य के प्रति अनर्थ की आशंका से स्वाभाविक ही काँप उठता है और उस समय वह रात्रि भर जाग कर ईश्वराधन करती हैं कि मेरा पुत्र सकुशल लौट आवे। स्मरण रहे कि अपने व्यथित हृदय को शांति देने के लिए वह रात्रि भर रुदन करती हैं लेकिन कहीं इस रुदन की ध्वनि सुनकर उनका लाड़ला पुत्र जाग न जाय अतः वह केवल सिसकती ही रह जाती हैं। यद्यपि कृष्ण के साथ नंद भी जाते हैं लेकिन माता की ममता का तो कोई अंत ही नहीं होता और वह प्रस्थान करते समय नंद से कृष्ण को मार्ग-जन्य कष्टों से बचाने का प्रयत्न करने के लिए भी कहती हैं।

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर तो वह अत्यंत दुखी हो उठती हैं और उन्हें खाना-पीना भी अच्छा नहीं लगता लेकिन कृष्ण को मथुरा में ही छोड़कर नंद के अकेले व्रज लौट आने पर तो उनकी पीड़ा और भी अधिक बढ़ जाती है तथा वह नंद से सर्वप्रथम यही प्रश्न करती हैं कि "प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है?" अभी तक वह अपने पुत्र की प्रतीक्षा अत्यंत स्वाभाविक ढंग से ही कर रही थीं और उन्होंने उसके लिए फलों, मेवों और विभिन्न पकवानों को भी सँभाल कर रखा था तथा रह-रहकर उनके नेत्रों के सामने कृष्ण के बाल्य-जीवन की घटनाएँ भी स्मृति रूप में साकार हो उठती थीं लेकिन जिसे वह कुछ क्षणों के लिए भी अपने से विलग नहीं कर पाती थीं और जिसके दो दिनों के वियोग की आशंका-मात्र से ही वह इतना अधिक अस्थिर हो उठती थीं वही अब अनिश्चित काल के लिए उनकी गोद से अलग हो गया।

अंततोगत्वा विवश होकर आशा ही जीवन है यह सोचकर इस आशा में कि कृष्ण एक न एक दिन लौटकर अवश्य आएँगे वह कृष्ण के आगमन की

---

१ खड़ी बोली के गौरव ग्रंथ—श्री विश्वम्भर 'मानव' (पृ० १५४)

बाट जोहती हैं और यदि मथुरा की ओर से कोई पथिक भी आता दीख पड़ता है तो उससे यही पूँछती हैं कि "प्रिय सुत गृह आता क्या कहीं था दिखाया।" परन्तु बहुत दिन व्यतीत हो जाने पर भी कृष्ण व्रज नहीं आते और जब उद्धव उनका संदेश लेकर आते हैं उस समय भी ममतामयी यशोदा अपने दुःख की ओर न ध्यान देकर कृष्ण की कुशलता के बारे में ही प्रश्न करती हैं।[1] जहाँ उन्हें यह जानकर कि दुःखिता देवकी अब आनन्द से हैं हर्ष होता है वहाँ साथ ही यह सुनकर कि "मेरा पुत्र अब दूसरों का लाड़ला है" वह अपने आपको मृतवत् ही समझती हैं और वेदना का सागर पुनः उनके मानस में हिलोरें सी लेने लगता है[2] परन्तु इतना होते हुए भी वह परिस्थितियों की गंभीरता को समझती सी जान पड़ती हैं तथा यह जानकर कि अब कृष्ण का व्रज आना कठिन ही है वह अपने आपको 'धाई' कहलाकर ही संतुष्ट हो जाती हैं और चाहती हैं कि 'धाई' समझकर ही वे एक बार उन्हें दर्शन तो दे दें परन्तु वह यह नहीं चाहतीं कि जिस प्रकार आज वह दुःखी हैं उसी प्रकार देवकी को भी व्यथित होना पड़े[3] और इस प्रकार की भावनाओं से निस्संदेह यशोदा श्रेष्ठ और उच्चतम पद प्राप्त करने की अधिकारिणी हैं तथा कवि भी उनका चरित्र-चित्रण करने में पूर्ण सफल रहा है।

---

१ मेरे प्यारे स-कुशल सुखी और सानन्द तो हैं?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती?
ऊधो छाती वदन पर है म्लानता भी नहीं तो?
हो जाती है हृदय तल में तो नहीं वेदनायें?

२ छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल छल से लाल ले ले किसी का॥
पूँजी कोई जनमभर की गाँठ से खो न देवें।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का॥

३ मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही।
हा! ऐसी ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी॥
प्यारे जीवें पुलकित रहें औ बने भी उन्हीं के।
धाई नातें वदन दिखला एकदा और देवें॥

# उद्धव-शतक में अलंकार-व्यंजना

किसी भी कविता का परीक्षण करते समय उसके भाव पक्ष और कलापक्ष दोनों पर विचार किया जाता है। वस्तुतः कलापक्ष के अंतर्गत भाषा पर पूर्ण रूप से विचार करना आवश्यक माना गया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि भाषा में चमत्कार उपस्थित करने के लिए अलकारों का अवलम्ब लेना ही पड़ता है तथा अलंकारों के उपयोग से भाषा ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण काव्य चमत्कृत हो उठता है। चंद्रालोक नामक ग्रंथ में कविवर जयदेव ने लिखा भी है:--

अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमलंकृतीन ॥

अर्थात जो विद्वान अलंकार रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं, वे अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मानते ?

अग्निपुराण में भगवान् वेदव्यास ने भी लिखा है:—

अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते ।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥
अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती ॥

इसी प्रकार महाकवि दण्डी का भी मत है:--

काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते ।

साहित्य-दर्पण में विश्वनाथ ने अलंकारों का लक्षण इस प्रकार दिया है:—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

हिंदी के प्रसिद्ध आचार्य केशवदास जी ने भी कविप्रिया में अलंकारों का महत्व स्पष्ट करते हुए कहा है:—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त ॥

इन उद्धरणों से यही स्पष्ट होता है कि वास्तव में काव्य में अलंकारों का आदरणीय स्थान है लेकिन अलंकारों की अभिव्यक्ति भी सहज नहीं है तथा उसके लिये काव्य-कला-कुशलता विशेष रूप से अपेक्षित है।

साधारण कविजन प्रायः बहुत अधिक प्रयत्न करते हैं कि उनकी सूक्तियों में अलंकारों का प्रादुर्भाव हो लेकिन वे सफल नहीं हो पाते जबकि ठीक इसके विपरीत एक प्रतिभाशाली कवि की कविता में अलंकारों का आविर्भाव स्वाभाविक ही हो जाता है। अलंकारों की भिक्षा के हेतु उन्हें कोश के द्वार पर हाथ नहीं पसारना पड़ता और भाषा पर उनका इतना अधिक अधिकार रहता है कि 'वाग् वश्यैवानुवर्तते' वाणी तक उनके आधीन हो जाती है। अतएव अलंकारों की अभिव्यंजना के लिए कवि में काव्य-मर्मज्ञता, विद्वता और प्रतिभा भी अपेक्षित है।

'उद्धव-शतक' आधुनिककालीन व्रजभाषा काव्य के सुप्रसिद्ध महाकवि बाबू जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' की उल्लेखनीय कृति है जो कि एक सौ सत्रह घनाक्षरी छंद का प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य है। यद्यपि उद्धव-शतक भ्रमरगीत परम्परा का ही काव्यग्रंथ है तथा उसकी कथावस्तु भी श्रीमद्-भागवत के दशमस्कन्ध से ली गई है किन्तु उसमें कतिपय निजी विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। उद्धव-शतक में विप्रलभ शृंगार की प्रधानता है तथा गोपियों की विरह-व्यथा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। 'रत्नाकर' ने प्रेम में तुल्यानुराग को ही आदर्श माना है और कृष्ण की वियोगावस्था का भी अंकन किया है। भावपक्ष की प्रबलता के साथ-साथ उद्धव-शतक का कलापक्ष भी प्रौढ़ है और कवि का उद्देश्य चमत्कार-प्रदर्शन न होकर लोकोत्तर आनन्द प्रदान करना ही है। कदाचित इसीलिए अलंकारों की बहुलता होते हुए भी उद्धव-शतक की सूक्तियों में मर्मस्पर्शिता ही विशेष रूप से है और हम देखते हैं कि इस काव्य-कृति के कई छंदों में अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है तथा भाषा को विकृत नहीं किया गया। रीतिकालीन सुपरिचित कवि 'पद्माकर' में अनुप्रास-प्रियता विशेष रूप से थी किन्तु अनुप्रास की प्रवृत्ति के फलस्वरूप उन्होंने भाषा को विकृत भी कर दिया है पर 'रत्नाकर' ने इस दोष से बचने का सर्वथा प्रयास किया है। 'उद्धव-शतक' में अनुप्रासों की छबीली छटा स्वाभाविक ही लहरा रही है। उदाहरणार्थः—

सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके,
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।
होले से हले से हूल-हूले से हिये में हाय,
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से॥

× × ×

जैहै बन-बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की।

रत्नाकर की अलंकार-व्यंजना के विषय में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उनके किसी एक कवित्त में किसी एक विशेष अलंकार का ही प्रयोग नहीं हुआ है बल्कि प्रायः संकर और संसृष्टि के रूप में एक-एक छंद में कई अलंकार दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु कई छंद ऐसे भी है जो कि हमारे इस कथन के अपवाद स्वरूप हैं। 'रत्नाकर' को श्लेष और वीप्सा के प्रयोग में विशेष सफलता मिली है और एक स्थल पर गोपियाँ अनंग शब्द को ही श्लिष्ट रूप में लेकर उसके (१) अंगरहित अर्थात ब्रह्म और (२) मदन नामक दो अर्थ मानकर उद्धव से परिहास करती हुई कहती हैं:—

एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब
और अंग रहित अराधि करिहैं कहा ॥

कहीं-कहीं 'रतनाकर' ने अपने नाम को भी श्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया है:--

तुम तौ विवेक रतनाकर कहौ क्यों पुनि,
भेद पंचभौतिक के रूप में रचायौ है।

× × ×

रस रतनाकर सनेह निरवार्‌यौ जाहि,
ता कच कौं हाय जटाजूट बरिबो कहौ।

× × ×

जोग रतनाकर मैं साँस घूँटि बूड़ै कौन,
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं।

× × ×

प्रेम रतनाकर की तरल तरंग पारि,
पलटि पराने पुनि प्रन-पनवारी हैं।

श्लेषालंकार का आविर्भाव उद्धवशतक के षट्‌ऋतु वर्णन संबंधी छंदों में भी कुशलता के साथ हुआ है और वीप्सा माला के जिसमें कि शब्द अथवा वाक्य की आवृत्ति की जाती है कुछ उदाहरण देखिए—

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज गाँवनि मैं पावन जबै लगीं।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि,
दौरि-दौरि नंद पौरि आवन तबै लगीं ॥
उझकि-उझकि पद कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।

हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौ लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।

× × ×

वे तौ हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ,
हम उनही की उनही की उनही की हैं।

× × ×

रंचक हमारी सुनौ, रंचक हमारी सुनौ,
रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हैं।

शब्दालंकारों के प्रयोग में तो कवि को अप्रतिम सफलता मिली है किन्तु अर्थालंकारों के प्रयोग में भी वह सिद्धहस्त प्रतीत होता है। अत्युक्ति का निम्नांकित उदाहरण देखिए, जिसमें कि विरह-जन्य विकलता का स्वाभाविक चित्रण है:—

दाबि-दाबि छाती पाती-लिखन लगायौ सबै,
ब्यौंत लिखिबै को पै न कोऊ करि जात है।
कहै रतनाकर फुरति नाहिं बात कछू
हाथ धर्‌यो ही-तल थहरि थरि जात है॥
ऊधौ के निहोरैं फेरि नैंकु धीर जोरैं पर,
ऐसो अंग ताप के प्रताप भरि जात है।
सूखि जात स्याही लेखिनी कैं नैंकु डक लागैं,
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है॥

रूपक और उपमा का प्रयोग भी उद्धव-शतक में विशेष रूप से किया गया है। वस्तुतः रूपक अलंकार द्वारा काव्य में सादृश्यता सी दृष्टिगोचर होती है जिससे कि सूक्तियों में रमणीयता आ जाती है। रत्नाकर ने परंपरित रूपक और सांग रूपक का ही प्रयोग विशेष रूप से किया है और परंपरित रूपक का यह उदाहरण दृष्टव्य है:--

आए हौ सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तौ पै,
ऊधौ बिये योग के बचन बतरावौ ना।
कहै रतनाकर दया करि दरस दीन्यौ,
दुख दरिबै कौ तौ पै अधिक बढ़ावौ ना॥
टूक-टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारौ हाय,
चूकि हूँ कठोर-बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजार्‌यौ मोहिं,
हिय में अनेक मनमोहन बसावौ ना॥

उद्धव-शतक में कहीं-कहीं उपमा और रूपक का अनूठा सामंजस्य भी दृष्टिगोचर होता है अर्थात कहीं तो रूपक का पर्यवसान उपमा में हो गया है और कहीं उपमा का पर्यवसान रूपक में, उदाहरणार्थ:—

चलत न चार्‌यौ भाँति कोटिन बिचार्‌यौ तऊ,
दाबि-दाबि हार्‌यौ पै न टार्‌यौ टसकत है।
परस गहीली बसुदेव-देवकी की मिली,
चाह चिमटी हूँ सों न खैंचौं खसकत है॥
कढ़त न क्यौं हूँ हाय बिथके उपाय सबै,
धीर-आक-छीर हूँ न धारैं धसकत है।
ऊधौ ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान धर्‌यौ,
निसि दिन काँटे लौं करेजैं कसकत है॥

'रत्नाकर' को प्रमुख अर्थालंकारों का प्रयोग करने में तो सफलता मिली ही है लेकिन साधारण से साधारण अलंकारों की अभिव्यक्ति भी उन्होंने इतनी कुशलता से की है कि उनकी अलंकार-व्यंजना की सराहना मुक्त-कंठ से करनी पड़ती है। लोकोक्ति का इनता सुन्दर उदारहण कदाचित ही अन्य किसी कवि की कविता में दृष्टिगोचर होता हो:—

दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा,
तुमसन ज्ञान कहा जानि कहिबो करैं।

स्मृतियों के चित्र भी कई कवियों ने अपनी कविताओं में प्रस्तुत किए हैं किन्तु इस प्रकार की स्मृतियाँ भाव या मनोविकार ही कहला सकती हैं लेकिन जब स्मरण करानेवाली वस्तु और स्मरण की हुई वस्तु में उपमेय-उपमान भी हों तो स्मरणालंकार का आविर्भाव होता है। विश्वनाथ ने स्मरणालंकार का उदाहरण इस प्रकार दिया है:—

अरविंदमिद वीक्ष्य खेलतखंजनमंजुलम्।
स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चंचललोचनम्॥

किन्तु प्राय: स्मरणालंकारों के उदाहरणों में स्मृति भाव और अलंकार दोनों का परस्पर सामंजस्य ही देख पड़ता है। उद्धव-शतक का निम्नांकित उदाहरण देखिए:—

न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यो जात,
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि,
बाम बामना सौं नैंकु नासिका लगायौ है॥

त्यौंही कछु घूमि भूमि बेसुध भए कै हाय,
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है ।
पाए घरी द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर,
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है ॥

जलजात अर्थात कमल को देखकर कमलवदनी राधा का स्मरण हुआ और कमल की मुरझाई हुई दशा देखने पर यह स्मृति हुई कि विरह-वेदना से वृषभानुजा भी इसी प्रकार की दशा को प्राप्त हुई होगी। साथ ही कृष्ण की दशा को देखकर इसमें स्मृति भाव की प्रधानता भी स्वीकार करनी होगी। इतना ही नहीं एक ओर तो यहाँ पर उपमेयोपमान भाव से स्मरणालंकार का प्रादुर्भाव हुआ है और दूसरी ओर स्मृति भाव भी प्रधान रूप से है। इसी प्रकार इसमें दोनों का नीर-क्षीर के समान बड़ा ही सुन्दर सम्मिश्रण है। इस प्रकार असंगति का एक अनूठा उदाहरण देखिए:—

सील सनी सुरुचि सु-बात चलै पूरब की,
औरे ओप उमगी दृगनि मिदुराने तैं ।
कहै रतनाकर अचानक चमक उठी,
उर घनश्याम कै अधीर अकुलाने तैं ॥
आसाछन्न दुरदिन दीस्यौ सुरपुर माहिं,
ब्रज मैं सुदिन बारि बुंद हरियाने तैं ।
नीर को प्रवाह कान्ह नैननि कै तीर बह्यौ,
धीर बह्यौ ऊधौ-उर-अचल रसाने तैं ॥

यह स्वाभाविक ही है कि जहाँ जल का प्रवाह होगा वहीं उसमें वस्तु भी प्रवाहित हो सकेगी किन्तु प्रस्तुत छंद में तो ठीक इसके विपरीत भगवान श्रीकृष्ण के नेत्रों रूपी तट पर नीर प्रवाहित हो रहा है और उद्धव के मानस से धैर्य बहा जा रहा है। यहाँ 'बह्यौ' शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। 'बह्यौ' का अर्थ वस्तुतः यहाँ नष्ट होना मानना चाहिए और इस प्रकार से इसमें असंगति का संगति में रूपान्तर हो जाता है, जो स्वाभाविक ही है। किसी मनुष्य के रुदन से उसके समीप बैठनेवाला भी द्रवित होकर अपना धैर्य स्वाभाविक ही खो देगा। वस्तुतः यहाँ 'बहना' शब्द का प्रयोग अतिशयोक्ति पर आश्रित है और इसी से यहाँ असंगति की सृष्टि भी हुई है। इस छंद में अलंकार-व्यंजना की उत्कृष्टता के साथ-साथ पावस-वर्णन की रम्यता भी प्रशंसनीय है। इसी प्रकार निम्नांकित दो पंक्तियों में 'अधिक' नामक अलंकार की कितनी सुन्दर अभिव्यंजना

की गई है—

फिरत हुते जू जिन कुंजनि मैं आठौं जाम,
नैननि मैं अब सोई कुंज फिरिबौ करैं।

स्मरण रहे, उद्धव-शतक रीति-ग्रंथ नहीं है जिसमें अलंकारों के लक्षणामूलक उदाहरण दिए गए हों अतः भाव-व्यंजना में जो भी अलंकार सहायक हुए हैं उन्हीं का प्रयोग उद्धव-शतक में दृष्टिगोचर होता है। 'रत्नाकर' की अलंकार-व्यंजना में यह विशिष्टता विशेष रूप से पाई जाती है कि उन्होंने कहीं भी अलंकारों के प्रयोग के हेतु भावों की स्वाभाविकता, सरसता और सुमधुरता को आघात नहीं पहुँचाया। इस प्रकार उद्धव-शतक की अलंकार-व्यंजना पर संक्षेप में प्रकाश डालने के उपरान्त हमें यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि कविवर रत्नाकर को अलंकार-व्यंजना में अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है।

# गुप्त जी की यशोधरा :
# सृजन-प्रेरणा और कथा-सौंदर्य

"मैथिलीशरण जी हिन्दी के इस युग के पहले कवि हैं जिन्होंने कविता की ज्योति समय, समाज और आत्मा के भीतर देखी है, जिन्होंने नये काव्य-धारा की अबाध गति से हिन्दी-समाज को अभिसिंचित किया है।"

—नंददुलारे वाजपेयी

अपने शोध-प्रबंध 'मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य' में डॉ० कमलाकांत पाठक ने उचित ही लिखा है "श्री मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी जगत के यशस्वी, लोकप्रिय और कृती कवि हैं। उनके काव्य का साहित्यिक ही नहीं, ऐतिहासिक महत्व भी है। खड़ी बोली के वे प्रवर्तक और उन्नायक हैं, जन-समाज के वे प्रतिनिधि रचयिता हैं तथा भारतीय नवोत्थान के पुरस्कर्त्ता हैं, मानवतावादी नैतिक सांस्कृतिक धारा के वे विशिष्ट कवि हैं और आधुनिक हिन्दी काव्य के अन्यतम शिल्पी।"[1] वस्तुत: काव्यक्षेत्र के भीतर खड़ी बोली का मार्ग प्रशस्त करने वालों में गुप्त जी का नाम सर्वप्रथम लिया जाएगा और इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने इस दीर्घ कविता-काल में उन्होंने न केवल अधिकाधिक परिमाण में काव्यकृतियाँ ही प्रस्तुत की हैं अपितु विषयों की विविधता पर भी ध्यान रखा है।[2] वास्तव

---

१ मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य—डॉ० कमलाकांत पाठक (वक्तव्य; पृ० ट)

२ "गुप्त जी के काव्य-मानस की प्रेरणा और प्रवृत्ति का स्रोत चतुर्विध है। अतीत संस्कृति और कला का प्रेम उसका एक अंश है। वर्तमान युग के प्रति आस्था और राष्ट्रीयता उसका दूसरा चरण है। समक्ष जीवन और उसके साथ जुड़ा हुआ कर्ममय प्रवृत्ति मार्ग या कवि के शब्दों में कहें तो 'गेह-गौरव' वाद उसका तीसरा अंश है। मानव की गरिमा या अनुभाव या महिमा के प्रति आस्था और आशा एवं उसी आधार पर मानवतावाद या व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान, या भागवती परिभाषा में नर-नारायण का समन्वय, यह दृष्टि कोण उसका चौथा अंश है। इन चारों का जहाँ सम्मेलन होता है वहीं गुप्त जी के काव्य का प्रतिष्ठा बिन्दु है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि किस प्रकार

में "गुप्त जी हिन्दी काव्यजगत की उन कतिपय विभूतियों में से हैं जिन्होंने अपनी मर्मस्पर्शी कृतियों द्वारा हिन्दू समाज और भारतीय राष्ट्र की शुष्क नसों में नवजीवन का पुनीत स्रोत प्रवाहित किया है और कर्त्तव्य विमूढ़ प्राणियों को उच्चादर्श की शिक्षा दी है। उनकी रचनाओं में मानवजीवन का संदेश है अतीत का गौरव है, उन वीर पुरुषों और वीरांगनाओं का कलापूर्ण चित्रण है जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अमर निधि हैं। उनके काव्य में राष्ट्रीय विचारों का सौन्दर्य, मानव हृदय की अन्तरतम प्रवृत्तियों का द्वन्द्व, परिवर्तन की पुकार और पदाक्रान्त राष्ट्र का पुनः स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए जागरण का महान् उद्घोष है। राष्ट्रीय उद्बोधन के साथ-साथ मानव हृदय की कोमलता का गुप्त जी ने सफल चित्रण किया है। उनकी लेखनी जिस विषय को लेकर उठी है उसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है।"[१] इस प्रकार श्री मैथिलीशरण गुप्त वर्तमान युग में सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं और उनकी रचनाओं का आनन्द बाल-वृद्ध वनिता सभी लेते हैं तथा प्राचीन एवं नवीन युग की जो विविध प्रणालियाँ काव्य जगत में प्रचलित हैं उन सभी का उन्होंने प्रयोग भी किया है। यद्यपि अभी तक गुप्त जी की चालीस से अधिक मौलिक व छः अनूदित कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं किन्तु उनकी सभी काव्य कृतियों में 'यशोधरा' का उल्लेखनीय स्थान है और वह हिन्दी काव्य जगत की महत्वपूर्ण कृति भी मानी जाती है। प्रस्तुत निबंध में हम यशोधरा के ही कुछ पक्षों का मूल्यांकन कर रहे हैं।

वस्तुतः कवि ने कोई काव्य क्यों लिखा और उसे प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई, यह जानना सहज बात नहीं हैं क्योंकि आलोचना के लिए तो वह 'प्रागैतिहासिक काल' की बात कही जाएगी परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो गुप्त जी की अधिकांश कृतियों के सृजन के पीछे एक निश्चित सुन्दर पृष्ठभूमि अवश्य है। साकेत के अध्येता जानते ही है कि उसका निर्माण किन परिस्थितियों और किन कारणों से हुआ लेकिन यशोधरा के लिखने में भी गुप्त जी का निश्चित उद्देश्य अवश्य था। यों तो सोद्देश्य लिखी गयी किसी

---

नये विचारों का उजाला गुप्त जी ने अपने काव्यों के प्राचीन ठाठ में भरा है। उन्होंने न केवल उदात्त अतीत के गीत गाए हैं, वरन् वे आगे आने वाले और भी अधिक उदात्त जीवन का उत्कंठित आलिंगन करते हैं।"

· डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल (मैथिलीशरण गुप्तः कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता की भूमिका से उद्धृत)

१ आधुनिक कवियों की काव्य-साधना—श्री राजेन्द्र सिंह गौड़ (पृष्ठ १५४-१५५)

काव्यकृति के रचयिता का उद्देश्य हम कवि की भावना, संस्कार, चिन्तन और उसके विचारों पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव आदि से जान पाते हैं परन्तु इन बातों पर कुछ भी चिन्तन करने के पूर्व हमें यशोधरा के प्रारम्भ में 'शुल्क' शीर्षक अध्याय (वस्तुतः इसे समर्पण ही कहा जाएगा यद्यपि कतिपय विचारकों ने इसे भूमिका समझने की भ्रांति भी की है) का अनुशीलन करना आवश्यक है[1] और उस पर एक विहंगम दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाता

---

१ देखिए :—

"भाई सियारामशरण,

तुम कहानियाँ लिखते पढ़ते हो। सुनो, एक कहानी।

संध्या हो रही थी। किसी गाँव के एक कृषक गृहस्थ के चत्वर पर कोई हारा-थका पथिक अपनी पोटली रखकर बैठ गया और अपने दुपट्टे के छोर से व्यंजन करने लगा। गृहस्थ ने घर से निकलकर कहा—'महाराज, यहाँ ठहरने का स्थान गाँव के बाहर का शिवालय है।' आगन्तुक ने दीन भाव से कहा—'भैया, हमें कुछ न चाहिए। थके-माँदे कहाँ जायँगे ? रात भर यहाँ एक ओर पड़े रहने दो सबेरे अपना मार्ग लेंगे।'

'कुछ कथा-वार्ता रामायण आदि कहते हो।'

'यदि इसके बिना आश्रय न मिले तो कुछ सुना दूँगा।'

'तब पड़े रहो।'

गृहस्थ भीतर चला गया। तनिक देर में उसका लड़का बाहर से आया। पथिक को उसी भाँति उससे भी निबटना पड़ा। परन्तु वह माता (देवी) के भजनों का प्रेमी था। पथिक ने उसके लिए भी हामी भरी।

थोड़ी देर में उसका छोटा भाई आ पहुँचा। उससे भी यही झंझट। वह आल्हा का रसिक था। पथिक को आल्हा सुनाना भी स्वीकार करना पड़ा।

रात में सब खा-पीकर बैठे। पथिक का शरीर चूर-चूर हो रहा था। इधर श्रोता अपनी-अपनी कह रहे थे। गृहस्थ ने कहा—'महाराज हो जाने दो, एक आध चौपाई।' छोटे लड़के ने क्रम भंग करते हुए, भाई के कुछ कहने के पहले ही कहा—'कहाँ की चौपाई ? महाराज आल्हा होने दो, मैंने पहले ही कह दिया था।' बड़े लड़के ने बिगड़कर कहा—'मूसल बदलना है हमें आल्हा से ? महाराजा माता का भजन आरंभ करो ?'

सब अपनी-अपनी बात के लिए हठ करने लगे। पथिक ने किसी भाँति बैठ कर कहा—'भाई मुझे लेकर क्यों आपस में कलह करते हो ? लो, सब सुनो—

मंगलभवन अमंगलहारी,
द्रवहु सो दसरथ-अजिर-बिहारी।

है कि कवि ने यशोधरा की रचना अपने अनुज कविवर सियारामशरण गुप्त के अनुरोध पर की है तथा 'साकेत' की रचना करते समय ही कवि का ध्यान 'यशोधरा' पर भी कुछ लिखने की ओर गया और उसने कालान्तर में 'यशो-

---

यह हुई कथा।

दिन की उवन, करन की बेर, सुरहिन वन को जस हो माय।
इक वन लाँघ दुजे वन पहुंची, तीजे सिंघ दहाड़ो हो माय॥

यह हुआ माता का भजन। और

कारी बदरिया बहन हमारी
कौंधा वीरन लगे हमार।
आज बरस जा मोरी कनवज में
कन्ता एक रैन रह जायँ।

यह हुआ आल्हा। अब तो सोने दोगे।

कहानी तुम्हें रुची हों या नहीं, परन्तु तुम अकेले ही मेरे लिए उस गृहस्थ के सम्मिलित कुटुम्ब हो रहे हो। मेरी शक्ति का विचार किये बिना ही मुझसे ऐसे ही अनुरोध किया करते हो। कविता लिखो, गीत लिखो, नाटक लिखो। अच्छी बात है। लो कविता, लो गीत, लो नाटक और लो गद्य-पद्य तुकान्त-अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं।

भगवान बुद्ध और उनके अमृत तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो चार आँसू ही तुम्हें मिल जायँ तो बहुत समझना और उनका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को ही है, उन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है।

हाय! यहाँ भी उदासीनता! अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधियाँ गई और उन्होंने इधर देखकर भी न देखा। सुगत का गीत तो देश-विदेश के कितने ही कवि कोविदों ने गाया है, परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतंत्र सत्ता और महत्ता देखकर मुझे शुद्धोदन के शब्दों में यही कहना पड़ा है कि :—

गोपा बिन गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।

अथवा तुम्हारे शब्दों में मेरी वैष्णवभावना ने तुलसीदल देकर यह नैवेद्य बुद्धदेव के सम्मुख रक्खा है। कविराजों के राजभोग व्यंजन मैं कहाँ पाऊँगा! देखूँ, वे इस अकिंचन की यह 'खिचड़ी' स्वीकार करते हैं या नहीं।

लो भाई, तुम्हें इससे संतोष हो या नहीं, तुम्हारे अधिकार का शुल्क चुकाने की चेष्टा मैंने अवश्य की है।"

—यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त (पृष्ठ ३-५)

धरा' काव्यकृति का निर्माण किया।[1] डॉ० उमाकान्त के शब्दों में "यशोधरा का उद्देश्य है पति-परित्यक्ता यशोधरा के हार्दिक दुःख की व्यंजना तथा वैष्णव सिद्धान्तों की स्थापना। एक वर्ष पूर्व कवि ने साहित्य की चिर उपेक्षिता उर्मिला को वाणी प्रदान की थी। वहीं से प्रेरणा ग्रहण कर गुप्त जी ने उसी के समान विस्मृत तथा शोकपूर्ण स्थिति वाली पर अपने करुण क्रंदन को पी जाने वाली यशोधरा का जीवन-वृत्त कविता-बद्ध किया।"[2]

स्मरण रहे, उन्नीसवीं शताब्दी भारत में व्यक्तिवाद को लेकर आयी जिसमें व्यक्तिगत जीवन के इतिहास और मानव के एकांतिक सुख-दुःखों को वंश-गौरव एवं समाज-सापेक्ष सांस्कृतिक गौरव का प्रतिनिधित्व करनेवाले जीवन चरितांशों से भी अधिक महत्व दिया गया और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह अनुपयुक्त भी न था, कारणकि बुद्धिवाद की तीव्र लहर सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति की विचारधारा में परिवर्तन ला देती है। व्यक्तिवाद की इस प्रबलता का अर्थ यह न समझा जाए कि व्यक्ति को समाज की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाने लगा अपितु इसका सामान्यतः अर्थ यही है कि साहित्य-जगत में अब हमारी दृष्टि उन अछूते विषयों पर भी गयी जो कि वर्षों से उपेक्षित पड़े थे और यही कारण है कि नवीन युग की कविता उत्त-

---

१ 'गुप्त जी साकेत के प्रेमी लक्ष्मण को साधक रूप में और प्रेमिका उर्मिला को सहधर्मचारिणी के रूप में ही प्रत्यक्ष कर सके थे। उन्हें इन चरित्रों को और विकसित करने की आवश्यकता अनुभव हुई, क्योंकि वहाँ राम के व्यक्तित्व को इतस्त: नहीं किया जा सकता था। यशोधरा उर्मिला के चरित्र का ही स्वाभाविक विकास है। उसका वियोग निरवधि है और अवलम्ब राहुल। वह पुत्रवती वियोगिनी वात्सल्य और करुण विप्रलम्भ में, 'आँचल में दूध' और 'आँखों में पानी' से अपना व्यक्तित्व गढ़ती है। उसके चरित्र की गरिमा नारी की शक्ति और उसकी करुण स्थिति की सम्मिलित अभिव्यक्ति द्वारा उद्घाटित हुई है। ...........रमणी का पूर्णत्व मातृत्व में है, अतएव उर्मिला के इस पक्ष की पूर्ति यशोधरा में हुई। 'गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको' उक्ति में पुरुष की एकांतिक साधना को सामाजिक जीवन की दृष्टि से अपूर्ण माना गया तथा नारी के महत्व की व्यंजना हुई।"

—मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य : डॉ० कमलाकांत पाठक (पृष्ठ २०६–२०७)

२ मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता—डॉ० उमाकांत (पृष्ठ ३७)

रोत्तर नए रूप-विधानों और भावों से परिपुष्ट होती गयी। चूँकि रवीन्द्रनाथ और उनका साहित्य इसी युग की सृष्टि है, अतः स्वाभाविक हो उन्होंने एक मननशील विचारक होने के कारण प्राचीन साहित्य को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से देखा-समझा और उसके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए। उनके विचार 'प्राचीन साहित्य' नामक पुस्तक में संगृहीत हैं जिसका कि रूपान्तर हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। 'प्राचीन साहित्य' के एक निबन्ध 'काव्य रे उपेक्षिता' में रवीन्द्र ने काव्य की कतिपय उपेक्षिताओं का उल्लेख किया है और कालान्तर में इसी का आधार लेकर 'सरस्वती' में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'भुजंग भूषण भट्टाचार्य' नाम से कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' नामक निबंध लिखा जो कि उनके 'रसज्ञ-रंजन' नामक निबंध-संग्रह में संगृहीत है। चूँकि मैथिलीशरण जी आचार्य द्विवेदी द्वारा प्रोत्साहित होकर ही कविता क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे और उनकी कृपा-वारि से सींची जाने पर ही उनकी काव्य-चेतना विकसित हुई थी अतः उन्होंने चिर-उपेक्षिता उर्मिला का चरित्र प्रथम बार 'साकेत' शीर्षक महाकाव्य में प्रस्तुत किया और उन्हें इस कार्य में आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई।

साकेत के सृजनकाल में ही कवि का ध्यान काव्य की एक अन्य उपेक्षिता यशोधरा पर भी गया जिसकी ओर न तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ही दृष्टि गयी थी और न आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की ही। यशोधरा—जिसे कि गोपा भी कहते हैं—गौतम बुद्ध की पत्नी थी और वियोग-व्यथा की दृष्टि से तो उसकी वेदना उर्मिला की अपेक्षा अधिक मर्मस्पर्शी मानी जायगी कारण कि उर्मिला के लिए तो विरह की अवधि निश्चित थी पर यशोधरा के लिए ऐसी कोई बात न थी और न जाने उसे कब तक विरहाग्नि में जलना पड़ता अतः गुप्त जी जैसे भावुक कवि के लिए उसकी कथा को काव्य का विषय बनाना स्वाभाविक था। संभवतः साकेत-सृजन के समय उनकी भावुकता की तृप्ति उर्मिला के अश्रुओं से नहीं हुई और अब उसी अतृप्ति की पूर्ति हेतु उन्होंने यशोधरा-लेखन की ओर ध्यान दिया। स्वयं कवि ने ही यह स्वीकार कर लिया है कि उसकी भावना पर साकेत की उर्मिला ने ऐसा प्रभाव डाला कि 'यशोधरा' लिखने के लिए विवश होना पड़ा परन्तु इस विवशता के परिणाम स्वरूप हिन्दी-काव्य-जगत को एक सर्वथा अनूठी कृति प्राप्त हुई। यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठता है कि आखिर यशोधरा उपेक्षिता क्यों रही पर इसके उत्तर-स्वरूप यह कहा जा सकता है कि "इस उपेक्षा के दो कारण संभव हैं। प्रथमतः उसने लोक, कुटुम्ब या समाज के

कल्याण के लिए कोई ऐसा संस्मरणीय काम न किया जो जाति के साहित्य में स्थायी स्थान ग्रहण कर सके। द्वितीयतः यशोधरा में ऐसे गुण होंगे जो गौतम के उत्कृष्ट गुणों के सामने उल्लेखनीय प्रमाणित नहीं हुए।"[1] इस सम्बन्ध में प्रो० वासुदेव का विचार है कि "हमारी समझ में ये कारण पर्याप्त नहीं हैं। भारत आरम्भ से ही एक धर्मपरायण देश रहा है। इस बात को सभी जानते हैं कि प्राचीनकाल में बौद्धों और हिन्दुओं में खींचतान सदा से चला करती थी। हिंदुओं ने बौद्धों को सदैव नास्तिक कहा। ऐसी हालत में कोई हिन्दू कवि नास्तिक साहित्य की रचना करके अपने धर्म और जाति को क्यों कलंकित करता? यही कारण है कि प्राचीनकाल में बौद्ध साहित्य के अधिकांश रचयिता बौद्ध ही होते थे। हिन्दू धर्म के समर्थक कालि-दास और भवभूति जैसे उदार कवियों ने जब बौद्ध धर्म और उसके साहित्य के प्रति अपनी अनुदार दृष्टि रखी तो फिर छोटे छोटे कवियों की बात ही क्या? प्राचीन हिन्दी साहित्य में कवियों में बौद्ध धर्म के प्रति इसी प्रकार की अनास्था के भाव ज्यों के त्यों बने रहे। १९वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म में अनास्था रखने वालों की बहुत बड़ी संख्या रही। २०वीं शताब्दी का उदय होते ही बौद्ध धर्म और उसके साहित्य का पठन-पाठन तथा अन्वेषण काफी गति के साथ होने लगा। इसके साथ ही हिन्दी में और भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में बुद्ध विषयक साहित्य की रचना होने लगी। हिन्दी साहित्य में गुप्त जी, अनूप शर्मा, शुक्ल जी तथा प्रसाद जी जैसे कवियों ने बुद्ध साहित्य की रचना करने में सक्रिय रूप से हाथ बँटाया। भारत के एक युगान्तरकारी धर्म प्रवर्तक महात्मा बुद्धदेव की धर्मपत्नी यशोधरा को प्रकाश में लाकर गुप्त जी ने अपने हृदय की उदारता और विशालता का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपेक्षिता यशोधरा का उद्धार करके उसके साथ समुचित न्याय भी किया है।"[2]

कारण चाहे कोई भी हो लेकिन इतना तो अवश्य है कि वह कवियों की उदासीनता का दंड अवश्य सहन करती रही जब कि उसका विरह अतुलनीय है और जैसा कि एक विचारक का कहना है—"राजप्रसाद का उपवन ही जिसके लिए वियोग-स्थल बन गया हो तो उसके अश्रुओं की क्या सीमा? राजप्रसाद की हर एक वस्तु, अतीत के सुखों की स्मृति, प्रियतम की याद, वियोगाग्नि को कितनी प्रबल कर देती होगी, इसकी कल्पना हेतु मानों गुप्त जी की कल्पना भी द्रवित होकर कविता बन गयी।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यशोधरा

१ काव्य की उपेक्षिता—श्री रामदीन पांडेय (पृष्ठ ३)

२ विचार और निष्कर्ष—प्रो० वासुदेव (पृष्ठ २२५-२२६)

का चित्रांकन करना ही इस काव्य-कृति में उनकी कला का उद्देश्य रहा है और स्वयं कवि ने 'शुल्क' के अंतर्गत इसे स्वीकार कर लिया है। साथ ही 'यशोधरा' की सृजन-प्रेरणाओं में नारी जाति की महत्ता का प्रतिपादन, वैष्णव भावनाओ को आश्रय देना तथा राजनीतिक गाँधीवाद व साहित्यिक रहस्यवाद का प्रभाव आदि बातों की भी गणना की जाती है अतः इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर हम देखते हैं कि यशोधरा सोद्देश्य लिखी गयी काव्य-रचना है।

वस्तुतः किसी भी कृति के कथानक के सम्बन्ध में विचार करते समय हम सर्वप्रथम उसके नामकरण व शीर्षक की सार्थकता पर ही विचार करते हैं और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो शीर्षक देखकर ही बहुत से व्यक्ति उस कृति की सुन्दरता का अनुमान लगा लेते हैं। यों तो Charles Barret का यह कथन 'A good tittle is apt, specific, attractive, new and short' कहानियों के ही प्रति कहा गया है लेकिन यह तो साहित्य के किसी भी अंग के प्रति प्रयुक्त हो सकता है और यदि हम यह कहें कि शीर्षक ही प्रत्येक कृति का आत्म-परिचय पाठकों को देता है तो कोई अत्युक्ति न होगी। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के षष्ठ परिच्छेद में महाकाव्य के तत्वों पर विचार करते समय कहा है कि महाकाव्य का नामकरण कवि अथवा कथानक या चरित-नायक के नाम पर होना चाहिए परन्तु कालान्तर में यह बंधन सभी महाकवियों को मान्य नहीं रहा तथा देश, काल, भाव आदि के नाम पर भी महाकाव्यों का नामकरण किया जाता रहा लेकिन न जाने क्यों समीक्षकों ने शीर्षक के सम्बन्ध में सामान्य लक्षण निर्धारित नहीं किए।

यों तो शीर्षक का सुन्दर, मोहक और आकर्षक होना आवश्यक माना गया है तथा उसके सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उसमें न केवल कृति-विशेष का ही कोई उद्देश्य साधन हो अपितु साथ ही विशिष्टता भी अपेक्षित है और जिस प्रकार किसी बड़ी दूकान में वातायनों तक को सजाना पड़ता है उसी प्रकार शीर्षक का भी आकर्षक होना आवश्यक है। शीर्षक के सम्बन्ध में ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह कितने शब्दों का हो। साथ ही वह किसी भी कृति के मुख्य पात्र के नाम पर या प्रधान विषय, भाव या रस के आधार पर अथवा प्रधान घटना या मुख्य वस्तु अथवा दृश्यावली के अनुसार रखा जा सकता है। केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि शीर्षक आकर्षक, रोचक और कौतूहल प्रद हो अपितु उसका कृति की कथा-वस्तु या विषय-वस्तु के साथ सामंजस्य भी अपेक्षित है अर्थात् शीर्षक एवम् कथा का अन्योन्याश्रित

सम्बन्ध आवश्यक है । इस प्रकार किसी भी काव्य-कृति की विषय-वस्तु के अनुरूप ही शीर्षक रहना चाहिए और शीर्षक के अनुसार ही विषय-वस्तु का भी प्रसार हो । साथ ही शीर्षक ऐसा हो कि उसका सहज अवलोकन करते ही पुस्तक पढ़ने की उत्सुकता पाठक के हृदय में उत्पन्न हो लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कभी भी किसी भी कृति का नामकरण भ्रामक हो अन्यथा इसका परिणाम विपरीत भी हो सकता है और वह पाठकों को प्रभावित करने की अपेक्षा उसके मन पर अभीष्ट रूप से प्रभाव डालने में असफल ही रहता है अतः शीर्षक के चयन में अत्यधिक सावधानी अपेक्षित है ।

जहाँ तक प्रस्तुत काव्य-कृति के नामकरण का प्रश्न है उसका नामकरण प्रधान पात्री यशोधरा के नाम पर ही हुआ है क्योंकि कवि का मूल उद्देश्य यशोधरा का विशद चरित्र-चित्रण प्रस्तुत करना ही रहा है और कवि ने यशोधरा के चरित्र-विकास का विश्लेषण कर उसमें स्वाभिमान, त्याग, संतोष, सहनशीलता, श्रद्धा, वात्सल्य, पति-प्रेम आदि गुण बड़ी सफलता के साथ बरसाते हुए नारी-जीवन का निचोड़ ही प्रस्तुत कर दिया है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी ।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ॥

स्मरण रहे, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपने निबन्ध-संग्रह 'पंत प्रसाद और मैथिलीशरण' में संगृहीत 'पुनरुत्थान के कवि श्री मैथिलीशरण, गुप्त' शीर्षक निबन्ध में गुप्त जी की नारी-भावना पर विचार करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि "पुनरुत्थान का इन सबसे कहीं गम्भीर प्रवाह वह है जो मैथिलीशरण जी की नारियों को देखने की दृष्टि में लक्षित होता है"[1] और वास्तव में गुप्तजी को नारी-जीवन का विश्लेषण प्रस्तुत करने में पूर्ण सफलता मिली है । प्रस्तुत काव्य-कृति यशोधरा में भी उन्होंने यशोधरा के माध्यम से नारी-जीवन का विश्लेषण ही किया है तथा प्रधान पात्री यशोधरा काव्य की उपेक्षिताओं में से है और उसे अंधकार की गहन गुहा से शुभ्रालोक में लाने का श्रेय गुप्त जी को ही है । वस्तुतः यशोधरा के चित्रण में नारी-जीवन मुखरित हो उठा है क्योंकि यशोधरा रीतिकालीन नायिकाओं की भाँति रोती बिलखती नहीं अपितु वियोग-व्यथा को सहन करते हुए अपनी दशा पर गंभीरता पूर्वक विचार भी करती है—

मैं अबला, पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे ।
मैं इंद्रियासक्ति पर ! वे कब थे विषयों के चेरे ?

---

१ पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' (पृष्ठ १८)

सिद्धि मार्ग की बाधा नारी ! फिर उसकी क्या गति है ?
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझसे आज विरति है ?
अर्द्ध-विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है,
मैं भी नहीं अनाथ, जगत में मेरा भी प्रभु पति है।

और इतना ही नहीं, उसका यह भी कहना है—

जाओ नाथ ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी-
कहाँ तुम्हारी गुणगाथा में मेरी करुण कहानी ?
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधरा कर धारी।

इस प्रकार यशोधरा के नाम पर ही इस काव्य-ग्रंथ का नामकरण हुआ है जो उचित ही जान पड़ता है। साथ ही नारी अर्धांगिनी होती है लेकिन पुरुष उसे सर्वदा हेय दृष्टि से देखता आया है और यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो नारी-विहीन पुरुष-जीवन विकलांग ही है कारणकि दोनों एक गाड़ी के पहिये के समान हैं और दोनों के चरण न केवल सम होते हैं अपितु दोनों एक-दूसरे के पूरक भी हैं। चूँकि इस काव्य-कृति में यशोधरा की महत्ता पर ही विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है तथा पाठक भी उसी के चरित्र से प्रभावित होता है अतः इस दृष्टि से भी यशोधरा नाम सार्थक है। साथ ही युग-धर्म की भावना भी इस नामकरण के पीछे विद्यमान है क्योंकि कवि ने युग-युग से उपेक्षित एक नारी पात्र का चित्रण किया है और चूँकि साहित्यकार की कृति समाज का दर्पण होती है अतः सामाजिक कवि होने के नाते यशोधरा को महत्व देना आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी दृष्टियों से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत काव्य-कृति का नामकरण सार्थक और उपयुक्त है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि यशोधरा एक चरित्र-प्रधान काव्य ही है[1] और कवि की दृष्टि मूलतः यशोधरा पर ही केन्द्रित रही है तथा इसमें हम

---

१ "यशोधरा की कथावस्तु स्थूल विवरणात्मकता के साथ विन्यस्त नहीं की गई। इसमें सूक्ष्म मनोगतियों का आकलन-मात्र हुआ। यह एक संक्षिप्त भाव-कथा है, जिसकी रचना वस्तु-व्यंजना को गौण बनाकर की गई। भाव-व्यंजना और-शील निरूपण ही उद्दिष्ट वस्तुएँ है। आशय यह है कि 'यशोधरा' वर्णनात्मक खंड-काव्य नही है। वह चरित्र-प्रधान रचना है और भावाभि-व्यंजना पद्धति में रची गई है।"

—मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य —डॉ० कमलाकांत पाठक (पृष्ठ ३१७)

महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं की अपेक्षा यशोधरा के महान व्यक्तित्व की ही झाँकी पाते हैं। वस्तुतः गौतम बुद्ध तो नाममात्र के ही लिए इस कृति में आये हैं और आदि से अंत तक यशोधरा ही चित्रपटल पर अंकित रही है तथा अन्य सभी पात्रों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भी उसी से है। साथ ही यशोधरा के चरित्र को प्रस्तुत करना ही कवि का प्रमुख उद्देश्य होने के कारण प्रासंगिक कथाओं को भी इस काव्य में स्थान नहीं दिया गया। साकेत की उर्मिला तो विगत घटनाओं की स्मृति भी करती है जिससे कि कथा-सूत्र जोड़ने में सहायता भी मिल जाती है लेकिन यशोधरा के साथ यह बात नहीं है और वह तो अपनी विरह-व्यथा या फिर मातृ भावना से ही सम्पूर्ण कृति को आलोकित करती रही है। संभवतः यही कारण है कि समीक्षकों ने कथा-योजना की दृष्टि के इस काव्य-कृति को नितांत असफल मान लिया है और ऐसे भी विचारक हैं जो निस्संकोच यह निर्णय व्यक्त कर देते हैं कि "कथानक की दृष्टि से इस काव्य का कोई विशेष महत्व नहीं है" लेकिन वास्तव में यह मत युक्तिसंगत नहीं है। स्मरण रहे, यशोधरा प्रबंध-काव्य नहीं है जो कि उसमें पात्र-विशेष के जीवनकाल का क्रमबद्ध विस्तृत इतिहास मिलता हो या फिर उसके जीवन के किसी अंग-विशेष की पूर्ण वर्णनात्मक गाथा ही दी गयी हो। यों तो कवि ने स्वयं स्वीकार कर लिया है कि "भगवान बुद्ध और उनके अमृत-तत्त्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जायँ तो बहुत समझना और उनका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को है, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है।" अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपेक्षिता यशोधरा का उद्धार करना ही कवि का मूल उद्देश्य था और साकेत की उर्मिला की भाँति वे यशोधरा के विरह-वर्णन को ही अपने काव्य-ग्रंथ में विशेष महत्वपूर्ण स्थान देना चाहते थे पर जहाँ कि साकेत में राम-कथा साथ-साथ चलती रही है वहाँ यशोधरा का कवि यशोधरा तक ही सीमित रहा है।

यों तो कवि ने अपनी काव्य कृति में 'कथा-सूत्र' शीर्षक से यशोधरा की आधारवस्तु को स्वयं ही लिख दिया है[1] और उसका अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि गौतम बुद्ध की इस

---

१ देखिए—

"कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोदन के पुत्र रूप में भगवान बुद्धदेव का अवतार हुआ था। उनकी जननी मायादेवी उन्हे जन्म देकर ही मानो कृत-कृत्य होकर मुक्ति पा गईं। शुद्धोदन की दूसरी रानी नन्द-जननी महाप्रजावती ने उनका लालन-पालन किया।

**कथा में महाकाव्य के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं तथा महाभिनिष्क्रमण व मार-विजय आदि प्रसंगों को लेकर कवि के लिए कल्पना एवम् कला की**

---

उनका नाम सिद्धार्थ और गौतम भी था। सिद्धि-लाभ करके वे बुद्ध कहलाये। सुगत, तथागत और अमिताभ आदि भी उनके अनेक नाम हैं।

बाल्यकाल से ही उनमें वीतराग के लक्षण प्रकट होने लगे थे। शिक्षा प्राप्त करने पर उनकी और भी वृद्धि हुई। शुद्धोदन को चिन्ता हुई और उन्हें संसारी बनाने के लिये उन्होंने उनका ब्याह कर देना ही ठीक समझा। खोज और परीक्षा करने पर देवदरह की राजकुमारी यशोधरा ही, जिसे गोपा भी कहते हैं, उनकी वधू बनने योग्य सिद्ध हुई।

यशोधरा के पिता महाराज दण्डपाणि ने सम्बन्ध स्वीकार करने के पहले वर की विद्या-बुद्धि के साथ उनके बल-वीर्य की भी परीक्षा लेनी चाही। सिद्धार्थ ने शास्त्र-शिक्षा के साथ ही साथ शस्त्र-शिक्षा भी ग्रहण की थी। परन्तु शास्त्र की ओर ही पुत्र का मनोयोग समझकर पिता को कुछ चिन्ता हुई। तथापि कुमार सब परीक्षाओं में अनायास ही उत्तीर्ण हो गये। 'टूटत ही धनु भयेहु बिवाहू' के अनुसार यशोधरा के साथ उनका विवाह हो गया।

पिता ने उनके लिये ऐसा प्रासाद बनवाया था जिसमें सभी ऋतुओं के योग्य सुख के साधन एकत्र थे। किसी राग-रंग और आमोद-प्रमोद की कमी न थी। परन्तु भगवान तो इसके लिये अवतीर्ण नहीं हुए थे। पिता का प्रबन्ध था कि जो कुछ स्वस्थ, शोभन और सजीव हो उसी पर उनकी दृष्टि पड़े। परन्तु एक दिन एक रोगी को, दूसरे दिन एक वृद्ध को और तीसरे दिन एक मृतक को देखकर, संसार की इस गति पर गौतम को बड़ी ग्लानि एवं करुणा आई और उन्होने इसका उपाय खोजने के लिये एक दिन अपना घर छोड़ दिया। उनके इस प्रयाण को महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।

तब तक उनके एक पुत्र भी हो चुका था। उसका नाम था राहुल। अभी उसके जन्म का उत्सव भी पूरा न हुआ था कि कपिलवस्तु में उनके गृह-त्याग का शोक छा गया।

रात को अपने सेवक छन्दक के साथ कन्थक नामक अश्व पर चढ़कर वे चल दिये।

जिस प्रकार रुग्ण, वृद्ध और मृतक को देखकर वे चिंतित हुए थे उसी प्रकार एक दिन एक तेजस्वी सन्यासी को देखकर उन्हें सन्तोष भी हुआ था। अपने राज्य की सीमा पर पहुँचकर उन्होंने राजकीय वेश-भूषा छोड़कर सन्यास धारण कर लिया और रोते हुए छन्दक को कपिलवस्तु लौटा दिया। सबके लिये उनका यही संदेश था कि मैं सिद्धि-लाभ करके लौटूंगा।

उड़ान के अच्छे अवसर प्राप्त हुए हैं परन्तु यशोधरा का कवि इस व्यामोह में नहीं पड़ा और इसका कारण यही था कि वह उपेक्षिता यशोधरा का चित्रण

---

सिद्धार्थ वैशाली और राजगृह में विद्वानों का सत्संग करते हुए गयाजी पहुंचे। राजगृह के राजा बिम्बसार ने उन्हें अपने राज्य का अधिकार तक देकर रोकना चाहा, परन्तु वे तो स्वयं अपना राज्य छोड़कर आये थे। हाँ सिद्धि-लाभ करके बिम्बसार को दर्शन देना उन्होंने स्वीकार कर लिया।

राजगृह से पाँच ब्रह्मचारी भी तप करने के लिये उनके साथ हो लिये थे, जो पंचभद्रवर्गीय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

निरंजना नदी के तीर पर गौतम ने तपस्या आरम्भ कर दी। बरसों तक वे कठोर साधना करते रहे परन्तु सिद्धि का समय अभी नहीं आया था।

उनका विगलित-वस्त्र शरीर आतप, वर्षा, शीत और क्षुधा के कारण ऐसा अवश और जड़ हो गया कि चलना-फिरना तो दूर, उनमें हिलने-डुलने की भी शक्ति न रह गई। विचार करने पर उन्हें यह मार्ग उपयुक्त सा जान पड़ा और उन्होंने मिताहार करना स्वीकार करके योग-साधन करना उचित समझा। किन्तु उनके साथी पाँचों भिक्षुकों ने उन्हें तपोभ्रष्ट समझकर उनका साथ छोड़ दिया।

गौतम ने उनकी निन्दा पर दृष्टिपात भी नहीं किया। वे निन्दास्तुति से ऊपर उठ चुके थे, परन्तु निर्बलता के कारण वे भिक्षा करने के लिये भी न जा सकते थे। इधर उनके शरीर पर वस्त्र भी न था। उसकी उन्हें आवश्यकता भी न थी। परन्तु लोक में भिक्षा करने के लिये जाने पर लोक की मर्यादा का विचार वे कैसे छोड़ते ?

किसी प्रकार खिसक कर पास के श्मशान से एक वस्त्र उन्होंने प्राप्त किया और उसे धारण कर लिया।

गाँव की कुछ लड़कियाँ उन्हें कुछ आहार दे जाती थीं। उसीसे उनमें चलने-फिरने की शक्ति आ गई। सुजाता नाम की एक स्त्री ने उन्हें बड़ी सुस्वादु खीर भेंट की थी। उसे खाकर कहते हैं, भगवान बहुत तृप्त हुए थे।

एक दिन निरंजना नदी को पार कर उन्होंने एकान्त में एक अश्वत्थ वृक्ष देखा। वह स्थान उन्हें समाधि के लिये बहुत उपयुक्त जान पड़ा। अंत में वही वृक्ष बोधिवृक्ष कहलाया और वहीं समाधि में निर्वाण का तत्त्व उनको दृष्टिगोचर हुआ।

इसके पहले स्वयं मार (कामदेव) ने उन्हें उस मार्ग से विरत करना चाहा। क्योंकि वह विषयों का विरोधी मार्ग था। सुन्दरी अप्सराएँ उनके सामने प्रकट हुईं। परन्तु वे ऐसे ऋषि-मुनि न थे जो डिग जाते।

**करना चाहता था। साथ ही इस काव्य-कृति की शैली सूरसागर की भाँति गीतात्मक प्रबंध-काव्य की शैली होते हुए भी वह उनकी एक अन्य काव्य कृति द्वापर के ही बहुत कुछ अनुरूप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यशोधरा में एक एक पात्र सम्मुख आता है और वह गीतों के रूप में आत्माभिव्यक्ति करता है तथा इस तरह कुछ थोड़े से पात्रों को लेकर ही कथानक का निर्माण**

---

मार ने लुभाने की ही चेष्टा नहीं की, उन्हें डराया-धमकाया भी। कितनी ही विभीषिकाएं उनके सामने आईं, परन्तु वे अटल रहे।

स्वयं जीवन्मुक्त होकर भगवान ने जीवमात्र के लिये मुक्ति का मार्ग खोल दिया। कर्मकांड के आडम्बर की अपेक्षा सदाचार को उन्होंने प्रधानता दी और यज्ञों के नाम से होने वाली जीवहिंसा का घोर विरोध किया।

जो पाँच भिक्षु उनका साथ छोड़कर चले गये थे उन्हीं को सबसे पहले भगवान के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। संसार भर में जिसकी धूम मच गई, काशी के समीप सारनाथ में ही आरम्भ में, उस धर्मचक्र का प्रवर्तन हुआ। वे भिक्षु उन दिनों वहीं थे।

रोहिणी नदी के तीर पर कपिलवस्तु में भी यह समाचार कैसे न पहुँचता ? शुद्धोदन ने बुद्धदेव को बुलाने के लिये दूत भेजे। परन्तु जो-जो उन्हें लेने के लिये गये थे वे सब उनके दर्शन और उपदेश से स्वयं संसार त्यागी होकर उनके संघ में दीक्षित हो गये। अंत में शुद्धोदन ने अपने मंत्रि-पुत्र को जो सिद्धार्थ का बाल्यसखा था, उन्हें लेने के लिये भेजा। वह भी भगवान के संघ में प्रविष्ट हो गया परन्तु शुद्धोदन से प्रतिज्ञा कर आया था, इसलिए भगवान को उनका स्मरण दिलाना न भूला।

भगवान कपिलवस्तु पधारे। रात को वे नगर के बाहर उद्यान में रहे। सबेरे नियमानुसार भिक्षा के लिये निकले। इस समाचार से वहाँ हलचल मच गई। यशोधरा को बड़ा परिताप हुआ। शुद्धोदन ने खेदपूर्वक उनसे कहा—'क्या यही हमारे कुल की परिपाटी है ?' भगवान् ने कहा—'नहीं, यह बुद्ध-कुल की परिपाटी है ?'

भगवान् राजप्रासाद में पधारे। सबने उनका उचित स्वागत-समादर किया। परन्तु यशोधरा उस समारोह में सम्मिलित न हुई। उससे कहा गया तो उसने यही कहा –'भगवान की मुझ पर कृपा होगी तो वे स्वयं ही मेरे समीप पधारेंगे।' अन्त में भगवान् ही उसके निकट गये और उस समय भी इस महीयसी महिला ने उन्हें राहुल का दान देकर अपने महात्याग का परिचय दिया।"

—यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त (पृ० ९-१०)

हुआ है। काव्य की प्रधान पात्री यशोधरा और राहुल-जननी के नाम से बार बार आती है। संभवतः उसके द्वैध चरित्र के कारण ही कवि को यह योजना करनी पड़ी है और हम देखते हैं कि जहाँ विरहिणी यशोधरा का एकांतिक चित्रण हुआ है वहाँ तो वह यशोधरा ही है लेकिन जहाँ वह करुणा की प्रतिमूर्ति राहुल की माता के रूप में अंकित हुई है वहाँ वह राहुल-जननी कही गयी है।[1] इसके अतिरिक्त सिद्धार्थ, महाभिनिष्क्रमण, यशोधरा, नंद, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन और छंदक गौतम बुद्ध के गृहत्याग से सम्बन्धित हैं अतः उनके मुख से कथा का पूर्वभाग ही कहलाया गया है।

इस प्रकार यशोधरा में कवि ने ऐतिहासिक कथा के रमणीय अंशों को ही अपनाया है लेकिन उसने कहीं भी अवांछनीय प्रसंगों की योजना नहीं की और न कहीं अनैतिकता ही आने दी है।[2] साथ ही इस काव्यग्रंथ की कथा-वस्तु पर विचार करते समय हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम यशोधरा के अध्यायों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करें और हम

---

१ "यशोधरा शीर्षक काव्यांश के प्रगीतों में नायिका की उस मनस्थिति का चित्रण हुआ है जिसमें वह यह निश्चय नहीं कर पाई है कि वह संबोधि का किस भाँति स्वागत करे ? यथा—

देकर क्या पाऊँगी मैं तुम्हें कहो मेरे, देव,
लेकर क्या सम्मुख तुम्हारे अहो, आऊँगी ?
मानस में रस है परन्तु उसमें है क्षार
बस में यही है बस आँखें भर लाऊँगी।।
वर्ष तुम उद्धव समान यदि आये यहाँ,
एक नवता-सी मैं उसी में फब जाऊँगी।
मेरे प्रतिपाल, तुम प्रलय समान आये,
तो भी मैं तुम्हीं में हाल बेला-सी विलाऊँगी।

राहुलजननी शीर्षक काव्यांश में माता और पुत्र ने अपनी चरम प्रतीक्षा और आसन्न मिलन की मनस्थिति अभिव्यंजित की है।"

—मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य—डॉ० कमलाकांत पाठक (पृष्ठ ३१७)

२ "कथा का पूर्वार्द्ध चिर-विश्रुत एवं इतिहास-प्रसिद्ध है पर उत्तरार्द्ध कवि की अपनी उर्वर कल्पना की सृष्टि है। इस प्रकार साहित्य के उपेक्षित पात्र यशोधरा का पुरस्करण हुआ है। किन्तु यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि यशोधरा की चरित्र-सर्जना के साथ-साथ बौद्ध सिद्धान्तों का खंडन करके वैष्णव विश्वासों का संस्थापन अथवा मंडन भी निश्चित रूप से कवि का उद्देश्य रहा है, ठीक उसी तरह जैसे कि साकेत के निर्माण में उर्मिला की

देखते हैं कि उसमें 'मंगलाचरण' के अतिरिक्त सिद्धार्थ, महाभिनिष्क्रमण, यशोधरा, नंद, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन, छंदक, यशोधरा, राहुल-जननी, यशोधरा, राहुल-जननी, यशोधरा, राहुल-जननी, संधान, यशोधरा, राहुल-जननी, यशोधरा तथा बुद्धदेव नामक उन्नीस अध्याय हैं और इन्हीं अध्यायों में विकसित होती हुई कथा अंत में सम्पूर्णता को प्राप्त करती है। 'मंगलाचरण' में कवि ने इष्टदेव राम की वंदना करने के पश्चात गौतम बुद्ध से भक्ति प्रदान करने की प्रार्थना की है और वह मुक्ति की अपेक्षा भक्ति की ही याचना करता है:--

राम तुम्हारे इसी धाम में,
नाम - रूप - गुण - लीला - लाभ ;
इसी देश में हमें जन्म दो,
लो, प्रणाम हे नीरज नाभ ।
धन्य हमारा भूमि - भार भी,
जिसमें तुम अवतार धरो ;
भुक्ति - मुक्ति माँगें क्या तुमसे,
हमें भक्ति दो, ओ अमिताभ ।

इस 'मंगलाचरण' के पश्चात 'सिद्धार्थ' नामक अध्याय से कथा आरंभ हो जाती है और इस पहले अध्याय में ही हम सिद्धार्थ को संसार के रोग, शोक, जरा, मृत्यु आदि के विषय में चिंतन करते हुए देखते हैं और कथारम्भ में ही उनकी चिन्तनशीलता स्पष्ट दीख पड़ती है:--

घूम रहा है कैसा चक्र ।
वह नवनीत कहाँ जाता है, रह जाता है तक्र ॥
पिसो, पड़े हो इसमें जब तक,
क्या अंतर आया है अब तक
सहें अंततोगत्वा कब तक—
हम इसकी गति वक्र ?
घूम रहा है कैसा चक्र ।

इस प्रकार की आंतरिक जिज्ञासा के पश्चात सिद्धार्थ सोचते हैं कि क्या उनकी रूपवती पत्नी यशोधरा भी वृद्ध हो जाएगी और जिस उपवन

---

परिकल्पना के साथ-साथ राम-काव्य का प्रणयन भी उसका ध्येय रहा है। कथानक अत्यन्त सरस, सजीव एवं रोचक है।"

—मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता—
डॉ० उमाकांत (पृष्ठ ३६)

को वह आज हरा भरा देख रहे हैं वह भी सूख जायगा।[1] व्यक्तिगत सुख-वैभव के साधनों को वह अब व्यर्थ समझते हैं और उनका कहना है कि यौवन तथा जीवन अभी कुछ तो अस्थायी ही है[2] अतः अब वह स्वयं अपने आपसे कहते हैं:—

कपिल भूमि – भागी, क्या तेरा
यही परम पुरुषार्थ हाय।
खाय-पिये, बरु जिये-मरे तू,
यों-ही फिर-फिर आय-जाय॥
अरे योग के अधिकारी, कह,
यही तुझे क्या योग्य हाय।
भोग-भोग कर मरे रोग में,
बस वियोग ही हाथ आय॥
सोच हिमालय के अधिवासी,
यह लज्जा की बात हाय।
अपने आप तपे तापों से,
तू न तनिक भी शांति पाय॥

और स्वयं के लिए वह यही सोचते हैं:—

अमृतपुत्र, उठ कुछ उपाय कर,
चल, चुप हार न बैठ हाय।
खोज रहा है क्या सहाय तू?
मेट आप ही अंतराय॥

तथा अंत में यही निश्चय करते हैं:—

पड़ी रह तू मेरी भव भुक्ति।
मुक्ति हेतु जाता हूँ यह मैं, मुक्ति, मुक्ति बस मुक्ति।
मेरा मानस-हंस सुनेगा और कौन सी युक्ति?
मुक्ताफल निर्द्वन्द्व चुनेगा, चुन ले कोई शुक्ति॥

---

१ देखी मैंने आज जरा?
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा?
हाय मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा?
सूख जायगा मेरा उपवन, जो है आज हरा।

२ मरने को जग जीता है।
रिसता है जो रंध्र—पूर्ण घट,
भरा हुआ भी रीता है।

'महाभिनिष्क्रमण' शीर्षक दूसरे अध्याय में सिद्धार्थ जगत की अनित्यता पर विचार करते हुए व्याकुल से हो जाते हैं[1] और सांसरिक ऐषणाओं में लिप्त रहने के कारण उनका मन उन्हें स्वयं धिक्कारता है[2]

यह भी पता नहीं, कब किसको,
समय कहाँ आ बीता है ?
विष का ही परिणाम निकलता,
कोई रस क्या पीता है ?

१ रख अब अपना यह स्वप्न जाल,
निष्फल मेरे ऊपर न डाल ।
मैं जागरूक हूँ, ले सँभाल—
निज राज-पाट, धन धरणि, धाम ।
ओ क्षण भंगुर भव, राम राम ।।

रहने दे वैभव यशःशोभ,
जब हमीं नहीं, क्या कीर्ति लोभ ।
तू क्षम्य, करूँ क्यों हाय क्षोभ—
थम, थम, अपने को आप थाम ।
ओ क्षण भंगुर भव राम राम ।।

२ रूपाश्रय तेरा तरुण गात्र,
कह, वह कब तक है प्राण-पात्र ?
भीतर भीषण कंकाल मात्र ।
बाहर बाहर हैं टीम-टाम ।
ओ क्षण भंगुर भव, राम राम ।।

प्रच्छन्न रोग हैं, प्रकट भोग,
संयोग मात्र भावी वियोग ।
हा लोभ - मोह में लीन लोग ;
भूले हैं अपना अपरिणाम ।
ओ क्षण भंगुर भव राम राम ।।

यह आर्द्र - शुष्क, यह उष्ण - शीत,
यह वर्त्तमान, यह तू व्यतीत ।
तेरा भविष्य क्या मृत्यु - भीत ।
पाया क्या तूने घूम - घाम ?
ओ क्षण भंगुर भव राम-राम ।

तथा वे अपने कर्त्तव्य का निश्चय कर लेते हैं।[१] सिद्धार्थ अपनी पत्नी गोपा–यशोधरा–और राहुल को अंतिम बार देखते हैं तथा पत्नी को जगाने और उससे अनुमति प्राप्त करने का विचार छोड़[२] छंदक द्वारा कंथक

---

१ इस मध्य निशा में ओ अभाग,
तुझको तेरे ही अर्थ त्याग
जाता हूँ मैं वह वीतराग,
दयनीय, ठहर तू क्षीण क्षाम।
ओ क्षणभंगुर भव राम राम॥

× × ×

हे ओक, न कर तू रोक-टोक,
पथ देख रहा है आर्त्तलोक
मेटूँ मैं उसका दुःख-शोक,
बस, लक्ष्य यही मेरा ललाम।
ओ क्षणभंगुर भव राम राम॥

मैं त्रिविध-दुःख-विनिवृत्ति-हेतु,
बाँधू अपना पुरुषार्थ – सेतु ;
सर्वत्र उड़ें कल्याण—केतु।
तब है मेरा सिद्धार्थ नाम।
ओ क्षणभंगुर भव राम राम॥

× × ×

तब जन्मभूमि तेरा महत्त्व,
जब मैं ले आऊँ अमृत-तत्त्व
यदि पा न सके तू सत्य सत्त्व,
तो सत्य कहाँ, भ्रम और भ्राम।
ओ क्षणभंगुर भव राम राम॥

२ आये गोपे, तेरी गोद पूर्ण,
तू हास–विलास–विनोद–पूर्ण।
अब गौतम भी हो मोद–पूर्ण।
क्या अपना विधि है आज वाम ?
ओ क्षणभंगुर भव राम राम॥

क्या तुम्हें जगाऊँ एक बार ?
पर है अब भी अप्राप्त सार ;
सो अभी स्वप्न ही तू निहार,

अश्व मँगवा कर रात्रि के समय विश्व-कल्याण-हेतु निकल पड़ते हैं।

'यशोधरा' शीर्षक तीसरे अध्याय में वियोगिनी गोपा प्रारंभ में अपनी सखी से स्वप्न में प्रिय-वियोग की घटना का उल्लेख कर[1] अपने विगत जीवन की स्मृतियों तथा पति के बिना कुछ कहे-सुने गृह-त्याग करने पर रुदन करती है। वह कहती है कि उसे पहले ही यह भय था कि कहीं उसके प्रियतम सन्यास न ग्रहण कर लें परन्तु वह—सिद्धार्थ—हमेशा उसे बातों में बहला लिया करते थे[2] लेकिन आज वही शंका सत्य हुई। यशोधरा का कहना है—

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात।
पर चोरी चोरी गये, यही बड़ा व्याधात॥

उसे अपने पति के गृह त्याग का दुःख नहीं है क्योंकि वह तो किसी उद्देश्य विशेष से ही बन गये हैं पर उसे वेदना केवल इस बात की है कि उसके स्वामी ने उसे पूर्णतः पहचाना नहीं तथा उसे अपनी पथ-बाधा ही समझाः—

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ - बाधा ही पाते?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

---

हे शुभे, श्वेत के साथ श्याम।
ओ क्षण भंगुर भव, राम राम॥

१ नाथ कहाँ जाते हो?
अब भी यह अंधकार छाया है।
हा! जग कर क्या पाया,
मैंने वह स्वप्न भी गँवाया है!

२ आली, वही बात हुई, भय जिसका था मुझे,
मानती हूँ उनको गहन–वन–गामी मैं;
ध्यान मग्न देख उन्हें एक दिन मैंने कहा—
क्यों जी प्राणवल्लभ कहूँ या तुम्हें स्वामी मैं?
चौंक, कुछ लज्जित से बोले हँस आर्यपुत्र—
योगेश्वर क्यों न होऊँ, गोपेश्वर नामी मैं।

यशोधरा का कहना है कि भारतीय नारियाँ तो स्वयं ही क्षात्रधर्म का निर्वाह करने के हेतु अपने पति को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर युद्ध के लिए सहर्ष विदा कर देती थीं अतः फिर सिद्धि-प्राप्त के हेतु वन जाते समय वह अपने पति को कैसे रोक सकती थी।[1] यशोधरा को स्वयं अपने पति को विदा करने का अवसर न मिला अतः उसे इसी बात का विशेष दुःख है[2] और अपनी तत्कालीन शारीरिक दशा का वर्णन करते हुऐ वह कहती है कि उसके पति सिद्धार्थ ने वन जाकर उचित ही किया और वे सुख के साथ सिद्धि प्राप्त करें तथा कभी भी उसके दुख से पीड़ित न हों—

नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इनमें जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते ?
गये तरस ही खाते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।
जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

अंत में यशोधरा यह निश्चय कर कि 'हा ! गर्विता तुम्हारी मौन रहूँगी, सहूँगी मैं' अपनी इस वियोग जन्य पीड़ा को स्वयं ही सहन करने का निश्चय करती है।

---

किन्तु चिन्ता छोड़ो, किसी अन्य का विचार करूँ,
तो हूँ जार पीछे, प्रिये ! पहले हूँ कामी मैं ॥

१ स्वयं सुसज्जित करके क्षण में
प्रियतम को, प्राणों के पण में
हमीं भेज देती हैं रण में—
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि वे मुझसे कहकर जाते।

२ हुआ न यह भी भाग्य अभागा
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिसने अपनाया था, त्यागा।
रहे स्मरण ही आते !
सखि वे मुझसे कहकर जाते।

'नंद शीर्षक' चौथे अध्याय में सिद्धार्थ के अनुज नंद शोक करते हुए दिखाई देते हैं और वह सिद्धार्थ के इस प्रकार गृह-त्याग करने को अपने आप पर अत्याचार ही समझते हैं तथा कहते हैं—

राज्य तुम्हारा प्राप्य, मुझे ही था तप का अधिकार।

'महाप्रजावती' शीर्षक पाँचवें अध्याय में महाप्रजावती जिन्होंने कि सिद्धार्थ का पालन पोषण किया था चिंतातुर दीख पड़ती हैं—

मैंने दूध पिलाकर पाला।
सोती छोड़ गया पर मुझको वह मेरा मतवाला?
कहाँ न जाने वह भटकेगा,
किस झाड़ी में जा अटकेगा
हाय उसे काँटा खटकेगा,
वह है भोला भाला।
मैंने दूध पिलाकर पाला।

'शुद्धोदन' शीर्षक छठे अध्याय में पिता शुद्धोदन भी चिंतामग्न दीख पड़ते हैं तथा अपना दुःख प्रकट करते हुए वह सोचते है कि उन्होंने अपने पुत्र को वीतरागी बनने से रोकने के लिए न जाने कितने उपाय किए पर वह गृह-त्याग कर चला ही गया।[1] अपनी पुत्र-वधू यशोधरा से चरों द्वारा उसे खोजने की बात कहते हैं[2] लेकिन वह त्यागमूर्ति इसे धर्म-विरुद्ध समझती है और उनसे यही कहती है—

उनकी सफलता मनाओ तात, मन से।
सिद्धि लाभ करके वे लौटे शीघ्र वन से॥

तब स्वयं नंद भी यही कहते हैं—

तू है सती मान्य रहे इच्छा तुझे पति की।
मैं हूँ पिता, चिन्ता, मुझे पुत्र की प्रगति की।

---

१ मैंने उसके अर्थ यह, रूपक रचा विशाल,
किन्तु भरी खाली गई, उलट गया वह ताल,
चला गया रे चला गया!
× × ×
उसे फूल-सा रक्खा पाल,
गया गंध-सा वह इस काल।
यह विष-फल, काँटे सा साल,
फला गया रे, फल गया!
चला गया रे, चला गया!

२ तू क्या कहती है बहू, पाऊँ मैं जहाँ कहीं,
चतुर चरों को भेज खोजूँ भी उसे नहीं।

'पुरजन' शीर्षक सातवें अध्याय में पुरवासी दुखी होते हैं[1] और उधर छंदक भी कंथक के साथ लौट आता है तथा आठवें अध्याय में छंदक सिद्धार्थ का समाचार सुनाते हुए कहता है कि किस प्रकार उन्होंने अपने केश काटकर सन्यासी का वेश ग्रहण किया तथा यही संदेश सबके लिए भिजवाया है कि—

करे न कोई मेरी चिन्ता, नहीं मुझे भय लेश,
सिद्धि लाभ करके मैं फिर भी लौटूँगा निज देश।
सह सकता मैं नहीं किसी का जन्म-जन्म का क्लेश।
तुम अपने हो जीव मात्र का हित मेरा उद्देश।

नवें अध्याय में यशोधरा भी स्वयं अपने स्वामी का अनुसरण करती है और सन्यासियों का सादावेश धारण कर स्वयं अपने सिर के बाल काट डालती है।[2] तीसरे अध्याय की भाँति इसमें भी सरसता व करुणा की तीव्र मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है और एक ओर तो यशोधरा विलाप करते हुए कहती है--

मिला न हा! इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग!
देती उन्हें विदा मैं गाकर,
भार झेलती गौरव पाकर,
यह निःश्वास न उठता हा कर।
बनता मेरा राग न रोग।
मिला न हा! इतना भी योग!

और दूसरी ओर उसे अपना कर्त्तव्य भी याद आ जाता है--

स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार,
छोड़ गये मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार।

---

१ भाई रे! हम प्रजाजनों का हाय! भाग्य ही खोटा!
गये आज सिद्धार्थ हमारे,
जो थे इन प्राणों के प्यारे;
भार मात्र कोई अब धारे;
राज्य धूलि में लोटा!

२ जाओ मेरे सिर के बाल!
आलि कर्त्तरी ला, मैंने क्या पाले काले व्याल?
उलझे यहाँ न ये आपस में सुलझें वे व्रत-पाल;
डसें न हाय! मुझे एड़ी तक विस्तृत ये विकराल!
कसे न और मुझे अब आकर हेमहीर, मणिमाल!

इसी अध्याय में यशोधरा विगत घटनाओं की ओर संकेत करते हुए स्मृति रूप में स्वयंवर की घटना का भी उल्लेख करती है[1] और कहती है कि उसके पति ने जो उसे सिद्धि-मार्ग में बाधक समझ कर ही उसे चुपचाप सोती हुई छोड़कर महाभिनिष्क्रमण किया था तो यदि वास्तव में नारी सिद्धि-मार्ग में बाधक होती है तब तो फिर इस जगत में नारी-जाति का अस्तित्व ही व्यर्थ समझना चाहिए।[2] इसी अध्याय में छहों ऋतुओं में यशोधरा की वियोग-दशा का सजीव चित्रण भी किया गया है पर विरहिणी यशोधरा यही चाहती है कि उसके पति की तपस्या के फलस्वरूप समस्त

---

१ मेरे लिए पिता ने सबसे धीर-वीर वर चाहा,
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हठ कर हाय! वृथा ही उन्हें उन्होंने थाहा,
किस योद्धा ने बढ़कर उनका शौर्य सिन्धु अवगाहा?
क्यों कर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी वारी।

देख कराल-काल सा जिसको काँप उठे सब भय से,
गिरे प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन, नागदत्त जिस हय से,
वह तुरंग पालित-कुरग-सा नत हो गया विनय से?
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय से?
निकला वहाँ कौन उन जैसा प्रबल पराक्रमकारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी!

सभी सुन्दरी बालाओं में मुझे उन्होंने माना,
सबने मेरा भाग्य सराहा, सबने रूप बखाना।
खेद, किसी ने उन्हें न फिर भी ठीक ठीक पहचाना,
भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना।
इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी।

२ सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी! फिर उसकी क्या गति है?
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझसे आज विरति है!
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है!
मैं भी नहीं अनाथ जगत में, मेरा भी प्रभु पति है!
यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार-भय भारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी।

विश्व का कल्याण हो और यह सारा जगत उनकी सिद्धि से लाभ उठाए तथा वह स्वयं भी उनके मार्ग में बाधक नहीं होना चाहती—

आशा से आकाश थमा है, श्वास-तन्तु कब टूटे ?
दिन मुख दमके, पल्लव चमके, भव ने नव रस लूटे।
स्वामी के सद्भाव फैलकर फूल फूल में फूटे,
उन्हें खोजने को ही माना नूतन निर्झर छूटे !
उनके श्रम के फल सब भोगें,
यशोधरा की विनय यही,
मने ही क्या सहा, सभी ने,
मेरी बाधा व्यथा सही।

राहुल-जननी शीर्षक दसवें अध्याय में कवि ने राहुल के प्रति यशोधरा की वात्सल्यपूर्ण भावनाओं का चित्रण किया है और अध्याय के प्रारंभ में ही वह अपने रोते हुए पुत्र को चुप कराती दीख पड़ती है—

चुप रह, चुप रह, हाय अभागे !
रोता है अब किसके आगे ?
तुझे देख पाते वे रोता,
मुझे छोड़ जाते क्यों सोता !
अब क्या होगा ? तब कुछ होता,
सोकर हम खोकर ही जागे !
चुप रह, चुप रह, हाय अभागे !

और इसके उपरांत नारी जीवन की करुण-कथा की ओर संकेत कर वह स्पष्ट कर देती है कि उसने जीवन भर त्याग ही किया है। उसका कहना है कि कल तक वह रानी थी पर अब उसे अपने पति की सेविका बनने का अवसर भी न मिल सका और अब तो वह आँचल में दूध धारण किए पुत्र राहुल का पालन-पोषण कर रही है तथा पति-वियोग में अश्रु बहा रही है।[1]

---

१ चेरी भी वह आज कहाँ, कल थी जो रानी ;
दानी प्रभु ने दिया उसे क्यों मन यह मानी ?
अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।
मेरा शिशु संसार वह, दूध पिये, परिपुष्ट हो,
पानी के ही पात्र तुम, प्रभो रुष्ट या तुष्ट हो।

वियोगिनी यशोधरा पति को सम्बोधित कर कहती है कि वह आएँ और देखें कि उनका पुत्र कितना सुन्दर है[1] तथा अपनी जीवन-नौका को जर्जर मानते हुए भी वह पुत्र के पालन-पोषण के लिए जीवित रहने को विवश है क्योंकि वह तो उसके पति की अनमोल थाती है। इसी अध्याय में कवि ने यशोधरा द्वारा बालक राहुल की दंत-पंक्ति की प्रशंसा करवाते हुए[2] पृथक्-पृथक् प्रगीतों में राहुल की बाल-लीलाओं का भी संकेत किया है और इस प्रकार राहुल की परछाईं देखकर डरना[3] चन्द्र-खिलौना लेने की हठ करना,[4] स्वाभाविक ही रह रहकर माता को पुकारना तथा

---

१ यह छोटा-सा छौना।
कितना उज्जवल, कैसा कोमल, क्या ही मधुर सलौना।
क्यों न हँसूँ, रोऊँ-गाऊँ मैं, लगा मुझे यह टौना
आर्यपुत्र, आओ, सचमुच मैं दूँगी चन्द खिलौना।

२ किलक अरे मैं नेक निहारूँ।
इन दाँतों पर मोती वारूँ॥
पानी भर आया फूलों के मुँह में आज सबेरे,
हाँ, गोपा का दूध जमा है राहुल! मुख में तेरे।
लटपट चरण, चाल अटपट सी मनभाई है मेरे,
तू मेरी अँगुली धर अथवा मैं तेरा कर धारूँ।
इन दाँतों पर मोती वारूँ॥

३ ओ माँ आँगन में फिरता था
कोई मेरे संग लगा;
आया ज्योंही मैं अलिन्द में
छिपा न जाने वहाँ भगा।
बेटा भीत न होना, वह था
तेरा ही प्रतिबिम्ब जगा;
अम्ब भीति क्या? मृषभ्रान्ति वह
रह तू रह तू प्रीति-पगा।

४ तब कहता था—लोभ न दे अब
चन्द खिलौने की रट क्यों!
तब कहती थी—दूँगी बेटा?
माँ अब इतनी खटपट क्यों?
कह तो झूठमूठ बहला दूँ? पर वह होगी माया,
मुझको भी शैशव में शशि की थी ऐसी ही माया!

बड़े होने पर पिता के सम्बन्ध में जिज्ञासा करना[1] व माता से कहानी सुनाने की हठ करना[2] आदि घटनाएँ अंकित हैं। इधर ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धि परिपक्व होती है त्यों-त्यों वह माता द्वारा कथित बातों में से करुणापूर्ण तथा महत्वशाली प्रसंगों को समझने के लिए प्रश्न भी करता है[3] और इससे स्पष्ट हो जाता है कि शनैः-शनैः वह अब अपनी माता की व्यथा को

किन्तु प्रसू बनकर अब मैंने उसको तुझमें पाया,
पिता बनेगा, तभी पायगा तू वह धन मन भाया ।।

१ अम्ब तात कब आयेंगे ।
धीरज धर बेटा, अवश्य हम उन्हें एक दिन पायँगे ।

× × ×

माँ तब पिता पुत्र हम दोनों संग-संग फिर जायँगे ।
देना तू पाथेय प्रेम से विचर-विचर कर खायँगे ।
पद अपने इने दूने दिन तुझको कैसे भायँगे ?

२ अम्ब यह पंछी कौन, बोलता है मीठा बड़ा,
जिसके प्रवाह में तू डूबती है बहती ।
बेटा यह चातक है, माँ क्या कहता है यह,
पी-पी किन्तु दूध की तुझे क्या सुध रहती ।।
और यह पक्षी कौन बोला वाह ! कोयल है,
माँ क्यों इस कू-कू पर तू हूक सी है सहती ?
कहती उमंग से है मेरे संग-संग अहो !,
कहो-कहो किन्तु तू कहानी नहीं कहती ।

३ राहुल
अम्ब मेरी बात कैसे तुझ तक जाती है ?
यशोधरा
बेटा, वह वायु पर बैठ उड़ आती है ।
राहुल
होंगे जहाँ तात क्या न होगा वायु माँ वहाँ ?
यशोधरा
बेटा, जगत्प्राण वायु व्यापक, नहीं कहाँ ?
राहुल
क्यों अपनी बात वह ले जाता वहाँ नहीं ?
यशोधरा
निज ध्वनि फैल कर लीन होती है यहीं ?

समझने लग गया है। वह पिता के समीप उड़ जाना चाहता है[1] और माता यशोधरा उसे सिद्धार्थ द्वारा हंस के प्राण-रक्षा करने की कथा सुनाती है तथा जब कहानी के अंत में उसके विचार जानना चाहती है तब वह कहता है:—

> कोई निरपराध को मारे,
> तो क्यों अन्य उसे न उबारे?
> रक्षक पर भक्षक को वारे।
> न्याय दया का दानी।

इस प्रकार इक्कीस गीतों के इस अध्याय में कथा-विकास काफी गतिशील रहा है।

ग्यारहवें अध्याय में यशोधरा पुनः विगत एवं वर्तमान जीवन के संबंध में वियोग पूर्ण उद्गार प्रकट करती हुई अंकित की गयी है और अंत में वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचती है:--

> अब क्या रक्खा है रोने में?
> इन्दु कले, दिन काट शून्य के किसी एक कोने में।

'राहुल-जननी' शीर्षक बारहवां अध्याय आकार में विशद है और इस चालीस पृष्ठों के अध्याय में कवि की काव्य-शैली में विविधात्मकता सी दीख पड़ती है। प्रारम्भ के चार गीतों में तो राहुल को जगाने[2], राहुल के

---

१ विहग समान यदि अम्ब पंख पाता मैं,
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मैं।
मंडल बनाकर मैं घूमता गगन में,
और देख लेते पिता बैठे किस वन में।

२ तात! रात बीती वह काली,
उजियाली ले आई लाली,
लदी मोतियों से हरियाली,
ले लीलाशाली निज भाग।
जाग, दुःखिनी के सुख जाग!

किरणों ने कर दिया सबेरा,
हिमकण-दर्पण में मुख हेरा,
मेरा मुकुर मंजु मुख तेरा,
उठ, पंकज पर पड़े पराग।
जाग, दुःखिनी के सुख जाग!

स्वप्न-वर्णन[1], यशोधरा की वत्सल भावनाओं और डिठौना लगाने के लिए अनुरोध करने का चित्रण है[2] तथा स्वयं राहुल भी बाल्योचित सरलता से यही कहता है—

कैसी डीठ ? कहाँ का टौना,
मान लिया आँखों में अंजन, माँ किसलिए डिठौना ?

इसी अध्याय के पाँचवें भाग में एक छोटा सा रूपक भी है जिसमें यशोधरा, राहुल, गंगा, गौतमी और चित्रा-विचित्रा आदि पात्र हैं तथा इसके अंतर्गत कपिलवस्तु के राजोपवन के अलिन्द में होने वाला सरस वार्तालाप भी विणत है और जब यशोधरा की सहेलियां सिद्धार्थ के कार्य की आलोचना करती हैं तो वह अपने पति के कार्य का समर्थन ही करती हैं; देखिए "नहीं, वे अपने दुःख का भागी बनाकर हमें अपना सच्चा आत्मीय सिद्ध कर गये हैं और हम सबके सच्चे सुख की खोज में ही गये हैं। इधर राहुल भी अब वयस्क हो चला है और यशोधरा उसे शिष्टाचार, आदर्श व्यवहार तथा मितभाषिता आदि की शिक्षा देती है। इसी भाग में राहुल की अपने से बड़ों के प्रति सम्मान-भावना, प्रश्नों का अनुकूल जवाब देना, माता के प्रति

---

१ अम्ब स्वप्न देखा है रात,
लिये मेष—शावक गोदी में खिला रहे हैं तात।
उसकी प्रसू चाटती है पद करके प्रणिपात,
घेरे हैं कितने पशु ! पक्षी, 'कितना यातायात !
ले लो मुझको भी गोदी में सुन मेरी यह बात,
हँस बोले—असमर्थ हुई क्या तेरी जननी ? जात !
आँखें खुल गईं सहसा मेरी, माँ, हो गया प्रभात,
सारी प्रकृति सजल है तुझ-सी भरे अश्रु अवदात।

२ उबटन कर नहलाऊँ तुझको,
खिला पिला कर पट पहनाऊँ।
रीझ - खीझ कर रूठ - मना कर,
पीड़ा को भी क्रीड़ा कर लाऊँ।
यह मुख देख-देख दुख में भी,
सुख से दैव-दया-गुण गाऊँ।
स्नेह-दीप उनकी पूजा का,
तुझमें यहाँ अखंड जगाऊँ।
डीठ न लगे, डिठौना देकर,
काजल लेकर तुझे लगाऊँ।

अगाध स्नेह एवं आदर करना तथा श्रद्धा और कर्त्तव्य परायणता आदि बातें भी हम देखते हैं। साथ ही यशोधरा के ही त्यागमय जीवन का पूर्ण चित्रण भी इसी भाग में अंकित है और हम देखते हैं कि किस प्रकार वह राहुल को खीर खिलाती है लेकिन स्वयं तो फल तथा दूध ही ग्रहण करती है।[1] इसी अध्याय में राहुल

---

१ राहुल

आहा! खीर बड़ी स्वादिष्ट है। माँ, तू नहीं खाती तो चखकर देख।

यशोधरा

बेटा, मैं खीर नहीं खाती।

राहुल

मोतीचूर?

यशोधरा

वह भी नहीं?

राहुल

दाल-भात, श्रीखण्ड, पापड़, दही-बड़े तुझे कुछ भी नहीं भाते।

यशोधरा

बेटा मैं व्रत नहीं करती हूँ। फल और दूध ही मेरे लिए यथेष्ट हैं।

राहुल

तू बड़ी अरसज्ञ है। मैं दादाजी से कहूँगा।

यशोधरा

नहीं बेटा, ऐसा न करना। उन्हें व्यर्थ कष्ट होगा।

राहुल

अच्छा, तू उपवास क्यों करती है!

यशोधरा

मेरे धर्म का यह एक अंग है!

राहुल

मेरे लिए यह धर्म कठिन पड़ेगा।

यशोधरा

तुझे इसकी आवश्यकता नहीं।

राहुल

क्यों?

यशोधरा

धर्म की व्यवस्था भी अवस्था के अनुसार होती है। तू अभी छोटा है। बच्चों के व्रत उनकी मातायें ही पूरे किया करती हैं।

अपने माता—पिता-यशोधरा-सिद्धार्थ—का चित्र एक साथ देखकर माता को तो पहले पहचान हो नहीं पाता लेकिन जब उसे गौतमी द्वारा यह ज्ञात होता है कि उसकी माता क्यों वीतराग धारण किए हुए है तब वह उसकी व्यथा की गहराई को समझने का प्रयास करता है। उसके हठ करने पर यशोधरा वीणा बजाती तथा गाती है और शोकाकुल हो उसे हृदय से लगा लेती है लेकिन जब वह पिता के कृत्य की आलोचना करना चाहता है तब वह उसे समझाती है और अंत में वह भी उसकी बात स्वीकार कर लेता है--

मॉं, क्या सब ओर होगा अपना ही अपना ?
तब तो उचित ही है तात का यों तपना।

तेरहवें अध्याय में यशोधरा पुनः विरहपूर्ण उद्‌गार प्रकट करती हुई अंकित की गयी है और एक ओर तो वह मुक्ति को अपने लिए आवश्यक ही नहीं समझती[1] तथा दूसरी ओर अपनी विरह-दशा का चित्रण कर मृत्यु से

---

[1] निज बंधन को सम्बन्ध सयत्न बनाऊँ।
कह मुक्ति भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?
जाना चाहे यदि जन्म, भले ही जावे,
आना चाहे तो स्वयं मृत्यु भी आवे,
पाना चाहे तो मुझे मुक्ति ही पावे,
मेरा तो सब कुछ वही, मुझे जो भावे।
मैं मिलन शून्य में विरह घटा सी छाऊँ।
कह मुक्ति भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?

× × ×

यदि हममें अपना नियम और शम-दम है,
तो लाख व्याधियाँ रहें, स्वस्थता मम है।
वह जरा एक विश्रांति, जहाँ संयम है,
नवजीवनदाता मरण कहाँ निर्मम है ?
भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ।
कह मुक्ति भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?

× × ×

रस एक मधुर ही नहीं, अनेक विदित हैं,
कुछ स्वाद हेतु, कुछ पथ्य हेतु समुचित हैं।
भोगें इंद्रिय, जो भोग विधान-विहित हैं,
पने को जीता जहाँ, वही सब जित हैं।
निज कर्मों की ही कुशल सदैव मनाऊँ ?
कह मुक्ति भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ।

जीवन को बढ़कर मानती है—

मरने से बढ़कर यह जीना।
अप्रिय आशंकाएँ करना,
भय खाना हा! आँसू पीना!
फिर भी बता, करे क्या आली,
यशोधरा है अवश-अधीना।
कहाँ जाय यह दीना हीना,
उन चरणों में ही चिर लीना।

साथ ही वह पति की चिन्ता तथा आत्म-निरीक्षण में लीन भी दीख पड़ती है—

चाहे तुम सम्बंध न मानो,
स्वामी किन्तु न टूटेंगे ये, तुम कितना ही तानो।
पहले हो तुम यशोधरा के
पीछे होंगे किसी परा के
मिथ्या भय है जन्म जरा के
इन्हें न उनमें सानो।

और अंततोगत्वा अपने पति द्वारा विश्व-कल्याण की बात ही सोचती है।

'राहुल-जननी' शीर्षक चौदहवें अध्याय में राहुल-यशोधरा का पारस्परिक वार्तालाप विविध प्रगीतों में अंकित है और राहुल द्वारा अपनी माता के त्याग की ममता स्वीकार करायी गयी है। वह अपनी माता को शिवा-सी तपस्विनी मानकर उसके अश्रुपूर्ण मुखमंडल व ओसकणों में सादृश्यता सी देख उससे इसका कारण पूछता है—

ज्यों तेरी वरुणी यह आँसू, किरण तुहिन-कण पा रही,
शुचि स्नेह-केन्द्र-बिन्दु का सा आत्मतेज से पा रही!

'संधान' शीर्षक पंद्रहवें अध्याय में यशोधरा एकान्त में पति-वियोग से विकल दिखाई पड़ती है और कहती है—

मुझको सोती छोड़ गये हो,
पीठ फेर मुँह मोड़ गये हो,
तुम्हीं छोड़कर तोड़ गये हो,
साधु-विराग-विला[illegible]
आओ हो वन[illegible]!

जल में शतदल तुल्य सरसते
तुम घर रहते, हम न तरसते
देखो, दो दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी !
आओ हो वनवासी !

उसी समय गौतमी वहाँ आती है और सिद्धार्थ के सिद्धि प्राप्त करने की कथा संक्षेप में सुनाती है।[1] इस प्रकार कवि ने इतिवृत्तात्मक कथा को यहाँ संयुक्त कर आगे होने वाले सिद्धार्थ-यशोधरा सम्मिलन की समीपता का आभास करा दिया है। गौतमी द्वारा सब समाचार जानने पर यशोधार यही कहती है—

सारी घटनाएँ वही जानें, किन्तु इतना
मैं भी भली भाँति जानती हूँ जन्म जन्म में
आली, मैं उन्हीं की रही, वे भी जन्म जन्म में
मेरे रहे, तब तो मैं उनकी, वे मेरे हैं।
अब इतना ही मुझे पूछना है उनसे—

---

१ वर्षों तक प्रभु ने तपस्या कर अंत में।
सारे विघ्न पार किये, भार को हटा दिया।
अप्सराएँ उनको भला क्या भुला सकतीं ?
जिनकी यशोधरा-सी साध्वी यहाँ बैठी है।
और उन्हें कौन भय व्याप सकता था, जो,
ऐसा घर छोड़, घोर निशि मे चले गये।
× × ×
अचल समाधि रही, बाधाएँ बिला गईं,
देवि, वह दिव्य दृष्टि पाकर ही वे उठे,
जिसमे समस्त लोक और तीनों काल भी
दर्पण में जैसे, उन्हें दीख पड़े, सृष्टि के
सारे भेद खुल गये, चेतन का जड़ का,
कोई भी प्रकार व्यवहार नहीं जा सका।
दु:ख का निदान और उसकी चिकित्सा भी
ज्ञात हुई ! जन्म तथा मृत्यु के रहस्य को
जानकर देव स्वयं जीवन्मुक्त हो गये।
और,. धर्मचक्र के प्रवर्त्तन के साथ ही,
दूसरों को भी वे मुक्ति मार्ग में लगा रहे।

जो कुछ उन्होंने उस जन्म में मुझे दिया,
उसको मैं अब भी चुका सकी हूँ या नहीं ?

इसी समय राहुल, शुद्धोदन तथा महाप्रजावती का आगमन होता है और वे लोग गौतम बुद्ध के स्वागतार्थ जाते हैं। सिद्धार्थ अब छः वर्षों के बाद अपने देश को लौट रहे हैं और अब वे भगवान बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा सभी ओर उनकी पूजा हो रही है। शुद्धोदन यशोधरा से भी चलने के लिए कहते हैं—

गोपा और गौतम का नाम भी जगत में
गौरी और शंकर-सा गण्य तथा गेय हो ?
अब क्यों विलम्ब किया जाय बेटी, शीघ्र तू
प्रस्तुत हो। यह रहा मगध समीप ही,
उसके लिए तो हम जगती के पार भी
जाने को उपस्थित हैं और उसे पाने को
जीवन भी देने को समुद्यत हैं—सर्वदा !

लेकिन वह तो यही कहती है—

किन्तु तात ? उनका निदेश बिना पाये मैं
यह घर छोड़ कहाँ और कैसे जाऊँगी ?

इस प्रकार वह उनके साथ नहीं जाना चाहती और तब महाप्रजावती खीझ कर यहां तक कह देती हैं—

गोपे हम अबलाजनों के लिए इतना
तेज—नहीं, दर्प—नहीं, साहस क्या ठीक है ?
स्वामी के समीप हमें जाने से स्वयं वही
रोक नहीं सकते हैं, स्वत्व आप अपना
त्याग कर बोल, भला तू क्या पायगी बहू ?

लेकिन करुणा एवं विनय की प्रतिमूर्ति मानिनी यशोधरा अपने निश्चय पर अटल रहती है और महाप्रजावती के कथन का यही उत्तर देती है—

उनका अभीष्ट मान ? और कुछ भी नहीं।
हाय अम्ब ! आप मुझे छोड़ कर वे गये,
जब उन्हें इष्ट होगा आप आके अथवा
मुझको बुलाके चरणों में स्थान देंगे वे।

इतना कहने के पश्चात वह मूर्च्छित हो जाती है और तब शुद्धोदन भी यही कहते हैं—

बेटी उठ, मैं भी तुझे छोड़ नहीं जाऊँगा।
तेरे अश्रु लेकर ही मुक्ति मुक्ता छोड़ूँगा ॥

तेरे अर्थ ही तो मुझे उसकी अपेक्षा है।
गोपा बिन गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको ॥

यशोधरा शीर्षक सोलहवें अध्याय में सभी भगवान बुद्ध के स्वागतार्थ जाते हैं लेकिन वह तो एकांत में एकाकी बैठ कर पति की चिन्ता एवं प्रतीक्षा में मग्न है और रह-रह कर सोचने भी लगती है--

लूँगी क्या तुमको रोकर ही ?
मेरे नाथ, रहे तुम नर से नारायण होकर ही।
उस समाधि-बल की बलिहारी,
अच्छी मैं नर की नारी।
पूजा तो कर सकूँ तुम्हारी,
धुलूँ चरण धोकर ही।
लूँगी क्या तुमको रोकर ही ॥

इसी प्रकार राहुल-जननी शीर्षक सत्रहवें अध्याय में माता तथा पुत्र—यशोधरा एवम् राहुल—का वार्तालाप है और राहुल भी उससे पिता के स्वागतार्थ चलने को कहता है लेकिन इसी बीच नेपथ्य में से भगवान बुद्ध के आने की सूचना मिलती है। अठारहवें अध्याय में पुनः यशोधरा का विरह-निवेदन अंकित है और वह अपने मन को सम्बोधित कर कहती है:—

रे मन, आज परीक्षा तेरी।
विनती करती हूँ मैं तुझसे, बात न बिगड़े मेरी ॥
अब तक जो तेरा निग्रह था,
बस अभाव के कारण वह था।
लोभ न था, जब लाभ न यह था;
सुन अब स्वागत-भेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी ॥

× × ×

सब अपना सौभाग्य मनावें,
दरस - परस, निःश्रेयस पावें।
उद्धारक चाहें तो आवें;
यहीं रहे यह चेरी।
रे मन आज परीक्षा तेरी ॥

बुद्धदेव शीर्षक उन्नीसवें अध्याय में कथा अपनी अंतिम अवस्था में जा पहुँची है और इसमें भगवान बुद्ध स्वयं यशोधरा के पास आकर उससे कहते हैं:—

मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान।
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर, यह तव-तत्र भवान ॥

× × ×

माना दुर्बल ही था गौतम छिपकर गया निदान,
किन्तु शुभे, परिणाम भला ही हुआ, सुधा-सन्धान।
क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान,
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान।

और यशोधरा भी उनका स्वागत करते हुए कहती है:—

पधारो, भव भव के भगवान।
रख ली मेरी लज्जा तुमने, आओ अत्र भवान।
नाथ विजय है यही तुम्हारी,
दिया तुच्छ को गौरव भारी।
अपनाई मुझ-सी लघु नारी,
होकर महा महान।
पधारो, भव भव के भगवान!

साथ ही गौतम बुद्ध अपनी साधना में उसका महत्व भी स्वीकार करते हैं[1] और वह भी उन्हें अपने पुत्र राहुल को सौंप कर अपनी उदार भावना का परिचय देती है। इस प्रकार उन्नीस अध्यायों में यशोधरा और सिद्धार्थ की कथा को कवि ने कुशलतापूर्वक अंकित किया है तथा इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि अवांछित एवं ऐतिहासिक प्रसंगों की उद्भावना न की जाए।

स्मरण रहे कि कवि ने कथावस्तु के संघटन में प्राचीन महाकाव्य की इतिवृत्तात्मक शैली का अनुसरण नहीं किया और न साकेत की प्रणाली ही अपनायी है अपितु गीतात्मक प्रबन्ध-शैली का आश्रय ले कथा-योजना के प्रमुख तत्व—स्थान-ऐक्य—पर विशेष ध्यान रखा है। यह तो हम स्पष्ट कर ही चुके हैं कि कथानक की आधार-वस्तु सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) की

---

१ दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से।
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृजाति ने ही खीर से॥
आया जब मार मुझे मारने को बार बार,
अप्सरा-अनीकिनी सजाये हेम-हीर से।
तुम तो यहाँ थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ,
जूझा, मुझे पीछे कर, पंचशर वीर से॥
अंतिम अस्त्र तुम्हारा रूप धरे एक अप्सरा आई;
किन्तु वराकी अपनी प्रवृत्ति पर आप काँप सकुचाई।

जीवन-गाथा है तथा यशोधरा उन्हीं इतिहास-प्रसिद्ध गौतम बुद्ध की अर्द्धांगिनी हैं, अतः चूँकि कवि का मूल उद्देश्य यशोधरा का चरित्र-चित्रण ही रहा है इसलिए वह अपनी काव्य-कृति को महाभिनिष्क्रमण से प्रारंभ करता है और इस मर्मस्थल को खोजकर वह सिद्धार्थ के आंतरिक संघर्षों को मनोवैज्ञानिक रीति से अभिव्यक्त करने में भी सफल रहा है। इसके पश्चात उसने वियोगिनी यशोधरा के आलाप-संलाप एवं मानसिक स्थितियों का दिग्दर्शन कराते हुए सम्पूर्ण कथा कपिलवस्तु के राजप्रासाद में ही संपादित करायी है। सिद्धार्थ, महाभिनिष्क्रमण, यशोधरा, नंद, महाप्रजावती शुद्धोदन, पुरजन, छंदक, राहुल-जननी, संधान और बुद्धदेव आदि उन्नीस अध्यायों तक एक ही कथा रहती है जो कि एक ही स्थान पर घटित हुई है। वस्तुतः संपूर्ण कथानक एक ही धुरी पर घूमता भी दिखाई पड़ता है और बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध कथा तो सूचना रूप में हमें राजभवन में ही बता दी जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण कथा की रंगभूमि कपिलवस्तु का राजभवन ही है और इसमें कोई संदेह नहीं कि स्थान-ऐक्य का यशोधरा की कथावस्तु में अत्यन्त सफल प्रयोग है।

जैसा कि डॉ० नगेन्द्र का कहना है "स्थान-ऐक्य से अधिक महत्वपूर्ण है घटना-ऐक्य का प्रश्न जिसके लिए यह आवश्यक है कि समस्त कथा-वस्तु का एक मुख्य कार्य हो और सभी गौण कथाएँ उनकी अनुवर्तिनी हों—अर्थात् घात-प्रतिघात द्वारा उस मुख्य कार्य के सम्पादन में सहायक हों।"[1] अतएव घटना-ऐक्य पर भी कवि ने पूर्ण ध्यान रक्खा है। चूँकि यशोधरा का विरह-वर्णन ही इस काव्य-कृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है और कवि का मूल उद्देश्य भी यशोधरा के हृदयोद्गारों का विशद चित्रण करना ही है अतः इस दृष्टि से विचार करने पर वह एकांगी ही जान पड़ता है और हम देखते हैं कि सम्पूर्ण कथा यशोधरा के त्याग, तप एवं करुणार्द्र दशा तक ही सीमित रही है परन्तु घटना-ऐक्य पर ध्यान रखना इस प्रकार की कथावस्तु में असंभव ही हो जाता है और यदि कवि ने कुशलता से काम न लिया तब तो फिर वह अपनी काव्य-कृति को सदोष होने से बचा भी नहीं पाता। जहाँ तक यशोधरा का प्रश्न है घटना की एकता देखने के लिए हमें इस बात पर विचार करना होगा कि काव्यगत पात्र एवं घटनाएँ यशोधरा के चरित्र-विकास में कहाँ तक सहायक सिद्ध हो सकी हैं।

हम देखते हैं कि कवि ने कथा के आरम्भ में ही सिद्धार्थ को चिंतामग्न रूप में अंकित किया है और अपनी आंतरिक जिज्ञासा के कारण ही वे संसार

१ साकेत : एक अध्ययन—डॉ० नगेन्द्र (पृष्ठ ५)

से विमुख हो गए तथा इस प्रकार केवल चार-पाँच गीतों में ही कवि ने उनके महाभिनिष्क्रमण की भूमिका प्रस्तुत कर दी है। महाभिनिष्क्रमण के उपरान्त यशोधरा, महाप्रजावती, नंद, पुरजन और छंदक की मनोव्यथा का चित्रण कर वह भावी कारुणिक दृश्यों को अंकित करने की पृष्ठभूमि भी तैयार कर देता है। यशोधरा की कथा में कर्त्तव्य और प्रेम का संघर्ष भी सर्वत्र ही विद्यमान है तथा पूर्णतः विषादमय जीवन भार स्वरूप ही रहता है अतः यत्र-तत्र यशोधरा को राहुल-जननी के वेष में अंकित कर जीवन के इस शून्यपन में पुत्र राहुल के प्रेम को ही उसका एकमात्र बल कहा गया है। अंत में वह भिक्षुक बुद्ध से मिलकर अपना सर्वस्व राहुल उन्हें ही सौंप देती है और इस प्रकार कवि ने नारी की आत्म-समर्पण की भावना को व्यक्त कर भारतीय संस्कृति का एक ऐसा गौरवपूर्ण चित्र अंकित किया है जिसकी समता कदाचित ही कोई अन्य कवि कर सकता हो। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने घटना-ऐक्य पर भी पूर्ण ध्यान रखा है और साथ ही घटनाओं का क्रमिक विकास भी यशोधरा में दीख पड़ता है। यद्यपि इस काव्यग्रंथ की सभी घटनाएँ यशोधरा के जीवन-चरित्र से ही सम्बद्ध हैं लेकिन उनका अभिप्राय यह नहीं है कि उसका व्यक्तित्व ही केवल इन्हें अन्वित किए हुए है और उसमें स्वयं क्रम अथवा सम्बन्ध नहीं है। अरस्तू के कथनानुसार वस्तु के तीन अंग—आदि मध्य और अवसान—स्पष्ट होने चाहिए तभी कथा-विन्यास सुसंगठित होगा और हम देखते हैं कि यह तीनों ही अंग इस काव्य-कृति में स्पष्ट हैं और जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कृति का नामकरण भी उपयुक्त एवं सार्थक है। इस प्रकार हमारा तो यही कहना है कि कथानक की दृष्टि से विचार करने पर यशोधरा एक सफल काव्य-कृति ही प्रमाणित होती है।

# ठाकुर गोपालशरण सिंह की काव्य-कृतियाँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठाकुर गोपालशरण सिंह की काव्य-कला पर विचार करते हुए कहा है--"ठाकुर साहब अनेक मार्मिक विषयों का चयन करते चले हैं। इन रचनाओं का आरम्भ संवत् १९७१ से होता है। अब तक इनकी रचनाओं के पाँच संग्रह निकल चुके हैं। माधवी, मानवी, संचिता, ज्योतिष्मती और कादंबिनी। प्रारम्भिक रचनाएँ साधारण हैं, पर आगे चल कर हमें मार्मिक उद्भावना तथा अभिव्यंजना की एक विशिष्ट पद्धति मिलती है। इसकी छोटी-छोटी रचनाओं में, जिनमें से कुछ गेय भी हैं, जीवन की अनेक दशाओं की झलक है।"[1] साथ ही श्री कृष्णशंकर शुक्ल का कहना है—"आप द्विवेदी जी के समय से रचनाएँ करते आए हैं। आपकी रचनाओं पर मुग्ध होकर स्वयं द्विवेदी जी ने एक आलोचना लिखी थी।"[2]

वस्तुतः गोपालशरण सिंह द्विवेदीकालीन कवि ही हैं और उनकी कविता का रचनाकाल सन् १९१०-११ से ही आरम्भ होता है तथा जैसा कि उन्होंने स्वयं ही कहा है--"सबसे पहले काव्य से मेरा परिचय संस्कृत और व्रजभाषा के द्वारा हुआ। संस्कृत के कवियों में कालिदास की रचना-शैली मुझे सबसे अधिक रमणीय प्रतीत हुई। इसका कारण कदाचित यह है कि मैं आरम्भ से ही प्रासादिकता का प्रेमी हूँ। व्रजभाषा के साहित्य में भक्त कवियों की कृतियाँ उसकी सबसे बड़ी विभूति हैं। उनकी तल्लीनता में उनका चरम उत्कर्ष है। उन रचनाओं से मुझे केवल प्रेरणा ही नहीं मिली थी, वरन् मेरा आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी उनसे प्रभावित हुआ था। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन में ही अपने काव्य-कौशल की इति श्री कर दी है। इस प्रकार की रचनाओं में जहाँ दुर्वासना आ गई है वहाँ काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो गया है, परन्तु व्रजभाषा में पवित्र प्रेम और सात्विक शृंगार की रचनाएँ भी कुछ कम नहीं हैं और वे उच्चकोटि की हैं। व्रजभाषा काव्य की सबसे बड़ी विशेषता उसका माधुर्य है।

जिस समय काव्य के क्षेत्र में मैंने प्रवेश किया उस समय बोलचाल की कविता अपनी रूपरेखा निश्चित नहीं कर पायी थी। अतएव मुझे अपना

---

१ हिंदी साहित्य का इतिहास--पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० ६६२)

२ आधुनिक हिंदी साहित्य—पं० कृष्णशंकर शुक्ल (पृ० २५६)

मार्ग निर्धारित करने में काफी समय लगा। आरम्भ में स्वभावतः मेरा ध्यान भाषा के परिमार्जन की ओर अधिक था। मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ द्विवेदी युग की काव्य-रुचि का परिचय देती हैं। पुण्य-स्मृति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की मुझ पर विशेष कृपा थी। कविता लिखते रहने के लिए पत्र द्वारा वे मुझे बराबर प्रोत्साहित किया करते थे और समय-समय पर काव्य-सम्बन्धी उपदेश भी दिया करते थे। वे बड़े ही भावुक थे और कविता में उन्हें सुरुचि का विशेष ध्यान रहता था। उनका कहना है कि जो कुछ लिखा जाय उसमें कुछ न कुछ चमत्कार अवश्य रहना चाहिए। उस समय शायद कोई कवि या लेखक ऐसा रहा हो जो उनसे प्रभावित न हुआ हो। आधुनिक हिन्दी के प्रायः सभी प्रमुख कवि द्विवेदी युग की देन हैं। उस युग से प्रेरणा पाकर उनकी कविताओं का विकास भिन्न-भिन्न दिशाओं में हुआ है। रीतिकालीन कविताओं के बाह्य आडम्बरों से ऊबे हुए लोगों ने द्विवेदी युग की सरल रचनाओं का हृदय से स्वागत किया। सादगी ही उनकी कला थी और नवीनता ही उनकी अलंकृति थी। उनमें सरलता के साथ-साथ सरसता भी थी। जो लोग सरलता और स्वाभाविकता के प्रेमी हैं, उन्हें द्विवेदी युग की कविताएँ सदैव आनन्द प्रदान करती रहेंगी।"[१]

इस प्रकार ठाकुर साहब द्विवेदी युग से लेकर स्वातंत्रोत्तर काल तक काव्य-सृजन में रत रहे हैं और उनकी अब तक माधवी, संचिता, कादंबिनी, मानवी, ज्योतिष्मती, सुमना, सागरिका, ग्रामिका, विश्वगीत और जगदालोक आदि कई कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। यों तो प्रारंभ में उन्होंने व्रजभाषा में ही काव्य-रचना की थी लेकिन व्रजभाषा की उनकी रचनाएँ अनुपलब्ध ही हैं और माधवी से ही उनकी काव्य-रचनाकाल का प्रारंभ कहा जाता है। अपनी कृतियों के सम्बन्ध में स्वयं उन्होंने सक्षेप में विचार किया है और इसके आधार पर हमें न केवल उनकी काव्य रचनाओं की एक संक्षिप्त झांकी सी दीख पड़ती है अपितु हम वस्तु-विषय और कवि की विचार-धारा से भी परिचित हो जाते हैं अतः उनके इस कथन को यहाँ अविकल उद्धृत करना आवश्यक है; देखिए "मेरी आरम्भ की रचनाएँ विशेषतः संचिता में संगृहीत हैं, परन्तु प्रकाशित सबसे पहले माधवी हुई थी। घनाक्षरी और सवैया चिर-परिचित छंद होने पर भी अपनी एक विशेष प्रकार की मधुरता के कारण मुझे बहुत प्रिय हैं। अतः इस पुस्तक में उन्हीं का प्रयोग किया गया है। इसमें एक ओर व्रजभाषा के काव्य-सौन्दर्य की प्रेरणा है और दूसरी ओर आने वाले युग

१ आधुनिक काव्य, भाग ४ -- ठाकुर गोपालशरण सिंह (आत्मकथन, पृ० २-३)

की सूचना है। द्विवेदी युग की काव्य-धारा से मिली हुई भी यह उससे भिन्न है। माधवी में बहुत से विषयों का समावेश है। उसकी कई कविताएँ श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रखती हैं। ब्रज-वर्णन मेरी वृन्दावन यात्रा का स्मारक है। उन दिनों मेरी जीवन की अनुभूतियों में प्रेम और उल्लास का ही प्राधान्य था, इसीलिए मेरी रचनाओं में भी उन्हीं का प्रस्फुटन है। वे अधिकतर पारिवारिक जीवन के चित्रों में अभिव्यंजित हुए हैं। इस प्रकार की रचनाओं में मुख्य वे पद हैं जिनमें शैशव एवं बाल-स्वभाव का चित्रण है। भक्ति-भावना मेरी पैतृक सम्पत्ति है और उसको मैंने अपनी कविताओं में सुरक्षित रक्खा है। वही मेरी प्रेमाराधना का आधार है।

मैंने कभी सोचा वह मंजुल मयंक में है,
देखता इसी से उसे चाव से चकोर है।
कभी यह ज्ञात हुआ वह जलधर में है,
नाचता निहार के उसी को मंजु मोर है॥
कभी यह हुआ अनुमान वह फूल में है,
दौड़ कर जाता भृंग वृंद जिस ओर है।
कैसा अचरज है कि मैं न जान पाया कभी,
मेरे चित्त में ही छिपा मेरा चितचोर है॥

विश्व की अखिल छवि में अनन्त का आभास और प्रकृति के भिन्न भिन्न व्यापारों में परोक्ष सत्ता की अनुभूति मेरी अनेक रचनाओं से प्रकट होती है। मेरी यह रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति विशेषतः रवि बाबू के ग्रंथों (गीतांजलि आदि के अँग्रेजी अनुवाद) के अनुशीलन से परिपुष्ट हुई है।

हहर उठा क्यों तरु पुंज यों अचानक है,
किसलिए घहर उठा यों घनघोर है?
काँप उठे हर्ष से विभोर हो क्यों शैल सभी,
मच गया सागर में क्यों बड़ा हिलोर है?
बोल उठे पादप के कोटरों में क्यों विहंग,
मोद मद मत्त हो क्यों नाच उठा मोर है?
मैं न देख पाया वह आया किस ओर से था,
और किस ओर गया मेरा चित्तचोर है।

'माधवी' में वियोगजनित वेदना का भी वर्णन है। परन्तु उसकी तल्लीनता में उल्लास अन्तर्हित है—

पहले तुझे मैं बस एक ठौर देखता था,
देखता हूँ सब ठौर तुझको जुदाई में।

× × ×

एक क्षण भी उसे भूलने न देती कभी,
धन्य धन्य धन्य मेरे मानस की पीर है ॥

कविता लिखने में अध्ययन की अपेक्षा जीवन से मुझे अधिक प्रेरणा मिली है। इसी से मेरी रचनाओं में जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के चित्रण मिलते हैं। ग्रामवासी होने के कारण प्रकृति से मेरा साहचर्य बाल्य-काल ही से रहा है। मेरी कितनी भी रचनाएँ प्रकृति-प्रेम की द्योतक हैं। किन्तु मेरे नैसर्गिक वर्णन भी जीवन की अनुभूतियों से अनुप्राणित हैं। 'कादम्बिनी' में इस प्रकार की अनेक रचनाएँ हैं।

विफल नहीं हैं वन रोदन।
उसको सदा सुना करते हैं,
कान लगाकर सुमन सुमन।
सजनी रो रोकर मैं कर दूँ,
क्यों न भला कुंचित कानन ?
सुनता होगा किसी कुंज में,
छिपकर मेरा जीवन धन।

संसार को अमर एवं क्षण भंगुर मानने से उसके प्रति विरक्ति का भाव होना स्वाभाविक है। इस प्रकार की भावना भौतिक दृष्टि से उन्नति में बाधक सिद्ध हुई है। हमारा प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है। मनुष्य आते हैं और जाते हैं; परन्तु संसार की जीवन-सरिता अबाध गति से निरंतर बहती रहती है। व्यष्टि रूप में मनुष्य नश्वर है, किन्तु समष्टि रूप में अविनश्वर है। सामूहिक रूप में वह उन्नति की ओर बराबर अग्रसर होता रहता है। विकास सिद्धांत का यही मूल तत्व है। निराशावाद मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभवों पर ही प्रधानतः अवलम्बित है। यदि हम संसार की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें वह अनन्त जीवन, अनन्त प्रेम और अनन्त उल्लास सब काल दिखाई देता है। कादंबिनी में कई कविताएँ इस दृष्टिकोण की परिचायक हैं।

अटल है जन जीवन मधुमास
चिरन्तन हैं ध्रुव विश्व विकास

'माधवी' में यथातथ्य वर्णनों का ही बाहुल्य है, काल्पनिक बहुत कम है। किन्तु 'कादंबिनी' में कल्पना का ही प्राधान्य है और रहस्य-भावना भी अधिक स्पष्ट हो गई है।

आती सागर उर खोल खोल।
गाती हैं लहरें लोल लोल।

पाकर उससे संगीत-दान
पुलकित करते हैं विश्व-प्राण, नभ में गुंजित ये अमर-गान।

कोमल कलियों का सुन्दर रूप-रंग सबको आकर्षित करता है और उनके मृदु सौरभ से सभी का हृदय आनंदित हो जाता है। परन्तु उनके सुकुमार शरीर को तीक्ष्ण कंटकों से जो चोट पहुँचती है और वायु के तीव्र झोंकों से उन्हें जो व्यथा होती है, उन पर कितने लोगों का ध्यान जाता है? ठीक यही बात नारियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उनके बाह्य सौंदर्य पर संसार मुग्ध रहता है। स्नेहमयी माता और लावण्यमयी प्रियतमा के रूप में उन्हें सब लोग जानते हैं। किन्तु उनके हृदय में छिपी हुई अगाध पीड़ा और वेदना का ज्ञान किनको-किनको होता है। प्रत्येक मनुष्य के दाम्पत्य जीवन पर एक परदा पड़ा रहता है। कभी-कभी सुख के सब साधन रहते हुए भी दाम्पत्य जीवन अत्यंत विषादमय हो जाता है। संसार उससे अनभिज्ञ ही रहता है।

गंगा-यमुना की धारा बहती सूने सदनों में,
परदे के भीतर सागर लहराता है नयनों में

× × ×

है गूँज रही परदे में कितनी ही क्लेश व्यथाएँ
महलों के भीतर छिपकर रहती हैं विविध कथाएँ

किसी युग के इतिहास को ले लीजिए, उसमें नारियों के अनेक ऐसे दृष्टान्त मिलेंगे जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है—

युग युग के अगणित क्लेशों की तू है करुण कहानी।

× × ×

प्रेमदेव के चरणों पर तू है सर्वस्व चढ़ाती,
पर वरदान दुःख क्लेशों का तू उससे है पाती।

मानवी की प्रत्येक कविता में किसी न किसी सामाजिक समस्या की ओर संकेत है। यद्यपि इन रचनाओं का संबंध मुख्यतः भारतीय समाज से है, किन्तु साधारणतः इनमें समस्त संसार के नारी-हृदय के भाव-चित्र हैं। जिन कारणों से नारी जीवन दुःखमय होता है वे किन्हीं रूपों में संसार की सब जातियों में विद्यमान रहते हैं। सभी देशों के साहित्य में स्त्रियों की दुरावस्थाओं का वर्णन मिलता है। अंग्रेजी में स्त्रियों की पराधीनता से मुक्ति (इमेन्सिपेशन आफ वीमेन) नामक पुस्तक पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ था। उसके बाद ही मानवी लिखने का सूत्र-पात्र हुआ था। यह सब होते हुए भी इस संग्रह की कोई भी कविता प्रचारक अथवा सुधारक के दृष्टिकोण से नहीं लिखी गई। इसमें कवितागत वस्तु ही मुख्य है।

मानवी में स्त्रियों की केवल भिन्न-भिन्न कारुणिक अवस्थाओं का चित्रण है। अतः नारी जीवन का प्रधान अंग होने पर भी कौमार्य का वर्णन इसमें नहीं आया है। यदि आया भी है तो अनारकली के दुःखमय कौमार्य का। इस ग्रंथ में पुरुषों के प्रति जुगुप्सा का भाव नहीं है। यदि प्रकारान्तर से कुछ विगर्हणा है तो सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों की।

प्रेम ही दाम्पत्य जीवन के सुख का आधार है। जहाँ प्रेम नहीं है वहाँ दाम्पत्य जीवन अभिशाप बन जाता है। हमारा हिंदू समाज इस विषय में सबसे अधिक गया बीता है। इस जाति में वैवाहिक संबंध वर-कन्या के प्रेम पर नहीं, बल्कि माता-पिता की इच्छा पर निर्भर है। यदि कोई कन्या किसी से प्रेम करती है और उसका विवाह किसी दूसरे से होता है तो यह विडम्बना अत्यंत विषादमयी हो जाती है। अनीप्सित विवाह हो जाने पर स्त्री की क्या दशा होती है, 'ब्रजबाला' शीर्षक कविता में यही दिखाने की चेष्टा की गई है।

कह सकती भी न कभी कुछ,
तू है ऐसी दीवानी।
परवशता ही है तेरे,
जीवन की करुण कहानी।

किस प्रकार एक अनुभवहीन कन्या विवेक शून्य प्रेम में पड़कर अपना जीवन नष्ट कर देती है, इसका दृष्टान्त शकुंतला में है। बेचारी अनारकली सामाजिक विषमता पर बलिदान हुई थी। दासी होने के कारण उसका प्रेम-नाटक दुखान्त ही हुआ था। चंडीदास ने अपना सर्वस्व त्याग करके अपनी हृदय-लिप्सा पूर्ण की थी परन्तु सलीम के लिए यह भी संभव नहीं था। बलिदान कविता अनमिल विवाह की ओर ही संकेत करती है और उपेक्षिता का विषय उसके शीर्षक से ही प्रकट है। अभागिनी में बाल-विधवा का वर्णन है, जो हिन्दू समाज के लिए सबसे बड़ा कलंक है उसके नेत्र जल से वह कलंक धुल जाय, यह संभव नहीं है। उसकी आहों से वह और भी गहरा होता जाता है। धैर्य-धारण के सिवा उसके लिए और कोई चारा नहीं है।

तू कभी नहीं कुछ कहती है,
चुपचाप सभी कुछ सहती है।
जग में रस धारा बहती है,
पर तू प्यासी ही रहती है॥

मेरी प्रवृति यथार्थ वर्णन की ओर अधिक है और आदर्श चित्रण की ओर कम है। मेरी समझ में वास्तविक चित्रण स्वाभाविक होने के कारण अधिक

प्रभावोत्पादक होता है। परन्तु मेरे यथार्थवाद और आदर्शवाद में विशेष अंतर नहीं है। पवित्र प्रेम में भी वास्तविकता है और अनुचित अनुराग में भी। मेरी रचनाओं में मुख्यतः पवित्र प्रेम का ही वर्णन है और जहाँ कहीं दूषित प्रेम का वर्णन किया है, वहाँ वह पतनशील नहीं है। 'मानवी' में सीता, शकुन्तला और अनारकली उत्कृष्ट प्रेम की उपासिकाएँ हैं। ब्रजबाला का प्रेम अनुचित कहा जा सकता है किन्तु वह उसे आदर्श से विचलित नहीं करता। देवदासी की शृंगारिक भावना पतनोन्मुखी नहीं है। वीरांगना के वर्णन में उसे अपने जीवन से अत्यंत घृणा है।

मानवी में मेरी करुण अनुभूतियों के ही चित्र हैं। करुणा से मैं सहज ही अभिभूत हो जाता हूँ। सीता-शकुन्तला आदि की वेदनामयी कथाओं को पढ़कर-सुनकर मेरी आँखों में आँसू आ जाते थे। बाल्यकाल में अपनी माता को रामायण सुनाते समय राम-वन-गमन का प्रसंग आने पर मैं रुद्ध हो जाता था। अब भी सिनेमा में कोई विशेष कारुणिक चित्र देखकर मैं अपने को सम्हाल नहीं सकता। मेरी यह करुण भावना मेरी सभी कृतियों में यत्र-तत्र प्रस्फुटित हुई है। परन्तु उसे घनीभूत होने का अवसर विषय की अनुकूलता के कारण मानवी में ही मिला है। स्वभावतः इसमें मेरे हृदय की सच्ची अनुभूति है।

मेरी आध्यात्मिक रचनाओं में दार्शनिक विवेचन नहीं है। वरन् उनके मूल में भक्तिमयी जिज्ञासा है। संसार में कोई विषय इतना रहस्यमय और जटिल नहीं है जितना आध्यात्म है। मनुष्य की बुद्धि यदि किसी विषय में हार मान गई है तो इसी में। यह एक ऐसी पहेली है जिसे सुलझाने की सृष्टि के आरम्भ से ही चेष्टा हो रही है, किन्तु वह अभी तक सुलझ नहीं सकी। बड़े बड़े दार्शनिकों ने ईश्वर के विवेचन में और ज्ञानियों ने उसके मनन-चिन्तन में अपनी सारी आयु बिता दी, परन्तु वह अब भी उसी प्रकार अज्ञेय, अचिंतमय और अप्रमेय है, जिस प्रकार पहले था। अतएव उसके विषय में अनुष्य का जिज्ञासु रहना स्वाभाविक है। ज्योतिष्मती की कई रचनाओं से इस जिज्ञासा का आभास मिलता है, किन्तु आराधना शीर्षक कविता में वह स्पष्ट हो गई है। अंत में निष्कर्ष यह निकलता है—

है तुम्हारा वास निश्चित विश्व के विश्वास में।

ईश्वर बुद्धि का विषय न होकर अनुभूति का विषय है, अतएव मनुष्य की आत्मिक अभिव्यक्ति के लिए कविता ही सबसे उपयुक्त माध्यम है। भावना के ही द्वारा मनुष्य परम चेतना के निकट पहुँच सकता है और उससे तादात्म्य अनुभव कर सकता है। विश्व के लिखित सौंदर्य में व्याप्त और

प्रकृति के नाना रूपों में व्याप्त जगन्नियंता का विराट रूप ही मनुष्य को दृष्टिगोचर होता है। मुक्ति का द्वार भी संसार में ही है--

विश्व प्रेम के बंधन में ही मुझको मिला मुक्ति का द्वार।

ईश्वर की सच्ची अनुभूति दुःख में ही मनुष्य को होती है--

हो तुम सुखमय स्वप्न वेदना की जागृति के।

ज्योतिष्मती के छोटे-छोटे गीतों में अदृष्ट करुणामय के प्रति पीड़ित-आत्माओं के उद्गार हैं। यह प्रश्न हो सकता है कि इन गीतों में मैं किसका प्रतिनिधित्व करता हूँ? किन्तु इसका उत्तर भी उन्हीं गीतों में मिल जायगा—

दीन दुखी जन का प्रतिनिधि बन आया था यह दास।

'ज्योतिष्मती' की रचनाओं में केवल आत्मसमर्पण ही नहीं है, आत्म-विश्वास भी है--

तुम पर हो विश्वास मुझे पर।
अपना भी विश्वास रहे।

मनुष्य को अपनी शक्ति का तब तक पूरा ज्ञान नहीं होता जब तक वह स्वयं अपने में छिपी हुई ईश्वर की सत्ता का अनुभव नहीं करता। वह मुक्त होकर भी अपने को अखिल बंधनों से बँधा हुआ समझता है--

छिपी सदा रहती है मुझमें
अद्भुत शक्ति महान।
पर न कभी आता है उसका
मेरे मन में ध्यान।
मैं हूँ मुक्त तथापि देखिए
क्या है मेरा हाल।
अखिल बंधनों से रहता हूँ
बँधा हुआ सब काल।

'संचिता' में मेरी सब समय की और सब प्रकार की रचनाओं का सन्निवेश है। मेरा कविताकाल सन् १९१० से आरम्भ होता है। पहले मैंने व्रजभाषा के कुछ पद लिखे थे जिन्हें ढूँढ निकालना अब संभव नहीं है। बोलचाल की भाषा में भी मेरी अनेक प्रारम्भिक रचनाएँ खो गई हैं। सरस्वती में मेरी जो रचना सबसे पहले प्रकाशित हुई वह 'ग्रन्थ' शीर्षक थी और वह सन् १९१२ के अन्त में छपी थी। उसके प्रकाशन से मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला था। फिर मैं समय-समय पर बराबर कविता लिखता रहा और सरस्वती में ही छपवाता रहा। कवित्व की दृष्टि से प्रारम्भिक रचनाओं का बहुत कम मूल्य रहता है, किन्तु किसी

कवि की कविता का विकास-क्रम स्पष्ट करने के लिए उसका भी प्रकाशन आवश्यक है। यह सोचकर मैंने कुछ अपनी आरम्भ की रचनाएँ भी 'संचिता' में रख दी हैं: प्रारम्भ से ही मेरी प्रवृत्ति भावना की ओर रही है। जनवरी १९१६ में लिखे गए 'मेरे प्रेम' शीर्षक गीत से यह बात प्रकट होती है:—

हे जग-जीवन-सार।
आओ प्रेम! बनो तुम मेरे,
हृदय-हार सुकुमार।
गाऊँगा मैं सदा तुम्हारे,
स्वर में जीवन-गीत।
होगा लीन तुम्हीं में मेरा,
सुख दुखमय संसार।

मेरा अधिकांश जीवन ग्राम में ही व्यतीत हुआ है। चारों ओर फैली हुई खेतों की हरियाली, स्वच्छ झरनों की मधुर ध्वनि, सघन आम्र कुंज और उसमें छिपी कोकिल की तान सदैव मेरे आमोद-प्रमोद की सामग्रियाँ रही हैं। खेतों में ही मेरा ज्ञान अंकुरित हुआ था और उसमें उगने वाले पौधों से मुझे कितने ही उपदेश प्राप्त हुये थे। मेरे ग्राम्य-जीवन की अनुभूतियाँ 'ग्राम' और 'ग्रामवासिनी' शीर्षक कविताओं में विशेष रूप से संनिहित हैं। इस जीवन में जहाँ प्रकृति की मनोहर छटा मेरे मन को मुग्ध करती रही है वहीं ग्रामीण जनता की दुरावस्था देखकर हृदय को ठेस भी लगती रही। जो ग्राम 'मानवता का प्रेम-निकेतन', 'आदि सभ्यता का इतिहास' और 'जग के भोलेपन का प्रतिनिधि है', जहाँ निर्मल जल और शुद्ध वायु ही 'जीवन के उपहार हैं' और 'जगत का मूर्तिमान अनुराग' एवं 'भव्य भाव भण्डार' है, वही 'दुःख दीनता का आधार' और 'विधि का करुण विधान' भी है। इससे बढ़कर और क्या विषादमयी विचित्रता हो सकती है।

'कादम्बिनी' और 'सुमना' में प्रायः एक ही प्रकार की रचनाएँ हैं। दोनों में प्रकृति और जीवन का संश्लेषण है। परन्तु 'कादम्बिनी' में प्राकृतिक सौंदर्य का विशेष रूप से वर्णन है और 'सुमना' में प्रकृति के स्वर में जीवन के गीत हैं।

तुम सुखी रहो, मैं दुखी रहूँ।
तुम बन बसन्त की श्री सुन्दर,
भर दो जग में सुषमा-सागर,
मैं सुमन बनूँ, तरु शाखा पर,

निज शूलों के आघात सहूँ ।
तुम सुखी रहो मैं दुखी रहूँ ।

कादम्बिनी में विश्वानुभूति की प्रधानता है और 'सुमना' में स्वानुभूति की । एक में मुख्यतः संसार के उल्लासमय रूप की झलक है और दूसरी में जीवन के कठोर सत्यों का भी आभास है ।

मेरे जीवन की मधुर साध ।
सिंचित त्रिलोचनों के जल से,
सुरभित उर-शतदल-परिमल से,
जीवित केवल आशा बल से,
अपराध बनी है निरपराध ।
मेरे जीवन की मधुर साध ।

भौतिकवाद जिस सीमा को पहुँच गया है उसी का परिणाम वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति है । इसके मूल में आक्रमण की प्रवृत्ति है । निर्बलता आक्रमण का आमंत्रण है । पाशविक मनोवृत्तियाँ मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में भी अनर्थ का कारण होती हैं । परन्तु जब वे किसी राष्ट्र के जीवन पर आधिपत्य कर लेती हैं तब उसका परिणाम बहुत ही भयंकर होता है । तभी फैसिज्म और नाजिज्म जैसी घृणित विचारधाराओं का जन्म होता है । उद्दण्डता, मदान्धता और निर्दयता की कोई सीमा नहीं रह जाती । सभ्यता और शिक्षा मनुजत्व के जिस भव्य-भवन का निर्माण शताब्दियों में करती है, वह बात की बात में नष्ट हो जाता है । वर्तमान महायुद्ध में ये बातें अच्छी तरह प्रमाणित हो रही हैं । वैज्ञानिक आविष्कारों के नाश के जो अनेक साधन प्रस्तुत हैं उनसे युद्ध की भयंकरता बहुत अधिक बढ़ गई है ।

फल फूलों के अधिक भार से,
टूट रही है डाल ।

मेरी 'विश्वगीत' नामक पुस्तक अभी अप्रकाशित है । परन्तु उसके थोड़े से गीत इस संग्रह में दिए गये हैं ।[१] इन रचनाओं का सम्बन्ध इसी महायुद्ध से है । इनमें युद्ध की घटनाओं का वर्णन नहीं है, वरन् जो भाव संबंधी वृत्तान्तों को पढ़कर समय-समय पर मेरे मन में उत्पन्न होते रहे हैं, उन्हीं को वाणी देने की चेष्टा की गई है । थोड़े से गीतों में इतने बड़े विश्व-व्यापी युद्ध का वर्णन हो सकता है ? किन्तु संभव है कि इनके द्वारा

---

१ लेखक का अभिप्राय 'आधुनिक कवि भाग ४' से है ।

पशु-शक्ति के अभूतपूर्व नग्न नृत्य और उससे होने वाले दुष्परिणामों का कुछ आभास मिल सके।"[1] इन कृतियों के साथ-साथ ठाकुर साहब का जगदालोक नामक प्रबन्ध-काव्य भी प्रकाशित हुआ है जिसमें राष्ट्रपिता गांधी की कथा सुललित भाषा में दी गई है तथा सागरिका आदि कृतियाँ तो कविता-संग्रह ही हैं। इस प्रकार उनकी काव्य-कृतियों का हिन्दी साहित्य में उल्लेखनीय स्थान है और आचार्य प्रवर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने तो उन्हें कविता की दृष्टि से राजा माना है।[2]

---

१ आधुनिक कवि भाग ४—ठाकुर गोपालशरण सिंह, (आत्मकथन पृष्ठ—३—१३)

२ सरस्वती; मासिक पत्र; भाद्रपद १९८१

# कामायनी का मनोवैज्ञानिक निरूपण

जैसा कि श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने लिखा है "प्रसाद की वृहत्तम कृति कामायनी में न केवल कवि की सृजन सामर्थ्य और जाग्रत चेतना के दर्शन होते हैं वरन् अव्यक्त मानवीय मूलाधारों की आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी मिलती है"[1] तथा डॉ० प्रेमशंकर का कहना है कि "मानव के ही आदि रूप को लेकर उसका मनोवैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत करते हुए उन्होंने अनेक समस्याओं को उठाया है और स्वयं उसका समाधान भी किया है"[2] अतः हम देखते हैं कि कवि ने अपनी काव्य-कृति में ऐतिहासिक कथानक के होते हुए भी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर रूपकत्व की प्रतिष्ठा कर जिस कुशलता के साथ मानसिक वृत्तियों का सूक्ष्म एवं सुन्दर निरूपण किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है। वस्तुतः कामायनी के प्रमुख पात्र मनोवृत्तियों के ही मानवीकृत रूप हैं और इससे यही आभास होता है कि कवि ने इतिहास के मर्म में मनोवृत्तियों के विकास को भी देखने का प्रयास किया है तथा इसके फलस्वरूप कथानक को ऐतिहासिक मानते हुए भी प्रसाद जी ने उसको उसी रूप में ग्रहण किया और तत्सम्बन्धी उन्हीं पात्रों की अवतारणा भी की जिनसे कि रूपक के रूप में मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति भी हो सके क्योंकि यदि उन्हें यह बात अभिप्रेत न होती तो वे निश्चय ही उनका सांकेतिक अर्थ ग्रहण करने में भी आपत्ति करते परन्तु उन्होंने स्वयं ही 'कामायनी' के 'आमुख' में यह स्पष्ट कर दिया है कि "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"[3] यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आचार्य शुक्ल ने भी कवि की सारग्रहिणी मनोवैज्ञानिक प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए यही कहा है कि "यदि हम इस विशद काव्य की अंतर्योजना पर न ध्यान दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूंढें, श्रद्धा, काम, लज्जा, इड़ा इत्यादि को अलग-अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रम-

---

१ काव्य-दर्शन—श्रीमती शचीरानी गुर्टू (भूमिका, पृ० २३)

२ प्रसाद का काव्य—प्रेमशंकर (पृ० ३२०)

३ कामायनी—श्री जयशंकर 'प्रसाद' (आमुख पृ० ७-८)

णीय कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यंत मनोरम पद्धति आती है। इन वृत्तियों की आभ्यंतर प्रेरणाओं और बाह्य प्रवृत्तियों को बड़ी मार्मिकता से परखकर इनके स्वरूपों की नराकार उद्भावना की गई है।"[१]

चूँकि कवि का मुख्य उद्देश्य मानव-मन का विश्लेषण करना ही है अतः कामायनी के सर्गों का नामकरण, स्थान, पात्र या घटना के नाम पर न होकर मानसिक वृत्तियों के नाम पर ही हुआ है और जैसा कि डॉ० कन्हैयालाल सहल ने लिखा है "इस महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग का नामकरण वर्शनीय है। मानवीय वृत्तियों के विकास का सम्पूर्ण स्वरूप इसमें दिखाने की कवि ने चेष्टा की है।"[२] वस्तुतः कामायनी का मर्म समझने के हेतु सर्वप्रथम उसके प्रतीकात्मक क्रम का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है क्योंकि कवि ने सर्गों के शीर्षक रूप में मानसिक वृत्तियों का वही क्रम रखा है जिस क्रम से वे मानव हृदय में उत्पन्न होती हैं और इन वृत्तियों का सम्बन्ध कामायनी के केवल किसी एक ही पात्र से नहीं अपितु कुछ का पुरुष पात्र से और कुछ का नारी पात्र से है तथा इन दोनों का समन्वय कर मानवता और मानवीय वृत्तियों के सामान्य विकास को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

स्मरण रहे कि डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का कहना है कि "भारतीय दर्शनों में मानसिक वृत्तियों का वर्गीकरण करते हुए चिन्ता को मानव-मन का प्रथम मनोमय व्यापार कहा गया है"[३] अतः कामायनी का आरंभ भी कवि ने स्वाभाविक ही 'चिन्ता' से किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि चिन्ता मनुष्य को मनुजता की द्योतक प्रथम मौलिक वृत्ति है कारणकि सांसारिक जीवन में प्रविष्ट होते समय व्यावहारिक जीवन का प्रथम क्षण वस्तुतः चिन्ता रूप में ही हमारे सामने आता है और विचारकों ने इस वृत्ति को दुःखमूलक मानकर उचित ही किया है क्योंकि वह किसी प्रकार की अभाव दशा में ही उत्पन्न होती है तथा मन की निष्क्रियता या निश्चेष्टता के कारण चिन्ताविजाड़ित स्थिति में कर्म-सम्बन्धी कोई प्रवृत्ति संभव नहीं है और चिन्ताक्रांत मानव-मन सामान्य मनोस्थिति से सर्वथा भिन्न तथा अन्तर्मुखी सा हो जाता है। इसीलिए विविध संकल्पों से आक्रान्त मन की कायरतापूर्ण अवसन्न स्थिति, चिन्ता को उत्पन्न कर सम्बद्ध मानव को नैराश्य, दैन्य, संताप एवं जड़ता की अवस्था में पहुँचा देती है अतः स्वा-

---

१ हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० ६९३)

२ समीक्षायण—डॉ० कन्हैयालाल सहल (पृ०६९)

३ कामायनी-दर्शन—डा० कन्हैयालाल सहल तथा डा० विजयेन्द्र स्नातक (पृ० १)

भाविक ही उसे अपने चारों ओर स्थावर एवम् जंगम जगत में एक प्रकार की खिन्नता तथा उदासी ही दीख पड़ती है। यही कारण है कि कामायनी का नायक मनु भी जलप्रलय के अनन्तर चिन्तामग्न ही जान पड़ता है और अतीत के चिन्तन के साथ-साथ भावी चिन्ता की क्षीण रेखाएँ भी उसके मानस में उठने लगती हैं क्योंकि सृष्टि के नवनिर्माण की समस्या भी उसके सम्मुख थी। जलप्लावन के ध्वंसात्मक भीषण दृश्य को देख स्वाभाविक ही उसका मन एक अनिवर्चनीय विभीषिका से व्याप्त हो गया तथा वह अपने संगी-साथियों को अपने समीप न पाकर विगत की असमंजसपूर्ण स्थिति एवम् आगत भविष्य की चिन्ता में लीन होकर मन ही मन एक प्रकार की विरक्ति-जन्य कुण्ठा से परिपूर्ण हो चारों ओर व्याप्त प्रकृति को अत्यन्त निष्प्राण भाव से देखने लगा।[1] वास्तव में चिन्ता की उत्पत्ति ठीक उसी प्रकार विध्वंस की द्योतक है जिस प्रकार आकाश में धूमकेतु का उदय सृष्टि-संहार की सूचना देनेवाला होता है अतः कवि ने अभाव में चिन्ता का उदय, मधुमय अभिशाप और हृदयाकाश का धूमकेतु आदि मनोवैज्ञानिक सत्यों को अभिव्यक्त किया है।[2] चूँकि चिन्ता एक ऐसा मनोविकार या भाव है जो विविध रूपों में हमारे मन में उदय होता है अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-मन में चिन्ता की अवस्थिति को एक ही रूप में नहीं समझा जाना चाहिए और इस प्रकार कामायनीकार ने मनु की मानसिक दशा का चित्रण करते समय चिन्ता के विविध नामों का भी उल्लेख किया है—

> बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता,
> तेरे हैं कितने नाम!
> अरी पाप है, तू, जा, चल, जा,
> यहाँ नहीं कुछ तेरा काम।

---

१ ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप सी मतवाली॥
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा।
हरी - भरी - सी, दौड़ - धूप,
ओ जल-माया की चल रेखा!

२ अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी!
अरी आधि, मधुमय अभिशाप!

वस्तुतः चिन्ता या आत्मचेतना के पश्चात स्वाभाविक ही मानव-मन में आशा का उदय होता है क्योंकि वह ऐसी विकासोन्मुख सुखात्मक वृत्ति है जो कि प्रमुख रूप से मानव को कार्यक्षेत्र में अग्रसर करती है तथा उसे प्रगति-पथ पर आरूढ़ होने की प्रेरणा भी देती है अतएव कामायनी का द्वितीय सर्ग 'आशा' नामक ही है। चूँकि आशा चिन्ता की भाँति निष्क्रिय नहीं है अपितु मानव-मन की विधायक वृत्ति है तथा वही उसे क्रियाशील होने के लिए प्रेरित भी करती है अतः यही कारण है कि 'चिन्ता' नामक वृत्ति ने मनु के मन को झकझोर तो अवश्य दिया था लेकिन वह उसे पूर्णरूपेण निष्क्रिय या निश्चेष्ट न कर सकी और जलप्लावन की भीषणता से भयभीत मनु के मन में ज्यों ही आशा का संचार होता है त्यों ही वह अपने अंतस्तल में एक नवीन स्फूर्ति की अनुभूति करने लगते हैं।[1] डॉ० कन्हैयालाल सहल के शब्दों में "प्रलय के बाद प्रकृति के नेत्रोन्मीलन में, सब पर अनुशासन करने वाली एक अविनश्वर सत्ता की प्रतीति में, डूबती सी अचला के अवलम्बन हिमालय के वर्णन में, प्रकृति की रमणीय सुषमा में, नक्षत्र और रजनी के मनोनुरूप चित्रण में तथा प्रेमिका की प्राप्ति के लिए मनु की समुत्कंठा में सर्वत्र आशा के रूप की ही विवृत्ति हुई है।"[2] वस्तुतः आशा का आगमन होते ही मनु के मानस की समस्त जिज्ञासा समीप ही बिखरी हुई प्रकृति की विभूतियां देखने लगती है[3] और उनके मन में अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं तथा

---

हृदय-गगन में धूमकेतु-सी
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।

१ यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल,
सदय हृदय में अधिक अधीर;
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही,
आशा बनकर प्राण समीर!
यह कितनी स्पृहणीय बन गई,
मधुर जागरण सी छविमान;
स्मिति की लहरों सी उठती,
है नाच रही ज्यों मधुमय तान।

२ कामायनी-दर्शन—डॉ० कन्हैयालाल सहल तथा डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (पृष्ठ ३१)

३ संध्या • घनमाला की सुन्दर,
ओढ़े रंग बिरंगी छींट,

जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न कर वे पाकयज्ञ प्रारम्भ कर देते हैं।[१] आशा ही प्राणों का समीर है तथा उसी के कारण सुर-संस्कृति भी सजग हो सकी[२] और क्षुब्ध मनु को भी नवीन शक्ति प्राप्त हुई तथा वे सोचने लगे कि—

जीवन ! जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह;
किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह।

---

गगन चुंबिनी शैल श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार किरीट।
विश्व मौन, गौरव, महत्व की
प्रतिनिधियों सी भरी विभा,
इस अनन्त प्रांगण में मानो
जोड़ रही है मौन सभा।
वह अनंत नीलिमा व्योम की
जड़ता सी जो शांत रही,
दूर दूर ऊँचे से ऊँचे
निज अभाव में भ्रांत रही।
उसे दिखातीं जगती का सुख,
हँसी, और उल्लास अजान,
मानो तुंग तरंग विश्व की,
हिमगिर की वह सुढर उठान।

१ उठे स्वस्थ मन् ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कांत,
लगे देखने लुब्ध नयन से,
प्रकृति विभूति मनोहर शांत।
पाक यज्ञ करना निश्चित कर
लगे शालियों को चुनने,
उधर वह्नि ज्वाला भी अपना
लगी धूम पट थी बुनने।

२ सजग हुई फिर से सुर संस्कृति,
देव यजन की वर माया
उन पर लगी डालने अपनी
कर्ममयी शीतल छाया।

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में !
मैं भी कहने लगी ? 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।

यद्यपि मनुष्य को आशा से कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा अवश्य प्राप्त होती है लेकिन उसकी पुष्टि श्रद्धा द्वारा ही होती है और यदि हम जीवन-विकास का मूलाधार श्रद्धा को ही माने तो तनिक भी अत्युक्ति न होगी। श्री गंगाप्रसाद पांडेय के शब्दों में "श्रद्धा एक ऐसी वृत्ति है जो मनुष्य की निराश स्थिति में भी उसे सांत्वना, उत्साह, जीवन और आधार देने में समर्थ है क्योंकि श्रद्धा में आत्मसमर्पण है और दया, माया, ममता, लज्जा, मधुरिमा तथा निश्चल विश्वास। श्रद्धा की इस समर्थ भावना के साथ अभिलाषा उसी प्रकार लगी रहती है जिस प्रकार वस्तु के पीछे छाया।"[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि आशा मनुष्य को जीवन में प्रविष्ट कराकर कर्म की प्रेरणा अवश्य देती है लेकिन श्रद्धा के अभाव में जीवन क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रह सकता और वह इतनी प्रमुख वृत्ति है कि मन में उसका सर्वदा उपस्थित रहना आवश्यक माना जाता है। इसीलिए कामायनी का तीसरा सर्ग श्रद्धा नामक ही है तथा कवि ने श्रद्धा को इतना अधिक महत्व दिया है कि वह इस महाकाव्य में नायिका के रूप में भी अंकित की गई है।[2] इस प्रकार कामायनी में श्रद्धा का न केवल मनोवैज्ञानिक स्वरूप ही अंकित हुआ है अपितु उसे नारी के प्रतीक रूप में भी चित्रित किया गया है और जैसा

१ कामायनी : एक परिचय—श्री गंगाप्रसाद पांडेय (पृ० ४२)

२ "कामायनी में श्रद्धा प्रमुख पात्र है। महाकाव्य की प्रमुख घटनाए तथा अन्य कार्य-कलाप श्रद्धा के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर परिचालित होते हैं। फल-निष्पत्ति की दृष्टि ने भी यदि कामायनी के उद्देश्य पर विचार किया जाय तो सामरस्य के मार्ग से शाश्वत आनन्दोपलब्धि भी श्रद्धा के पथ-निर्देश और प्रयत्न से ही साध्य है। भारतीय नारी के सम्बन्ध में प्रसाद जी की एक विशेष प्रकार की उदात्त कल्पना थी। अपने हृदय में समस्त स्नेह, आर्जव, ममत्व, कारुण्य, विश्वास, लावण्य आदि को एकत्र करके कवि ने श्रद्धा के चित्रण में उसका प्रयोग किया है। यही कारण है कि श्रद्धा का चरित्र नारी-जीवन का आदर्श उपस्थित करने में पूर्ण सफल हुआ है। नारी के प्रति कवि के मन में जो सहज श्रद्धा और आदर का भाव है उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम इस काव्य में श्रद्धा ही है।"

—समीक्षात्मक निबंध : डॉ विजयेन्द्र स्नातक (पृ० ८५-८६)

कि डॉ० प्रेमशंकर ने लिखा है "चिन्ता और आशा इच्छा के ही प्रतिरूप हैं, मन को भलीभाँति क्रियाशील बनानेवाली वास्तविक वृत्ति श्रद्धा है। श्रद्धा और विश्वास के अभाव में जीवन क्षण भर भी नहीं टिक सकता। वह इतनी प्रमुख वृत्ति है कि मन में सदा उसका रहना आवश्यक है। ....श्रद्धा एक आस्तिक सद्वृत्ति है जो चेतन शक्ति का उदात्त रूप है। मन में उसके प्रविष्ट होते ही इंद्रियाँ भी कार्य रत हो जाती हैं। प्राणों की समस्त क्रिया-शक्ति जाग्रत हो उठती है। मन को उसके प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। केवल विचार और चिन्तन में ही उलझा रहने वाला प्राणी कार्य में प्रवृत्त होता है। विस्तृत भू-खंड का उपभोग करने की कामना से वह कर्म करता है। श्रद्धा मन की महान और उदात्त शक्ति है, जो उसे कार्य में नियोजित कर सहयोग देती है। मन शक्तिशाली होकर विजयी बनने की इच्छा करता है। श्रद्धा में चेतना, क्रिया-शक्ति केन्द्रित है। वह सामूहिक चेतना एवं कार्य का प्रतीक है। ....श्रद्धा केवल मनु के मन की ही नहीं, किन्तु समस्त मानवता के कल्याण की आधार-शिला है। प्रसाद ने इस उदात्त भाव की कल्पना सामाजिक मनोविज्ञान के आधार पर की। श्रद्धा के द्वारा मानव शक्ति-संग्रह कर मार्ग में अग्रसर होता है। चंचल मन की स्थिति में स्थायित्व आ जाता है। वह एकाग्रचित्त एवं तल्लीन होकर अपने उद्देश्य प्राप्ति में प्रयत्नशील रहता है।"[१]

वस्तुतः श्रद्धा ही मनु को सृष्टि के उद्देश्य का बोध कराती है[२] और उसे प्रकृति का संदेश देती हुई शक्ति-संचय कर जीवन में सफलता-प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है[3] तथा मानवता को विजयिनी बनाने के उद्देश्य से ही वह बिना किसी बदले की भावना के अपना सब कुछ मनु को

---

१ प्रसाद का काव्य— डॉ० प्रेमशंकर (पृ० ३४१)

२ और यह क्या तुम सुनते नहीं,
विधाता का मंगल वरदान;
शक्तिशाली हो विजयी बनो,
विश्व में गूँज रहा जय गान।

३ प्रकृति के यौवन का श्रृंगार,
करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र,
आह उत्सुक है उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक,
सहन करती न प्रकृति पल एक;

समर्पित कर देती है।[1] यद्यपि उसका यह समर्पण मानस का मन के सम्मुख समर्पण ही है लेकिन मानव श्रद्धा जैसी विशुद्ध आत्मवृत्ति को समझने में

---

नित्य नूतनता का आनंद,
किये है परिवर्तन में टेक ।।

× × ×

चेतना का सुन्दर इतिहास,
अखिल मानव भावों का सत्य ;
विश्व के हृदय पटल पर,
दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य ।
विधाता की कल्याणी सृष्टि,
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण ;
पटे सागर बिखरे ग्रह पुंज,
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण ।
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प,
कुचलती रहे खड़ी सानंद;
आज से मानवता की कीर्ति,
अनिल, भू, जल में रहे न बंद ।
जलधि के फूटें कितने उत्स,
द्वीप कच्छप डूबें उतरायँ;
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति,
अभ्युदय का कर रही उपाय ।
विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार ;
हँसाता रहे उसे सविलास,
शक्ति का क्रीड़ामय संचार ।
शक्ति के विद्युत्कण जो व्यक्त,
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय
समन्वय उसका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय ।
समर्पण लो सेवा का सार,
सजल संसृति का यह पतवार
आज से यह जीवन उत्सर्ग,
इसी पद तल में विगत विकार ।

असमर्थ ही रहता है और इसीलिये अशांति एवम् निराशा आदि से पूरित मनु का मन श्रद्धा के इस उत्सर्ग को समझ न सका तथा उसने इस समर्पण को शारीरिक समर्पण के अतिरिक्त और कुछ न समझा अतः स्वाभाविक ही उसके मन में काम और वासना की भावनाएँ उत्पन्न हुईं। इसी आशय की अभिव्यक्ति के लिए कामायनी के चौथे और पाँचवें सर्गों का नामकरण क्रमशः 'काम' और 'वासना' ही रखा गया।

वास्तव में श्रद्धा के स्वरूप को स्पष्ट करने के हेतु 'काम' सर्ग की योजना की गई है क्योंकि काम श्रद्धा का पिता है तथा वह समस्त कामनाओं एवम् इच्छाओं का घनीभूत रूप है और उसका क्षेत्र भी अत्यंत व्यापक तथा विस्तृत है। स्मरण रहे, प्रसाद जी ने काम को उदात्त रूप में ही ग्रहण किया है और उनका यही मत है कि "काम का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में ही माना जा चुका है:— 'काम स्तदग्ने समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमां यदासीत्।' यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है और प्रेम से वह शब्द अधिक व्यापक रूप भी है। जब से हमने प्रेम को Love या इश्क का पर्याय मान लिया तभी से काम शब्द की महत्ता कम हो गयी। सम्भवतः विवेकवादियों की आदर्श भावना के कारण इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के अर्थ का हो भान होने लगा। किन्तु काम में जिस व्यापक भावना का समावेश है वह इन सब भावों को आवृत्त कर लेती है। इसी वैदिक काम की, आगम-शास्त्रों में, काम कला के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी। यह उपासना सौंदर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना प्रणाली थी। पीछे बारहवीं शताब्दी के सूफी इब्न अरबी ने भी अपने सिद्धान्तों में इसी की महत्ता स्वीकार की है। वह कहता है कि मनुष्य ने जितने प्रकार के देवताओं की पूजा का समारम्भ किया है, उनमें काम ही सबसे मुख्य है। यह काम ही

---

दया माया ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ,
तुम्हारे लिये खुला है पास।
बनो संसृति के मूल रहस्य,
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल,
विश्व भर सौरभ से भर जाय,
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

ईश्वर की अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा व्यापक रूप है※............ शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्यवाला रहस्य सम्प्रदाय, वैष्णवों का माधुर्य भाव और उनके प्रेम का रहस्य तथा काम-कला की सौंदर्य-उपासना आदि का उद्गम वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की वे साधना-प्रणालियाँ हैं जिनका उन्होंने समय-समय पर अपने संघों में प्रचार किया था।"[१] इस प्रकार प्रसाद जी काम का प्रयोग कामना के व्यापक अर्थ में ही करना उचित समझते हैं तथा कामायनी के पूर्व ही उन्होंने मनोवैज्ञानिक प्रतीकों का आधार लेकर लिखी गई अपनी 'कामना' नामक नाट्य कृति में काम का उदात्त रूप ही ग्रहण किया था और इसमें कोई संदेह नहीं कि 'कामना' की नायिका 'कामना' तथा 'कामायनी' की नायिका श्रद्धा में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक स्वरूप की अद्भुत साम्यता है अतः कई समीक्षक कामायनी का आधार कामना को ही मानते हैं[२] और कई विचारक ऐसे भी हैं जो उसे कामना का काव्यात्मक रूप समझते हैं।[3] कामना स्वयं अपने विषय में कहती है "मैं क्या चाहती हूँ। जो कुछ प्राप्त है, इससे भी महान। वह चाहे कोई वस्तु हो। हृदय को कोई करो रहा है। कुछ आकांक्षा है, पर क्या है इसका किसी को विवरण नहीं देना चाहती। केवल वह पूर्ण हो, और वहाँ तक जहाँ तक कि उसकी सीमा हो बस।"[४] इस प्रकार वैदिक मनोविज्ञान से प्रभावित होने के कारण कामायनी का काम विश्व-मैत्री, विश्व-चेतना, अमरत्व, सृष्टि-प्रणयन, विश्व-उन्मीलन, व्यष्टि एवं समष्टि-मंगल-साधना, आत्म-विस्तार, माधुर्य, सौंदर्य और आनंद आदि

---

*Of the gods man has conceived and worshipped, Ibn Arabi is opinion that desire is the greatest and most vital, It is the Greatest of the Universal forms of his self-expiession, (M. Ziyauddin in "VishwaBharti.")

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध—श्री जयशंकर प्रसाद (पृ० ४७-४८)

२ "कामना में 'कामायनी' के आधार तत्त्व मिल जाते हैं, इस दृष्टि से भी उसका महत्व है।"

—डॉ० नगेन्द्र (प्रसाद का जीवन दर्शन, कला और कृतित्व, पृ० १२३)

३ "कामना नाटक मे काम का अधिक उदात्त रूप ही प्रसाद ने ग्रहण किया। मनोवैज्ञानिक प्रतीकों का आधार लेकर ही उन्होंने उसकी रचना की थी। कामायनी उसी का काव्यात्मक रूप है।"

—प्रसाद का काव्य : डॉ० प्रेमशंकर (पृ० ३४१)

४ कामना—जयशंकर 'प्रसाद'

का प्रतीत है ।[1] इसीलिए मनु अथवा मन में काम के प्रविष्ट होते ही मधुर मधु-ऋतु छा जाती है[2] और उसे स्पष्ट रूप से विदित हो जाता है कि इस संसार-रूपी नीड़ में सुंदर कर्म करने वाले पुरुष ही सफल हो पाते हैं—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंगस्थल है ;
है परंपरा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है ।

---

१ "प्रसाद जी की दृष्टि में काम अपने सत्स्वरूप में प्रकृति का प्रतीक है। जैसे प्रकृति सृष्टि का बहिर्विकास करती है तद्वत् काम द्वारा विश्वोन्मीलन होता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में काम और प्रकृति में कोई अन्तर नहीं, काम अपने स्वाभाविक रूप में निष्काम रहता है। अतः उसमें आकांक्षा का लेश भी नहीं रहता। काम अपनी विकृत अवस्था में ऐषणात्रय या विलास से शासित होता है। काम की स्वाभाविक अवस्था में आकांक्षा या वासना का अत्यन्ताभाव रहने के कारण संघर्ष या अशांति का प्रवेश वहाँ नहीं हो पाता। वासना-प्रेरित काम में विलास का शासन होने के कारण काम अपने स्थान से च्युत हो जाता है, अतः वहाँ अशांति, संघर्ष, उद्वेग आदि का राज्य छा जाता है। कामायनी की काम-दृष्टि मानव-मात्र को यह संदेश देती है कि यदि उसे अपने अस्तित्व का उचित उपभोग या उपयोग करना है तो उसे काम का स्वस्थ स्वरूप अपनाना पड़ेगा।"

—कामायनी-अनुशीलन : श्री रामलाल सिंह (पृ० २२१)

२ वह आकर्षण, वह मिलन हुआ,
प्रारम्भ माधुरी छाया में;
जिसको कहते सब सृष्टि बनी,
मतवाली अपनी माया में।
प्रत्येक नाश विश्लेषण भी,
संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही;
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था,
मादक मरंद की वृष्टि रही।
भुजलता पड़ी सरिताओं की,
शैलों के गले सनाथ हुए;

चूँकि इस 'काम' की पत्नी 'रति' कही गई है और काम ने स्वयं ही यह कहा है कि रति और उसका समन्वित प्रयत्न ही वासना को जन्म देता है[1] तथा देवताओं के विलास में भी उन दोनों का योग उत्तेजक बना[2] अतः मनु की काम विषयक भावना भी अन्य देवताओं के सदृश्य रही और वे भी कायिक काम के ही उपासक रहे तथा वासना तृप्ति को स्वर्ग और नारी को विलास-मदिरा पान करने का प्याला समझते रहे। स्मरण रहे कि वात्स्यायन ने भी काम-सूत्र में जो काम की यही परिभाषा मानी है "श्रोत्रत्वक् चक्ष जिह्वा-

---

जलनिधि का अंचल व्यजन बना,
धरणी का दो दो साथ हुए।
कोरक अंकुर-सा जन्म रहा,
हम दोनों साथी झूल चले;
उस नवल सर्ग के कानन में,
मृदु मलयानिल से फूल चले।

१ जो आकर्षण बन हँसती थी,
रति थी अनादि वासना वही;
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के,
अंतर में उसकी चाह रही।
हम दोनों का अस्तित्व रहा,
उस आरंभिक आवर्त्तन सा;
जिससे संसृति का बनता है,
आकार रूप के नर्तन सा।
उस प्रकृति लता के यौवन में,
उस पुष्पवती के माधव का;
मधु हास हुआ था वह पहला,
दो रूप मधुर जो ढाल सका।

२ सुर बालाओं की सखी रही,
उनकी हृत्तंत्री की लय थी;
रति उनके मन को सुलझाती,
वह राग भरी थी मधुमय थी।
मैं तृष्णा था विकसित करता,
वह तृप्ति दिखाती थी उनको;
आनंद 'समन्वय होता था,
हम ले चलते पथ पर उनको।

घ्राणानो आत्मं संयुक्तेन मन साऽधिष्ठि तानां स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः" उसमें भी वासना को महत्व दिया गया है और जैसा कि डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का कहना है "वासना वह सम्बंध-सरणि है जो मानव को स्थूल रूप से जगत् से सम्पृक्त करके भोगशील बनाती है"[1] अतः काम के वास्तविक स्वरूप को न समझने वाले मनु की काम-भावना विकार ग्रस्त होकर वासना बन जाती है तथा उसके कारण उनमें बाहर से आवेग और भीतर से भोगवृत्ति जाग्रत हो उठती है[2] परन्तु पुरुष और नारी का मिलन होने पर जिस प्रकार पुरुष में वासना उत्पन्न होती है उसी प्रकार नारी में लज्जा उत्पन्न होती है क्योंकि पुरुष स्वाभाविक ही अपनी प्रकृति के अनुसार स्पष्ट ही वासनोन्मुख हो उठता है परन्तु नारी तो स्वभाव से ही लज्जा की मूर्ति होती है और उसके मन में लज्जा का आगमन स्वाभाविक ही है अतः वासना के पश्चात् 'लज्जा' नामक सर्ग का क्रम रखकर कवि ने उचित ही किया है। यद्यपि नारी का पुरुष के सम्मुख आत्म-समर्पण लज्जा की ही भूमिका में होता है अतः वासनाग्रस्त मनु के सम्मुख आत्म-समर्पण करते समय लजीली

---

१ कामायनी-दर्शन—डॉ० सहल तथा डॉ० स्नातक (पृ० ६८)

२ विश्व में जो सरल सुंदर हो विभूति महान,
सभी मेरी हैं, सभी करती रहें प्रतिदान।
यही तो, मैं ज्वलित वाड़व-वह्नि नित्य अशांत,
सिंधु लहरों-सा करें शीतल मुझे सब शांत।
× × × ×
कौन हो तुम खींचते यों मुझे अपनी ओर,
और ललचाते स्वयं हटते उधर की ओर।
× × × ×
मधु बरसती विधु किरन हैं काँपती सुकुमार,
पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधु-भार।
× × × ×
धमनियों में वेदना सा रक्त का संचार,
हृदय में है काँपती धड़कन, लिये लघु भार।
× × × ×
छूटती चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भ्रान्त,
धधकती ज्वाला मधुर था वक्ष विकल अशांत।
वात चक्र समान कुछ था बाँधता आवेश,
धैर्य्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश।

श्रद्धा में मधुर व्रीड़ा का संचार होने लगा[1] और प्रेम की लज्जा में आनंद होते हुए भी उसने इस समर्पण को चिरबंधन बना लेना उचित समझा। वस्तुतः रति की प्रतिकृति लज्जा के उदय होते ही नारी में न केवल कोमलता, शालीनता और एक प्रकार की अनूठी सुंदरता सी आ जाती है[2] बल्कि साथ ही जब वह अपने भविष्य को समझने में असमर्थ होकर संकल्प-विकल्प में पड़ी हुई अपने अस्तित्व के वास्तविक उद्देश्य को समझना चाहती है तब लज्जा ही उसे संयम, श्रद्धा, आत्मसमर्पण और त्याग का संदेश देती है।

जिस प्रकार वासना नारी में लज्जा की भावना ला देती है उसी प्रकार वह पुरुष में कर्म की प्रवृत्ति भी उत्पन्न करती है और चूँकि उसके हृदय में अत्यधिक तृष्णा की वृद्धि होती है अतः उसकी तृप्ति-हेतु कर्म में उसका प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही है लेकिन यहाँ यह भी ध्यान में रहना चाहिए कि इस कर्म का स्वरूप प्रायः हिंसात्मक ही रहता है। इस प्रकार वासनाजन्य अतृप्ति के कारण ही मनु तृप्ति-हेतु कर्म रूपी जगत में प्रविष्ट होते हैं और किलाताकुलि नामक असुर पुराहित उन्हें हिंसात्मक याज्ञिक कर्मों में प्रवृत्त करते हैं परन्तु चूँकि वासना का कोई अंत ही नहीं है अतः वे पशु-बलि और सोमपान से अपनी इंद्रिय-तृप्ति करना चाहते हैं किन्तु इससे उनकी अतृप्त वासना बढ़ती ही जाती है और इसीलिए ज्यों ज्यों उनमें हिंसात्मक कार्यों की

---

१ गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बे रोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदंब-सा था भरा गद् गद् बोल।

२ मैं रति की प्रतिकृति—लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ;
मतवाली सुंदरता पग मैं
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।
लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती;
कुंचित अलकों सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती।
चंचल किशोर सुंदरता की
मैं करती रहती रखवाली;
मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली।

प्रवृत्ति बढ़ती है त्यों त्यों वे अनेक मानसिक दुर्वृत्तियों से आक्रांत भी होते हैं। यद्यपि श्रद्धा उनसे कर्म का व्यापक और उदात्त स्वरूप ग्रहण करने का अनुरोध भी करती है लेकिन संकुचित वृत्ति के कारण मनु उसे ग्रहण नहीं कर पाते और इंद्रिय-सुख को ही सब कुछ समझते हैं।[1] इतना ही नहीं अशुभ कर्मों की दुर्वृत्तियों की चरम भावना से ईर्ष्या भी उनके हृदय में जाग्रत हो उठती है और हिंसात्मक कर्मों के द्वारा स्वविस्तार की इच्छा रखने वाले मानव में ईर्ष्या का होना स्वाभाविक ही है; इसीलिए कामायनी में कर्म के पश्चात् ईर्ष्या नामक सर्ग की योजना हुई है। चूंकि गर्भवती होने के कारण श्रद्धा उनकी अतृप्त वासना को संतुष्ट करने में असमर्थ हो जाती है अतः अब उन्हें उससे विरक्ति सी हो जाती है और उन्हें अपनी भावी संतान के ही प्रति ईर्ष्या होने लगती है क्योंकि उनका वासना-ग्रस्त कलुषित मन यही समझता है कि वह उनसे श्रद्धा का प्रेम छीन रही है। वस्तुतः ईर्ष्या असहनशीलता के ही परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है तथा उसके कारण मनुष्य अहंकेन्द्रित हो जाता है और दूसरे की सुख-सुविधा के प्रति अनुदार संकीर्णता एवं विरोधी भाव व्यक्त करता है अतः संकुचित स्वार्थवश मनु श्रद्धा के पशु-प्रेम एवं भावी संतान से भी द्वेष करते हैं तथा अपने मन की समस्त ईर्ष्या व्यक्त करते हुए[2] श्रद्धा को तज कर चल देते हैं।

---

१ तुच्छ नहीं है अपना सुख भी,
श्रद्धे! वह भी कुछ है।
दो दिन के इस जीवन का,
तो वही चरम सब कुछ है॥

इंद्रिय की अभिलाषा जितनी,
सतत सफलता पावे।
जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि,
मधुर मधुर कुछ गावे॥

× × × ×

विश्व माधुरी जिसके सम्मुख
मुकुर बनी रहती हो;
वह अपना सुख स्वर्ग नहीं है!
यह तुम क्या कहती हो।

२ तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दुख पाने दो स्वतंत्र;

मनु द्वारा श्रद्धा का यह त्याग मन का हृदय से सम्बंध विच्छेद कर लेना ही है अतः अब उसका बुद्धि-पाश में बँध जाना स्वाभाविक ही है क्योंकि मानव अपनी अहम् भावना की तृप्ति-हेतु बुद्धि क्षेत्र में ही प्रविष्ट होता है इसलिए ईर्ष्या के पश्चात् इड़ा सर्ग का ही क्रम है। स्मरण रहे कि 'कामायनी' में इड़ा न केवल बुद्धि के प्रतीक रूप में अंकित हुई है अपितु श्रद्धा की ही भाँति उसे भी एक स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान किया गया है और वह भी कामायनी की एक महत्वपूर्ण पात्री है।[1] ईर्ष्या की उत्तेजना में श्रद्धा को खोकर मनु बुद्धिवादी बन जाते हैं और बुद्धि की सहायता से साम्राज्य-स्थापन की चेष्टा करते हैं परन्तु जिस प्रकार बुद्धि के बाह्याकर्षण से

मन की परवशता महा दुःख
मैं यही जपूँगा महामंत्र।
लो चला आज मैं छोड़ यही
संचित संवेदन-भार-पुंज ;
मुझको काँटे ही मिलें धन्य !
हो सफल तुम्हें ही कुसुम कुंज।

१ "प्रसाद ने इड़ा के चरित्र-चित्रण में आधुनिक युग की बौद्धिक क्षमता से युक्त एक ऐसी सबल नारी का व्यक्तित्व खड़ा किया है जो आज के वैज्ञानिक युग की समस्त शक्तिमत्ता और दुर्बलता का एक साथ पूरा-पूरा आभास देने में समर्थ हैं। अनियंत्रित बुद्धिवाद की पराजय तथा श्रद्धा-समन्वित बुद्धि-की सफलता रूपक द्वारा, इड़ा के चित्रण से व्यक्त की गई है। आधुनिक युग की अन्य विभीषिकाओं को भी इड़ा के चरित्र में समाविष्ट करके कवि ने इड़ा को एक प्राणवान्, शक्तिशाली और गतिशील चरित्र बना दिया है। कथा की दृष्टि से स्त्रीत्व का कल्याणकारी स्वरूप उसके चरित्र में कहीं कहीं प्रस्फुटित हुआ है किंतु उसका पूर्ण विकास संभव नहीं था अत: वह नारी जाति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री नहीं कही जा सकती। महाकाव्य में एक ऐसी नारी का होना नितान्त आवश्यक था जो प्रेम में प्रवंचना और स्वार्थ-साधन में तत्पर रहकर पुरुष से सम्पर्क स्थापित करे। आधुनिक युग की नारी—जिसे अल्ट्रा माडर्न कहते हैं और जो अपनी बौद्धिक पूर्णता के साथ रहकर छलना करती है—इड़ा के व्यक्तित्व में कुछ कुछ देखी जा सकती है। वस्तुत: इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि का वह रूप है जो अपने चरम विकास की परिणति होने पर संघर्ष और विप्लव की भूमिका प्रस्तुत करती है। भौतिक शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर को प्रेरणा देकर वह ऐसे स्थल पर ले जाती है जहाँ पहुँचकर वह बुद्धिवाद की विडम्बना को समझ जाता

आकृष्ट होते हुए भी मानव-मन बुद्धि पर भी अपना निरंकुश शासन देखना चाहता है और फलस्वरूप दुःखों के चक्र में फँस जाता है अतः उसी प्रकार जिस बुद्धि को साम्राज्ञी मानकर मनु आत्म-विकास में प्रवृत्त हुए थे अब उसी को वे अपनी वशवर्तिनी बनाकर उस पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहते हैं जो कि एक प्रकार से नियम का व्यभिचार ही है फलतः उन्हें नाना प्रकार की विपत्तियाँ भी झेलनी पड़ती हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि चाहे मन हृदय का साथ छोड़ देता हो लेकिन हृदय अपनी प्रवृत्ति के अनुसार मन का पूर्णरूपेण साथ नहीं छोड़ पाता और उसका मन से कुछ न कुछ सम्बन्ध बना ही रहता है अतः मनु के जीवन में इन विपत्तियों के आने पर श्रद्धा भी अदृष्ट में उनका स्वप्न देखती है और इससे स्पष्ट हो जाता है कि दुःख में श्रद्धा वृत्ति सदा जागरूक रहती है।

साथ ही काम, वासना, कर्म, ईर्ष्या तथा बुद्धि का अतिवाद ही संघर्ष में परिणत होता है अतः मनु के जीवन में भी स्वाभाविक ही यही संघर्ष उत्पन्न हुआ और वह मनु एवन् इड़ा अर्थात् मन और बुद्धि के पारस्परिक विरोध का ही परिणाम है लेकिन चूँकि प्रकृति के साथ इस संघर्ष में मानव कभी भी सफल नहीं हो पाता इसलिए मनु को भी पराजित होना पड़ा और अब वे इस बौद्धिक विभीषिका से ऊब कर नूतन ढंग से श्रद्धा के पथ पर चलने का उपक्रम करते है। वस्तुतः बुद्धि-पाश में पड़कर विभिन्न प्रकार के कर्म करने पर भी जब मानव को आनन्द के स्थान पर उकताहट, उदासीनता और अशांति ही मिलती है तब उसमें निर्वेद उत्पन्न होता है। अतएव तृष्णा एवं मोह आदि अवगुणों से पूर्ण मन जब प्रज्ञा की छाया में भी सुख नहीं पाता तब उसे घोर निराशा और ग्लानि होती है तथा ऐसी स्थिति में हृदय ही उसका पुनः साथ देता है जैसा कि संघर्ष में पराजित एवम् आहत मनु के पास श्रद्धा के पहुँचने से स्पष्ट हो जाता है। स्मरण रहे कि कवि ने श्रद्धा को चेतना ही माना है क्योंकि पश्चाताप और ग्लानि से पूर्ण मनु के मन की समस्त जड़ता उसने ही हरण की है तथा वही उसे लोकोत्तर रूप के दर्शन कराती हुई त्रिबिंदुओं के रहस्य समझाकर आनंदोपलब्धि कराती है। वस्तुतः निर्वेद के अनन्तर ही मानव-मन आत्मा का मूल रहस्य जानकर आत्म-दर्शन कर पाता है जिसके कि फलस्वरूप उसे जीवन का रहस्य जिसमें कि कर्म,

---

है। इड़ा का चित्रण काव्य-कला की दृष्टि से सफल और पूर्ण है। उसमें वैज्ञानिक युग की दर्पोन्मत्त नारी का चरित्र बहुत ही सफलता से प्रतिफलित हो उठा है।"

—समीक्षात्मक निबंध : डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (पृ० ९८-९९)

ज्ञान तथा भावना की समरसता निहित है ज्ञात होता है और अन्त में इस रहस्य से अवगत होने पर ही उसे सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता एवम् अखंड आनन्द की अनुभूति होती है जो कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। इसी अभिप्राय से कामायनीकार ने अपने महाकाव्य के अंतिम तीन सर्ग क्रमशः दर्शन, रहस्य और आनन्द नामक रखे हैं।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रसाद जी ने कामायनी के प्रत्येक सर्ग में मनोवृत्तियों का चित्रण करते समय केवल मूल भावना का ही नहीं अपितु उससे सम्बन्धित अन्य भावनाओं का भी वर्णन किया है। इस प्रकार चिन्ता सर्ग में चिन्ता के साथ ही विस्मृति, वैवर्ण्य, जड़ता आदि वर्णित हैं और आशा सर्ग में विश्वास, कुतूहल, अनुराग, सहानुभूति, संवेदनशीलता, आकांक्षा आदि को स्थान मिला है तथा श्रद्धा सर्ग में दया, माया, ममता, माधुर्य, उत्साह, मानवता, आत्मसमर्पण आदि का समावेश है। काम तथा कर्म के व्यापक और संकुचित दोनों रूपों का वर्णन है तथा ईर्ष्या में हीनता, द्वेष एवम् प्रपीड़न का भी उल्लेख है। इसी तरह अन्य सर्गों में भी यही क्रम चलता है अतः हम कह सकते हैं कि कामायनी के सर्गों का नामकरण स्थान, घटना या पात्र के आधार पर न कर जो मानसिक वृत्तियों के आधार पर किया गया है उसमें कवि को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है और श्री नंददुलारे वाजपेयी ने उचित ही लिखा है "अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव प्रकृति का विश्लेषण कर प्रसाद जी ने इस सुन्दर काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचान कर संग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नहीं यदि हम और गहरे पैठें तो मानव प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी। इस दृष्टि से तो यह मनुस्मृति के सहस्त्रों वर्ष बाद मानव-धर्म-निरूपण का महत्वपूर्ण काव्यप्रयास है।"[1] साथ ही कामायनी में केवल व्यक्तिगत मनस्तत्व के विकास की ही विवेचना नहीं की गई अपितु सामाजिक मनोविज्ञान का भी समयानुकूल विश्लेषण किया गया है। स्मरण रहे सारस्वत प्रदेश की प्रजा मनु के विरुद्ध इसीलिए विद्रोह और संघर्ष करती है क्योंकि नियामक होते हुए भी मनु स्वयं नियमों का पालन नहीं करते। चूँकि वह प्रदेश केवल भौतिक दृष्टि से ही सम्पन्न जान पड़ता है अतएव 'संघर्ष' सर्ग का भौतिक विकास वर्तमान सभ्यता का ही चित्रण है और इससे

१ जयशंकर प्रसाद—श्री नंददुलारे वाजपेयी (पृ० ९५)

यह भ स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक उन्नति ही जीवन को आनन्द नहीं प्रदान कर सकती। इतना ही नहीं मानव सभ्यता के क्रमिक विकास की रेखाएँ भी कामायनी में अंकित हैं और मनु के आरम्भिक व्यक्तिवाद को अंत में सार्वभौमिक भावना के रूप में परिणत कर कवि ने यह सिद्ध करना चाहा है कि सभ्यता का क्रमिक विकास ही होता है। प्रसाद जी की दृष्टि में बुद्धि, भावना और क्रिया का समान विकास ही उचित है अन्यथा बुद्धि की एकांगी उन्नति के कारण न केवल स्वयं को हानि पहुँचती है अपितु समाज भी विद्रोह कर देता है और यही कारण है कि मनु के बुद्धिवाद का पतन ही हुआ। वस्तुतः बुद्धि, भावना और क्रिया का समन्वय मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी आवश्यक है क्योंकि भावना के नेत्र नहीं होते, प्रज्ञा के चरण नहीं रहते तथा एकमात्र क्रिया अहं अथवा दंभ की ही उत्पादक है। इसीलिए यदि ये तीनों हृदय तत्त्व द्वारा परस्पर संयुक्त रहें तो मानव जीवन सुचारू रूप से संचालित हो अपने साध्य की प्राप्ति सहज ही में कर सकता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि कामायनी में कवित्व रहित मनोविज्ञान की बाह्य तथा आन्तरिक क्रियायें इतने सुन्दर कवित्वपूर्ण ढंग से वर्णित हैं कि उनमें शुष्कता और दुरूहता कहीं भी नहीं परिलक्षित होती अतः श्री नंददुलारे वाजपेयी के कथनानुसार "मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ मिलते हैं। मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिंदी में शायद शताब्दियों बाद हुआ है।"[1] इसी प्रकार श्री शिवनन्दन प्रसाद ने भी उचित ही लिखा है "मानवता के मानसिक विकास का यह चित्रांकन, मनस्तत्त्व की यह अपूर्व समीक्षा संसार के साहित्य में कदाचित् ही कहीं मिले। मानवता का महाकाव्य प्रस्तुत कर इसके द्वारा प्रसाद जी ने प्रमुख विश्व-साहित्य स्रष्टाओं के समकक्ष स्थान पाया है! जीवन के इसी मौलिक विश्लेषण के कारण कामायनी अमर रहेगी।"[2]

---

१ आधुनिक साहित्य—श्री नंददुलारे वाजपेयी (पृ० ११६)

२ प्रसाद की कला—सं० श्री गुलाबराय (पृ० ९१)

# सहायक कृतियाँ

[इसमें लेखक की स्वरचित रचनाओं, कई अँग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, बंगला काव्य-कृतियों व गद्य-रचनाओं तथा हस्तलिखित सामग्री के अतिरिक्त मूलतः समीक्षा से सम्बंधित कृतियों का ही सामान्यतः अकरादि क्रम से नामोल्लेख है। ]

## हिन्दी


१ अध्ययन—डॉ० भगीरथ मिश्र
२ अवध के प्रमुख कवि - डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र
३ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयालु गुप्त
४ आधुनिक काव्य-धारा—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल
५ आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत —डॉ० केसरी नारायण शुक्ल
६ आधुनिक कवि, भाग ४—ठाकुर गोपालशरण सिंह
७ आधुनिक कवियों की काव्य-साधना—श्री राजेन्द्र सिंह गौड़
८ आधुनिक साहित्य—श्री नंददुलारे वाजपेयी
९ आधुनिक हिन्दी-काव्य में नारी भावना— डॉ० शैल कुमारी
१० आधुनिक हिन्दी साहित्य—श्री कृष्णशंकर शुक्ल
११ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डॉ० श्रीकृष्ण लाल
१२ कबीर—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१३ कबीर ग्रंथावली—डॉ० श्यामसुन्दर दास
१४ कबीर का योग (निबंध)—श्री क्षितिमोहन सेन
१५ कबीर की विचारधारा—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत
१६ कबीर का रहस्यवाद—डॉ० रामकुमार वर्मा
१७ कबीर-साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी
१८ कबीर साहित्य का अध्ययन—श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव
१९ कल्याण (योगांक) गीता प्रेस, गोरखपुर
२० कल्याण (मानसांक)—गीता प्रेस, गोरखपुर
२१ कल्याण (रामायणांक)—गीता प्रेस, गोरखपुर
२२ कल्याण (सितबर १९३८)—गीता प्रेस, गोरखपुर

२३ काव्य की उपेक्षिता—श्री रामदीन पांडेय
२४ काव्य की भूमिका—श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'
२५ काव्यालोक (द्वितीय उद्योत)—श्री रामदहीन मिश्र
२६ काव्य-दर्शन—श्रीमती शचीरानी गुर्टू
२७ काव्य और कला तथा अन्य निबंध—श्री जयशंकर 'प्रसाद'
२८ कामायनी : अनुशीलन—डॉ० रामलाल सिंह
२९ कामायनी : एक परिचय—श्री गंगाप्रसाद पांडेय
३० कामायनी-दर्शन—डॉ० कन्हैयालाल सहल और डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
३१ कालिदास और भवभूति - मूल लेखक—श्री द्विजेन्द्रलाल राय ; अनु०—श्री रूपनारायण पांडेय
३२ कीर्तिलता—संपादक डॉ० बाबूराम सक्सेना
३३ खड़ी बोली के गौरव ग्रंथ—श्री विश्वम्भर 'मानव'
३४ गीति-काव्य—श्री रामखेलावन पांडेय
३५ घनानंद कवित्त—संपादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३६ जीवन साहित्य—आचार्य काका कालेलकर
३७ जायसी ग्रंथावली—संपादक आचार्य रामचंद्र शुक्ल
३८ जायसी ग्रंथावली—संपादक डॉ० माताप्रसाद गुप्त
३९ जयशंकर प्रसाद—श्री नंददुलारे वाजपेयी
४० तुलसी-ग्रंथावली—काशी नागरी प्रचारिणी सभा
४१ तुलसीदास—श्री चंद्रबली पांडेय
४२ तुलसीदास : एक अध्ययन—डॉ० रामरतन भटनागर
४३ तुलसीदास और उनकी कविता—श्री रामनरेश त्रिपाठी
४४ तुलसीदास और उनका युग—डॉ० राजपति दीक्षित
४५ तुलसी-दर्शन—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र
४६ तुलसी-रसायन—डॉ० भगीरथ मिश्र
४७ तुलसीदास और उनका साहित्य—डॉ० विमलकुमार जैन
४८ दृष्टिकोण—डॉ० विनयमोहन शर्मा
४९ पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण—श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'
५० प्रसाद का काव्य—डॉ० प्रेमशंकर
५१ प्रकृति और हिन्दी काव्य—डॉ० रघुवंश
५२ प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व—संपादक श्री महावीर अधिकारी
५३ प्रसाद की कला—संपादक डॉ० गुलाबराय
५४ परिषद् निबंधावली

५५ बिहारी—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
५६ बिहारी-दर्शन—श्री लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी'
५७ बिहारी की वाग्विभूति—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
५८ बिहारी-रत्नाकर—श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'
५९ बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य—डॉ० प्रतिपालसिंह
६० भ्रमरगीत सार—संपादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
६१ भारतीय साधना और सूरसाहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा
६२ महाकवि विद्यापति—श्री शिवनंदन ठाकुर
६३ मलिक मुहम्मद जायसी—डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ
६४ मध्यकालीन हिन्दी कवियित्रियाँ—डॉ० सावित्री सिनहा
६५ मध्यकालीन धर्म-साधना—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
६६ महाकवि हरिऔध—श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
६७ महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
६८ मीराबाई—डॉ० श्रीकृष्णलाल
६९ मीराबाई की पदावली—संपादक श्री परशुराम चतुर्वेदी
७० मीरा के कुछ अप्रकाशित पद (निबंध)—डॉ० जगदीश गुप्त
७१ मीरा-स्मृति-ग्रंथ—बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता
७२ मीरा मंदाकिनी—श्री नरोत्तमदास स्वामी
७३ मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई—श्री वियोगी हरि
७४ मीरा वृहत् पद संग्रह—सुश्री पद्मावती 'शबनम'
७५ मीरा की रसानुभूति (निबंध)—डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी
७६ मीरा की भक्ति-साधना (निबंध)—डॉ० उदयनारायण तिवारी
७७ मानस-माधुरी—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र
७८ माधुरी (मासिक, लखनऊ)—वर्ष ५, खंड १; संख्या ४
७९ मैथिल कोकिल विद्यापति—नागरी प्रचारिणी सभा, आरा, बिहार
८० मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य—डॉ० कमलाकांत पाठक
८१ मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता—डॉ० उमाकांत
८२ रस, साहित्य और समस्यायें—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
८३ रेखालेखा—प्रो० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
८४ रीतिकाव्य की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र
८५ रीति कालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन
—डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी
८६ रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना—डॉ० बच्चन सिंह
८७ रसकलस—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

८८ रसमीमांसा—आचार्य रामचंद्र शुक्ल
८९ वाङ्मय-विमर्श—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
९० व्यक्ति और वाङ्मय—डॉ० प्रभाकर माचवे
९१ विचार और विवेचन—डॉ० नगेन्द्र
९२ विचार और निष्कर्ष—श्री प्रो० वासुदेव
९३ विद्यापति—डॉ० जनार्दन मिश्र
९४ विद्यापति—सं० श्री नगेन्द्रनाथ मित्र और डॉ० विमानबिहारी मजूमदार
९५ विद्यापति—डॉ० शिवप्रसाद सिंह
९६ विद्यापति की पदावली—सं० श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
९७ विद्यापति ठाकुर—डॉ० उमेश मिश्र
९८ वीर-काव्य—डॉ० उदयनारायण तिवारी
९९ शिवसिंह सरोज—श्री शिवसिंह सेंगर
१०० शिल्प और दर्शन—श्री सुमित्रानंदन पंत
१०१ संचारिणी—श्री शांतिप्रिय द्विवेदी
१०२ संत-साहित्य—श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
१०३ संतसाहित्य और मीरा (निबंध)—श्री परशुराम चतुर्वेदी
१०४ संत कबीर—डॉ० रामकुमार वर्मा
१०५ सरस्वती (मासिक पत्र); भाद्रपद १९८१ वि०
१०६ समीक्षात्मक निबंध—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
१०७ साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र
१०८ समीक्षायण—डॉ० कन्हैयालाल सहल
१०९ सतसई-संजीवन-भाष्य—पं० पद्मसिंह शर्मा
११० साहित्य-सरोवर—डॉ० गोपीनाथ तिवारी
१११ साहित्य सम्राट तुलसीदास—श्री गंगाधर मिश्र
११२ साहित्य, साधना और समाज—डॉ० भगीरथ मिश्र
११३ सूरदास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल
११४ सूर पंचरत्न—लाला भगवानदीन और श्री मोहनवल्लभ पंत
११५ सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा
११६ सूरसौरभ—डॉ० मुंशीराम शर्मा
११७ सूरदास—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा
११८ सूर-मीमांसा—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा
११९ सूर-साहित्य की भूमिका—डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी
१२० सूरनिर्णय—श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल

१२१ साहित्यानुशीलन—श्री शिवदानसिंह चौहान
१२२ हिन्दी गीति-काव्य—श्री ओमप्रकाश अग्रवाल
१२३ हिन्दी-साहित्य-रत्नाकर—डॉ० विमलकुमार जैन
१२४ हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
१२५ हिन्दी-काव्य-दर्शन—डॉ० सुरेशचंद्र गुप्त
१२६ हिन्दी साहित्य—डॉ० श्यामसुन्दर दास
१२७ हिन्दुत्व—श्री रामदास गौड़
१२८ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा
१२९ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१३० हिन्दी साहित्य और इतिहास—श्री शुकदेव बिहारी मिश्र
१३१ हिन्दी-काव्य विमर्श—डॉ० गुलाबराय
१३२ हिन्दी कवि चर्चा—पं० चन्द्रबली पांडे
१३३ हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१३४ हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह—श्री परशुराम चतुर्वेदी
१३५ हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डॉ० सूर्यकांत शास्त्री
१३६ हिन्दुई साहित्य का इतिहास—गासी द तासी, हिन्दी अनु० डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
१३७ हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
१३८ हिन्दी कलाकार—डॉ० इन्द्रनाथ मदान
१३९ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१४० हिन्दी नवरत्न—मिश्रबन्धु
१४१ हिन्दी भाषा और साहित्य—डा० श्यामसुन्दर दास
१४२ हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास—डॉ० शम्भूनाथ सिंह
१४३ हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण—डॉ० किरणकुमारी गुप्ता
१४४ हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव—डॉ० सरनाम सिंह शर्मा
१४५ हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—डॉ० गुलाबराय
१४६ हिन्दी-रीति-साहित्य—डॉ० भगीरथ मिश्र
१४७ हिन्दी-साहित्य-अनुशीलन—प्रो० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
१४८ हिन्दी-काव्य की अंतश्चेतना—प्रो० राजाराम रस्तोगी
१४९ हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास—श्री रामबहोरी शुक्ल और डॉ० भगीरथ मिश्र
१५० हिन्दी साहित्य की परंपरा—प्रो० हंसराज अग्रवाल

१५१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—श्री नंददुलारे वाजपेयी
१५२ हिन्दी काव्य पर आँग्ल प्रभाव—डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा
१५३ हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—श्री शिवदान सिंह चौहान
१५४ हिन्दी कविता में युगान्तर—डॉ० सुधीन्द्र
१५५ हिन्दी के गौरव ग्रंथ—राजकमल प्रकाशन

## बंगला

१५६ विद्यापति काव्यलोक—श्री नरेन्द्र दास विद्यालंकार
१५७ चैतन्य चरितामृत—श्री कृष्णदास कविराज गोस्वामी
१५८ बंगला साहित्य—श्री कैलाशचन्द्र घोष
१५९ वैष्णव साहित्य—श्री सुशील कुमार चक्रवर्ती
१६० बंग दर्शन—भाग ४, ज्येष्ठ १८७५ ई०
१६१ कीर्तिलता—[बंगला संस्करण]
१६२ कविता कौमुदी [बंगला]—सातवाँ भाग
१६३ बंग भाषा और साहित्य—डॉ० दिनेश चन्द्र सेन

## संस्कृत

१६४ ऋग्वेद
१६५ यजुर्वेद
१६६ सामवेद
१६७ अथर्ववेद
१६८ ईशावास्योपनिषद्
१६९ तैत्तिरीयोपनिषद्
१७० वृहदारण्यक
१७१ श्वेताश्वतरोपनिषद्
१७२ शतपथ ब्राह्मण
१७३ अग्नि पुराण
१७४ पद्म पुराण
१७५ श्रीमद्भागवत
१७६ ब्रह्म पुराण
१७७ विष्णु पुराण
१७८ नारद भक्ति सूत्र
१७९ श्रीमद्भगवद्गीता
१८० छान्दोग्योपनिषद्
१८१ ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन

१८२ काव्यानुशासन—हेमचन्द्र
१८३ साहित्य दर्पण—विश्वनाथ
१८४ चन्द्रालोक—जयदेव
१८५ काव्यादर्श—दंडी
१८६ अभिनव भारती—अभिनव गुप्त
१८७ रस गंगाधर—पंडितराज जगन्नाथ
१८८ काव्य प्रकाश—मम्मट
१८९ नाट्य शास्त्र—भरत मुनि
१९० अष्टाध्यायी—पाणिनि
१९१ काव्यालंकार—भामह
१९२ पातंजल योगदर्शन
१९३ काव्यालंकार सूत्र—वामन
१९४ काव्यालंकार—रुद्रट
१९५ वक्रोक्ति जीवित—कुन्तक
१९६ काव्य-मीमांसा—राजशेखर
१९७ एकावली—विद्याधर
१९८ अलंकार सर्वस्व—रुय्यक

## अँग्रेजी

१९९ History of Benqli Language and Literature
—डॉ० डी० सी० सेन
२०० Journal of Royal Asiatic Society
२०१ History of Indian Philosophy
—डॉ० एस० एन० दास गुप्त
२०२ Outline of the Religious Literature in India
—जे० एन० फरकुहर
२०३ Modern Vernacular Literature of Hindustan
—जी० ए० ग्रियर्सन
२०४ Bhakti cult in Ancient India —बी० के० गोस्वामी
२०५ Hindi Literature —एफ० ई० के०
२०६ Religions of India —इ० डब्ल्यू हापकिन्स
२०७ Religious Thought and Life in India, Part I
—मोनियर विलियम्स
२०८ The Indian Interpreter
२०९ The Indian Antiquary

२१० The Bhakti Doctrine in Shandilya Sutra —डॉ० बी० एम० बरुआ
२११ A History of Hindi Literature —के० बी० जिन्दाल
२१२ The Songs of Vidyapati —डॉ० सुभद्र झा
२१३ Introduction to a christomathy of the Maithili Language —Grierson
२१४ Love in Hindi Literature —डॉ० के० सरकार
२१५ Kabir and his followers —एफ० ई० के०
२१६ Hundred Poems of Kabir
२१७ Principles of Literary Criticism —एबरक्राम्बी
२१८ Beauty —H. H. Purkhurast
२१९ Autumnal Tints —Thoreau
२२० Phoedrus —प्लेटो
२२१ Ennead —Plotinus
२२२ Jowetts Translation
२२३ Bosanquet's History of Aesthetic
२२४ The Philosophy of Hegel —W. T. State
२२५ An Introduction to the study of Literature हडसन
२२६ Gujarat and its Literature —श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी
२२६ Classical Poets of Gujarat —श्री गोवर्द्धनराम त्रिपाठी
२२७ Milestones of Gujarati Literature —श्री के० एम० झावेरी
२२८ Selections from Classical Gujarati Literature —श्री तारापोरवाला
२२९ Vaishnavas of Gujarat —थूथी
२३० Akbar, The Great Moghul —विन्सेंट स्मिथ
२३१ Encyclopaedia of Religion and Ethics
२३२ The Ramayan of Tulsidas —डॉ जे० एन० मैक्फी
२३३ Imperial Gazetter of India Vol. II
२३४ An Answer to the question what is Poetry —James Henry Leigh Hunt
२३५ Vaishnavism, Shavism and Minor Religious Systems —भंडारकर
२३६ Poetics —अरिस्टाटिल
२३७ Vishwa Bharti